ISSN : 2321-6581
जुलाई - दिसम्बर - 2020
वर्ष : VIII, अङ्क - II
कुल अङ्क - XV
Impact Factor : 4.214

शोध नवनीत
SHODH NAVNEET

षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया
शोध-पत्रिका

The Half Yearly International
Peer-Reviewed Research
Journal of Humanities and
Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी,
नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन

"Our whole effort is to publish societal,
innovative and oriental knowledge"

स्तुति प्राच्यविद्या समिति, गोण्डा (उ.प्र.)
STUTI PRACHYAVIDYA SAMITI, GONDA (U.P.)
अन्तर्जाल (Website) : www.shodhnavneet.com
अणुसंकेत (E-mail) : shodhnavneet@gmail.com
चलभाष (contact us) : +91-7800193920

जुलाई - दिसम्बर - 2020 ISSN : 2321-6581
वर्ष : VIII, अङ्क - II, कुल अङ्क - XV
Impact Factor : 4.214

शोध नवनीत

SHODH NAVNEET

(षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका)

The Half Yearly International Peer-Reviewed (Refereed)
Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी, नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन
Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge.

प्रधान सम्पादक :
डॉ. अवधेश प्रताप सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सम्पादक :
डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस-बस्ती (उ.प्र.)

सह-सम्पादक :
डॉ. आशुतोष पारीक
असिस्टेंट प्रोफेसर, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय अजमेर, राजस्थान
डॉ. सुनील कुमार शर्मा
सहायक आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली

स्तुति प्राच्यविद्या समिति
51- जबर नगर, पो. परास,
जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - **271403**
अन्तर्जाल (Website) : www.shodhnavneet.com
अणुसंकेत (E-mail) : shodhnavneet@gmail.com
चलभाष (contact us) : +91-7800193920

- **प्रबन्ध सम्पादक**
  डॉ. अनुराधा शुक्ला

- **विधिक सलाहकार**
  श्री सतीश कुमार मिश्र
  एडवोकेट, चैम्बर नम्बर 18 ए, हाईकोर्ट, प्रयागराज - 211 002

- **शोध नवनीत** (प्रथम अङ्क 2013), **प्रकाशन तिथि** (अङ्क XV)-दिसम्बर 2020
- **Shodh Navneet (International Peer-Reviewed (Refereed) Research Journal)**
- **ISSN : 2321-6581**
- **Impact Factor : 4.214**
- **वर्ष : VIII, अङ्क : II, कुल अङ्क : XV, - जुलाई - दिसम्बर 2020**

© प्रकाशक द्वारा सभी अधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक
  स्तुति प्राच्यविद्या समिति (Reg. No. - 1137/2013-14)
  म० सं० 51, जबर नगर, पो० परास
  जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - 271403
- सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920
- अणु-सङ्केत : **shodhnavneet@gmail.com**
- बेबसाइट : **www.shodhnavneet.com**
- सहयोग राशि (Subscription) :
  व्यक्तिगत (Individual) : प्रति अङ्क **₹ 800,** वार्षिक **₹ 1500**
  Soft Copy : Free by E-mail or Free Download from- www.shodhnavneet.com
- **D.D. 'Stuti Prachyavidya Samiti' Payable at 'Gonda'** के पक्ष में होना चाहिए।

- मुद्रित :
  प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स
  30/21, यूनिवर्सिटी रोड, प्रयागराज - 211 002

नोट : शोधपत्र/शोधलेख के प्रति सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसके आलेखकों का होगा तथा लेखकों के मत से सम्पादक, सम्पादक मण्डल आदि का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति आदि द्वारा चयनित शोधपत्रों को निःशुल्क प्रकाशित किया जाएगा। शोध नवनीत से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद होगा।

मुख्य संरक्षक (Chief Patrons)

- **प्रो. परमेश्वर नारायाण शास्त्री**
  कुलपति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली
- **प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय**
  कुलपति, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- **प्रो. के. रविशङ्कर मेनोन**
  पूर्व-कुलसचिव एवं संकायप्रमुख शिक्षाविभाग, राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मा. वि.), तिरुपति (आ.प्र.)
- **प्रो. चाँद किरण शलूजा**
  निदेशक, संस्कृत संवर्धन प्रतिष्ठानम्, नई दिल्ली
- **प्रो. हरेकृष्ण शतपथी**
  कुलपति, किश विश्वविद्यालय भुवनेश्वर, ओडीसा
- **प्रो. राम किशोर शास्त्री**
  पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. सत्यप्रकाश दुबे**
  आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर, राजस्थान

सम्पादक मण्डल (Editorial Board)

- **प्रो. राम सेवक दुबे**
  संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **प्रो. उमेश प्रसाद सिंह**
  संस्कृत विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- **प्रो. रंजन त्रिपाठी**
  संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. विजय कुमार शर्मा**
  सामवेद प्राध्यापक, श्री पट्टाभिराम शास्त्री वेद मीमांसा अनुसन्धान केन्द्र, वाराणसी
- **प्रो. आशीष सक्सेना**
  समाजशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **प्रो. सत्यपाल तिवारी**
  हिन्दी विभाग, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **डॉ. शैलेन्द्र कुमार मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **डॉ. अमित कुमार मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ एडवरटाइजिंग मैनेजमेंट, सच्चिदानंद सिन्हा महाविद्यालय (मगध विश्वविद्यालय), औरंगाबाद, बिहार
- **श्री आदित्य प्रताप सिंह**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, शारीरिक शिक्षा विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)

- **डॉ. शैलेन्द्र कुमार शाहू**
  सहायक आचार्य, साहित्य विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- **डॉ. राजीव रंजन**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. विवेक शर्मा**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश
- **डॉ. देवराज**
  सहायक आचार्य, संस्कृत इक्डोल, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला, हिमाचल प्रदेश
- **डॉ. हरिपद महापात्र**
  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, साँकराइल अनिल विश्वास स्मृति महाविद्यालय झाडग्राम, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. प्रताप चन्द्र राय**
  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, सिधो-कानहो वीरसा विश्वविद्यालय पुरुलिया, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. विशाल श्रीवास्तव**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)
- **डॉ. रजनीश शर्मा**
  प्राचार्य, कंचन देवी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय एवं कंचन देवी कॉलेज ऑफ कम्प्यूटर साइंस भीलवाड़ा, राजस्थान
- **डॉ. परमेश कुमार शर्मा**
  सहायक आचार्य-शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली
- **डॉ. रवि प्रभात**
  सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा
- **डॉ. पूजा मिश्रा**
  असिस्टेंट प्रोफेसर-संस्कृत, राजा मोहन गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, अयोध्या

समीक्षक समिति / निर्णायक मण्डल
(Review Committee/Referees Board)

- **प्रो. पी. के. साहू**
  शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. सुदेश कुमार शर्मा**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), क. जे. सोमैया संस्कृत विद्यापीठम्, मुम्बई परिसर, मुम्बई
- **प्रो. ई. एम. राजन**
  विभागाध्यक्ष-साहित्य विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), के. जे. सोमैया संस्कृत विद्यापीठम्, मुम्बई
- **प्रो. रमाकान्त पाण्डेय**
  निदेशक, मुक्तस्वाध्यायपीठ, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नई दिल्ली
- **प्रो. सुशील कुमार शर्मा**
  अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. उमाकान्त यादव**
  अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- **प्रो. धनञ्जय यादव**
  शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. आमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायन**
  वेद विभाग, वाल्मीकि विद्यापीठ, काठमाण्डू, नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ. पी. के. मिश्र**
  एसो. प्रोफेसर, कोर्डीनेटर ऑफ सेन्टर (COG), सेन्टर फॉर अर्थशास्त्र अध्ययन स्कूल ऑफ एवं सामाजिक विज्ञान, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, पंजाब
- **डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी**
  एसो. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, देश बन्धु डिग्री कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. प्रदीप कुमार दीक्षित**
  एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभागाध्यक्ष, अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर, कानपुर देहात (उ.प्र.)
- **डॉ. अमूल्य कुमार सिंह**
  एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, का. सु. साकेत महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)
- **डॉ. राघवेन्द्र मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, जन संचार विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम
- **डॉ. राजीव सिन्हा**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, श्रीकृष्ण महाविद्यालय, नदीया (कल्याणी विश्वविद्यालय), पश्चिम बंगाल
- **डॉ. सुदेव**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पाँच मुड़ा विश्वविद्यालय, बाँकुड़ा, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. अनुपम पाण्डेय**
  एसोसिएट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **डॉ. उमाकान्त प्रसाद**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. सुजीत कुमार**
  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, कर्मक्षेत्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इटावा (उ.प्र.)

परामर्शदात्री समिति (Advisory Committee)

- **डॉ. जी. गङ्गाधरन नायर**
  पूर्व डीन एवं प्रोफेसर, संस्कृत व्याकरण विभाग, श्री शङ्कराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी, केरल
- **प्रो. ए. पी. सच्चिदानन्द**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), राजीव गाँधी परिसर शृङ्गेरी , कर्नाटक
- **सी. एच. एल. एन. शर्मा**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), गुरुवायूर परिसर त्रिश्शूर, केरल
- **प्रो. एम. चन्द्रशेखर**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), भोपाल परिसर, भोपाल (म. प्र.)
- **प्रो. लक्ष्मीनिवास पाण्डेय**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), वेदव्यास परिसर बलहार, हिमाचल प्रदेश

- **प्रो. सुकान्त सेनापति**
  परीक्षा नियन्त्रक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. भगीरथ नन्दा**
  सङ्काय प्रमुख साहित्य विभाग, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली
- **प्रो. के. भारत भूषण**
  सङ्काय प्रमुख शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली
- **प्रो. मनोज मिश्र**
  विभागाध्यक्ष, वेद विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. सुरेश चन्द्र दुबे**
  अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **श्रीमती प्रियंवदा काफ्ले**
  एसो. प्रोफेसर, इतिहास पुराण विभाग (वाल्मीकि विद्यापीठ), नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ. विजय शङ्कर द्विवेदी**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. शिव कुमार मिश्र**
  प्रवक्ता संस्कृत, देव विद्यालय इण्टर कॉलेज तरौली, अयोध्या (उ.प्र.)

नोट : शोधपत्र/शोधलेख का प्रकृति के अनुसार सम्पादक मण्डल एवं समीक्षक समिति में अन्य विषय विशेषज्ञों का सहयोग लिया जा सकता है। शोधपत्र दो या दो से अधिक विशेषज्ञों की समीक्षा के अनन्तर ही प्रकाशित किया जाएगा।

सम्पादकीय (Editorial)

''आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः'' (ऋग्वेद १.८९.१)

आर्ष सिद्धान्तों के माध्यम से हम सभी अपने जीवन में श्रेष्ठ मार्ग की ओर प्रवृत्त हों, ऐसे उपदेश से प्रत्येक मानव को अभिसिञ्चित करती है यह ऋचा।

भाषा और शास्त्रों का गहन दर्शन संस्कृत भाषा के माध्यम से हम सभी तक अनवरत् रूप से पहुँचा है और निश्चय ही संस्कृत के वैभव को वर्तमान समाज से जोड़ने और भावी समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करने हेतु विविध शोधाभिवृत्तियों व अनुसंधान की परम आवश्यकता है। जब संस्कृत के विशालतम ग्रंथ महाभारत के माध्यम से महर्षि वेदव्यास उद्घोषणा करते हैं – ''यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'' तो उनके मूल में मात्र महाभारत ही नहीं अपितु उसे अनुप्राणित करने वाला संस्कृतमय सम्पूर्ण ज्ञान–वैभव रहा होगा। इन्हीं संस्कृतशास्त्रों की उपासना एवं अनुसंधान को अपने अभिनव कौशल से सार्थकता की ओर बढ़ाते आप सभी विद्वज्जन का परिश्रमसाध्य आनन्ददायी प्रतीक है यह 'शोध–नवनीत' नामक अन्ताराष्ट्रिय शोधपत्रिका।

'शोध नवनीत' अन्ताराष्ट्रिया षाण्मासिकी शोधपत्रिका का यह १५ वाँ अंक (जुलाई–दिसम्बर २०२०) है जिसमें संस्कृत एवं मानविकी के चयनित शोध पत्रों का संकलन किया गया है। यह अंक संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में लिखित लेखों के माध्यम से वैदिक संस्कृति, विज्ञान और लौकिक संस्कृत साहित्य के निदर्शन एवं आधुनिक सामाजिक पक्षों का प्राच्य भारतीय ज्ञान से सम्बद्ध संस्कृत गवेषकों के मौलिक आलेखों को आप सभी के हृदय तक पहुँचाने वाला होगा, यही हम सभी की कामना है। 'शोध नवनीत' के अबाध गति से हो रहे प्रकाशन के लिए स्तुति प्राच्यविद्या समिति की ओर से सभी गवेषकों का साधुवाद। समिति यह आशा करती है कि नूतन शोधालेख पाठकों, समिति के लक्ष्यों और समाज में संस्कृत भाषा के क्षेत्र में हो रहे अनुसन्धानों को पल्लवित एवं पुष्पित करेंगे। इसी क्रम में पत्रिका के समस्त सदस्यों एवं पदाधिकारियों का हृदय के अंतस्तल से हार्दिक आभार एवं धन्यवाद; क्योंकि उन्हीं के मार्गदर्शन एवं सुझावों के माध्यम से इस पत्रिका का प्रकाशन सम्भव हो रहा है।

हम आशा करते हैं कि आपके स्नेह एवं मार्गदर्शन से यह 'शोध नवनीत' शोध पत्रिका अनुसंधानात्मक उत्कृष्ट प्रयासों की अप्रतिम धारा को अनवरत् रूप से प्रवाहित करती रहेगी।

।। पाठयेम संस्कृतं, जगति सर्वमानवान्, प्रापयेम भारतं, सपदि परमवैभवम्।।

सम्पादक

विषयानुक्रमणिका
(CONTENTS)

- **वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय चिन्तन पद्धति की प्रासंगिकता** **01**
  डॉ. अवधेश प्रताप सिंह
- **कठोपनिषद् में वर्णित कर्ममीमांसा** **08**
  डॉ. जया मिश्रा
- **वाल्मीकि रामायण में शकुनापशकुन वर्णन** **13**
  डॉ. गुंजन गर्ग
- **डॉ. हरिदत्त शर्मा के एकाङ्कियों में प्रतिपादित समस्याएँ** **21**
  डॉ. देवराज
- **महाभारत में वर्णित परम पुरुषार्थ मोक्षतत्त्व विवेचन** **29**
  डॉ. सुदेव
- **ब्राह्मणग्रन्थेषु सामस्य माहात्म्यवर्णनम्** **35**
  डॉ. प्रतापचन्द्रायः
- **अशोकस्य मुख्यगिरि-स्तम्भलेखेषु अहिंसाभावनम्** **39**
  डॉ. विश्वजित् मण्डलः
- **वैदिकदर्शने देवतातत्त्वम् : अनिर्वाणदिशा** **43**
  चन्दनपइ
- **उत्तरमेघे कालिदासस्य पर्यावरणचेतना** **50**
  डॉ. लक्ष्मीकान्तषडङ्गी
- **प्रबोधचन्द्रोदयनाटके जीवनदर्शनविमर्शः** **55**
  सौरभःगोस्वामी (Sourav Goswami), असितकुमारसाउ (Asit Kumar Sau)
- **नागेशभट्टमते प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा इति सूत्रस्य संक्षिप्तो विचारः** **62**
  विवेकानन्द लक्ष्मणः

- **चातुर्मास्यप्रयोग इति हस्तलिखितग्रन्थस्य सविमर्शसम्पादनम्, अत्र वैश्वदेवपर्व** **67**
  नब कुमार दाश
- **प्रबोधचन्द्रोदये भारतीयाद्वैतदर्शनस्य प्रभावविमर्शः** **79**
  डॉ. शिलादित्य सत्पथि
- **उपसर्गार्थचन्द्रिकानुसारं परापूर्वक-मृश-आमर्शने-धातोः प्रयोगविमर्शः** **88**
  नित्यानन्दमान्ना
- **प्रो. भागीरथिनन्दस्य जीवनपरिचयः कृतित्वश्च** **94**
  सुनीलकाजलः
- **भारतीयदर्शनेषु अष्टावक्रगीतायां च मुक्तिविमर्शः** **100**
  प्रेमलता
- **Judgement of Accuracy of The Doctrine - *Purāṇaṃ Vedasammitam*** **103**
  Susovan Santra
- **Ecological awareness of Paṇcamahābhūtas reflected in the Gautama-Dharmasūtras** **111**
  Arup Sarkar
- **A Sudra Critique of Hindu Social Order** **119**
  Amalesh Kr Pradhan
- **नागेशदिशा शक्तिस्वरूपविमर्शः** **123**
  मौमिता चौधुरी
- **शिक्षा का अधिकार कानून और प्रारम्भिक शिक्षा के निजीकरण में वंचितों की समावेशी पहल : एक नीतिगत समीक्षा** **127**
  सुधांशु कुमार सिंह
- **आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों की परंपरा में डॉ. हरिनारायण दीक्षित के महाकाव्यों का मूल्यांकन** **132**
  डॉ. हरिपदः महापात्रः
- **भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य की सार्थकता** **138**
  डॉ. रणधीर कौशिक
- **भारतीय राजशास्त्रों में दण्ड विधान** **143**
  डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र

- **वैदिक दर्शन में राज्य का स्वरूप, प्रकृति और कार्य : वैदिक दर्शन के सामयिक महत्त्व के विशेष सन्दर्भ में** **148**
  डॉ. विश्वामित्र वैष्णव
- **उपनिषदों में आत्मतत्त्व का स्वरूप** **155**
  डॉ. भरत कुमार
- **ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में स्त्री दशा** **160**
  प्रीति भेलकर, डॉ. अच्छेलाल
- **आचार्य मल्लिषेण की स्याद्वादविषयक दृष्टि** **163**
  जया सिंह
- **मालविकाग्निमित्रमितिदृश्यकाव्ये वैदिकदेवबोधः** **169**
  पपन चन्द
- **जनसंचार माध्यमों की मानवाधिकार जागरूकता में भूमिका** **174**
  डॉ. अनुराधा शुक्ला

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय चिन्तन पद्धति की प्रासंगिकता

डॉ. अवधेश प्रताप सिंह*

मानव सभ्यता के इतिहास में वर्ष २०१९-२०२० अत्यन्त संकट का वर्ष रहा है। दिसम्बर २०१९ में चीन के वुहान शहर के सीफूड एवं पोल्ट्री बाजार से आरम्भ हुई 'कोरोना' नामक महामारी ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व को अपने चपेट में ले लिया । कोरोना वायरस अनेक प्रकार के विषाणुओं का समूह है जिसके कारण मानव के श्वसन तन्त्र में संक्रमण उत्पन्न हो जाता है जिसके लक्षणों में सामान्य सर्दी-जुकाम से लेकर अति गहनता की स्थिति में मृत्यु तक हो सकती है।[१] जब इस महामारी ने उग्र रूप धारण कर लिया तो इसकी रोकथाम के लिए विश्व के अनेक देशों ने लॉकडाउन की घोषणा की। इसी दौर में हमें भारत में पलायन की भयावह तस्वीरें देखने को मिलीं जो इस बीमारी की भयावहता को इंगित करती है। अधुना भी इनकी रोकथाम के लिए अभी तक शत-प्रतिशत कारगर कोई टीका (वैक्सीन) या विषाणुरोधी उपलब्ध नहीं है और इसके उपचार के लिए प्राणी को अपने प्रतिरक्षा प्रणाली (इम्यून सिस्टम) पर निर्भर रहना होता है। विश्व के प्रमुख स्वास्थ्यविदों ने इस महामारी से सुरक्षा हेतु 'स्वस्थ जीवन शैली' को अपनाने की सलाह दी है जिसमें ६-८ घन्टों की पर्याप्त नींद, प्रतिदिन ५-६ लीटर पानी का ग्रहण, विटामिन सी की प्रचुरता से युक्त फलों (नीबू, सन्तरा, मौसम्बी आदि) का प्रयोग तथा सुपाच्य भोजन का ग्रहण मुख्य एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

कोरोना संक्रमण के निवारण में भारतीय दर्शन में प्रतिपादित जीवनपद्धति एवं जीवनमूल्यों की अत्यधिक उपादेयता है। यद्यपि भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति की साधना के क्रम में प्रत्येक साधक या मुमुक्षु को इन्द्रियनिग्रह तथा चित्तनैर्मल्य की विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करना होता है। इस विशिष्ट प्रक्रिया का अनुपालन यदि हम अपनी वर्तमान जीवन शैली में कर लें तो कोरोना महामारी से बहुत हद तक सुरक्षित रहा जा सकता है।

दर्शन शब्द 'दृश् दर्शने' धातु से करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है- **'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'** अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए, वही दर्शन है। यदि हम इस शब्द का यही रूढ़ अर्थ गृहीत करें तो चूँकि मानव चक्षु की सहायता से बाह्य पदार्थों को देखता है, इसलिए केवल चक्षुरिन्द्रिय ही दर्शन कहलाएगी तथा केवल उससे ग्राह्य विषय ही दार्शनिक विश्लेषण की परिधि में आयेंगे। इसीलिए दार्शनिक समप्रत्ययों में दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति 'दृशिर् प्रेक्षणे' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट् प्रत्यय' तथा भाव अर्थ में 'घञ् प्रत्यय' करके 'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम् तथा 'दृश्यते इति दर्शनम्' को स्वीकार किया जाता है। 'प्रेक्षण' का अर्थ है -विचार करना, अतः इस व्युत्पत्ति के

* सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अनुसार विचार करने के सभी साधन तथा विचार क्रिया के समस्त विषय दर्शन के क्षेत्र में समाविष्ट हो जाते हैं। इस विषय पर प्रायः अधिकतर दार्शनिक एकमत हैं कि सांसारिक सुख केवल क्षणिक हैं, वें अधिक समय तक सुख प्रदान नहीं करते,[२] तो वो कौन सा ऐसा सुख है जो आत्यन्तिक है तथा आत्यन्तिक दुःख के अभाव वाला है। इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय दर्शन मोक्ष को कहते हैं, यद्यपि इसकी व्याख्या भारतीय दर्शनों ने अलग-अलग रूप में की है तथापि इसकी आधारशिला आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति तथा आत्यन्तिक दुःख के अभाव वाली है। भारतीय दर्शनों को मुख्यतः आस्तिक एवं नास्तिक के भेद से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है। इस भेदात्मक स्वरूप का आधार वेद प्रामाण्य का स्वीकरण है। जो दर्शन वेदों में श्रद्धा रखते हैं अर्थात् वैदिक वाक्यों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, उन्हें आस्तिक दर्शन कहते हैं तथा जो वेदों की निन्दा करने वाले अर्थात् वेदों को प्रामाणिक स्वीकृत नही करते हैं, उन्हें नास्तिक कहा जाता है जैसे की कहा भी गया है - **नास्तिको वेदनिन्दकः**। इस वर्गीकरण के अनुसार सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-वेदान्त ये छः दर्शन आस्तिक दर्शन की कोटि में आते हैं तथा चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन को नास्तिक कोटि में रखा जाता है। समस्त दर्शनों में दार्शनिक तत्त्वों के विश्लेषण के लिए तीन प्रविधियों का प्रयोग पाया जाता है- तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा। भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा के गहन अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक दर्शन में तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा के साथ आचारमीमांसा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुतः दर्शन का प्रयोजन ही मानव का नैतिक उत्थान है, जिसके लिए कर्म सिद्धान्त एवं अन्य साधना पद्धतियों का सूक्ष्म विश्लेषण हमें प्रत्येक भारतीय दर्शन में प्राप्त होता है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में योगदर्शन में मुख्यरूप से स्वस्थ जीवन पद्धति एवं साधना प्रक्रिया का गहन विश्लेषण प्राप्त होता है। भारतीय परम्परा के अनुसार हिरण्यगर्भ को योगदर्शन का आदि उपदेष्टा स्वीकार किया जाता है। वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, कल्पसूत्रों, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में योग का वर्णन प्राप्त होता है। योगशास्त्र के इतिहास में महर्षि पतंजलि का अद्वितीय स्थान है जिन्होंने दूसरी शताब्दी ई.पू. में 'योगसूत्र' की रचना द्वारा वर्तमान में प्रचलित योगदर्शन की प्राण प्रतिष्ठा की है। इस दर्शन में योग के माध्यम से दुःख निवृत्ति का मार्ग उपदिष्ट किया गया है। योगसूत्रकार के अनुसार योग का लक्षण है- '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध 'योग' है।[३] चित्त से आशय अंतःकरण है जिसमें मन, बुद्धि एवं अहंकार सम्मिलित हैं। यह चित्त जिन-जिन स्थितियों या रूपों में परिणत होता रहता है, वे स्थितियाँ ही चित्त की वृत्तियाँ कहलाती हैं। चित्त स्वभावतः अत्यन्त चंचल है जो विभिन्न विषयों में भागता रहता है। भगवद्गीता में कृष्ण ने मन को चंचल एवं दुर्निग्रह कहा है।[४] चित्त की सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियों को निगृहीत करना अर्थात् इन वृत्तियों का चित्त में लय हो जाना ही चित्तवृत्तिनिरोध है जिसे योग की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय है - अभ्यास एवं वैराग्य। पतंजलि के अनुसार चित्त एक नदी के समान है जो कि दो धाराओं में बहती है। यह नदी अपनी एक धारा से कल्याण की दिशा में प्रवाहित होती है तथा इसकी दूसरी धारा संसार या बन्धन की दिशा में गमन करती है। विवेकदर्शन के अभ्यास से विषय की ओर गमन करने वाली धारा का उद्घाटन किया जाता है तथा वैराग्य के द्वारा इस धारा को क्षीण किया जाता है।[५] इस प्रकार अभ्यास एवं वैराग्य दोनों की सहायता से चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध कर दी जाती हैं। यदि हम कोरोना के सन्दर्भ में देखें तो योग दर्शन

का यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। कोरोना के प्रसार की तीव्रता एवं गति को रोकने के लिए विश्व के अधिकतर देशों ने लॉकडाउन की प्रक्रिया अपनाई थी जिसमें सभी प्रकार के आवागमन एवं व्यापार पर अनिवार्य रोक लगा दी गयी। यह लॉकडाउन योगदर्शन में प्रतिपादित वैराग्य की ही अवस्था है जिसमें साधक बाह्य सांसारिक गतिविधियों से विरक्त हो जाता है। जिस प्रकार चित्त की निस्तरंग स्थिति के निमित्त मानसिक प्रयास या उत्साह रूप प्रयत्न के द्वारा योग में साधक चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करता है उसी प्रकार कोरोना संक्रमणकाल में मनुष्य की सभी बाह्य गतिविधियों को नियन्त्रित करके कोरोना से सुरक्षित बचा जा सकता है। जिन्होंने इस अभ्यास एवं वैराग्य रूप साधन का कुशलता से अनुष्ठान किया वे उतनी आसानी से कोरोना के संक्रमण से बचने में सफल रहे। योगदर्शन में प्रतिपादित अभ्यास की अवधारणा शुचिता या विवेक को भी ख्यापित करती है। कोरोना से बचने के लिए सभी स्वास्थ्य अभिनियमों में बार-बार हाथों को साबुन से स्वच्छ करने तथा सैनीटाइजर का प्रयोग करने के दिशानिर्देश दिए गए थे जो कि शुचिता का ही ज्ञापन है।

योग की सम्पूर्णता के लिए योगाङ्गों का अनुष्ठान करने का निर्देश योगसूत्र में प्राप्त होता है। योग के आठ अङ्ग हैं- '**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि**'।[६] 'यम' के पाँच भेद हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार (शारीरिक, वाचिक, मानसिक) से कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' है।[७] जो वस्तु जैसी है उसके विषय में वैसा ही कथन करना 'सत्य' है।[८] किसी अन्य की वस्तु का बिना उसकी अनुमति के ग्रहण करने की इच्छा का अभाव ही 'अस्तेय' है।[९] जननेंद्रिय का निग्रह 'ब्रह्मचर्य' है।[१०] विषयगत दोषों को जानकर उनका ग्रहण न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है।[११] 'नियम' भी पाँच प्रकार का होता है - शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान।[१२] बाह्य एवं आन्तरिक मलों का प्रक्षालन 'शौच' कहलाता है।[१३] विद्यमान साधनों से अधिक साधनों का संग्रह करने की अनिच्छा 'सन्तोष' है।[१४] विपरीत परिस्थितियों को सहन करना 'तप' है।[१५] मोक्षशास्त्रों का अध्ययन अथवा ॐकार का जप 'स्वाध्याय' है।[१६] ईश्वर के प्रति सभी कर्मों का अर्पण करना 'ईश्वरप्रणिधान' है।[१७] '**स्थिरसुखमासनम्**' अर्थात् शरीर की वह सुखप्रद स्थिति जिसमें अवस्थित होकर समाधि लगायी जा सके, 'आसन' कहलाती है।[१८] '**श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः**' अर्थात् श्वास एवं प्रश्वास की गति का नियमन करना 'प्राणायाम' कहलाता है।[१९] यह रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से तीन प्रकार का होता है। '**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।**' जब साधक अपनी इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क नहीं होने देता तो इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा कर लेती हैं, यही 'प्रत्याहार' कहलाता है।[२०] '**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**' अर्थात् चित्त की सात्त्विक वृत्ति को किसी प्रदेश में स्थापित करना 'धारणा' है।[२१] '**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।**' धारणा के देश (विषय) में ध्येयरूप आलम्बन वाले तथा अन्य ज्ञानों से अस्पृष्ट ज्ञान की अविच्छिन्न धारा ही 'ध्यान' है।[२२] '**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**' अर्थात् ध्यान ही जब ध्येय के स्वभाव का आवेश होने के कारण ध्येय के आकर से भासित तथा अपने रूप से रहित जैसा हो जाता है, उसे 'समाधि' कहते हैं।[२३]

योग के इन आठों अङ्गों का अनुष्ठान करने से समाधि की सिद्धि होती है। कोरोना के संक्रमण के दौरान योग के इन अङ्गों में से कतिपय अङ्गों का अनुष्ठान अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। यम के अन्तर्गत

'अपरिग्रह' की भावना का निर्देश किया गया है। योग के अनुसार सांसारिक विषयों की प्राप्ति, रक्षा, विषयासक्ति तथा हिंसादि दोषों को देखने के कारण उन विषयों को स्वीकार न करना ही अपरिग्रह है। लॉकडाउन के दौरान अपरिग्रह की भावना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। हमने देखा है कि इस दौरान लोग खाद्य वस्तुओं तथा अन्य सामानों की खरीद के लिए बड़ी संख्या में बाजारों में एकत्रित हुए जिससे न केवल सुरक्षा नियमों का उल्लंघन हुआ जिससे की कोरोना के प्रसार में वृद्धि हुई य अपितु अधिकाधिक संख्या में लोगों के सामान खरीदने से पैनिक (घबड़ाहट) की स्थिति भी उत्पन्न हुई। ऐसी स्थिति में यदि लोग अपरिग्रह की भावना को अपना लेते तो इस महामारी के प्रसार की तीव्रता को नियन्त्रित किया जा सकता था। सन्तोष की प्रवृत्ति भी इस सन्दर्भ में प्रासंगिक है।

इसी प्रकार से नियम के अन्तर्गत शौच एवं सन्तोष का निर्देश किया गया है। शौच का आशय है – शुचिता, पवित्रता या सफाई। यह शुचिता दो प्रकार की है – बाह्य शुचिता एवं आन्तरिक शुचिता। मृदा, जल आदि सफाई के विभिन्न साधनों की सहायता से अपने शरीर को स्वच्छ रखना तथा भोजन की पवित्रता ही बाह्य शुचिता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के द्वारा चित्त के मलों की सफाई करना आन्तरिक (मानसिक) शुचिता है। आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की शुचिता को अपनाने से ही साधक योगसाधना में सफल होता है। कोरोना संक्रमण के दौरान हमने देखा कि भारत सरकार तथा अन्य स्वास्थ्य संगठनों ने योग के इसी शुचिता के मार्ग को अपनाते हुए यह निर्देश दिया कि कोरोना वायरस से सुरक्षित रहने का सबसे कारगर उपाय स्वच्छता एवं सामाजिक दूरी (सोशल डिस्टेंसिंग) है जिसका अनुपालन करने से इस महामारी की रोकथाम करना संभव है। कोरोना को हराने की सोच के साथ स्वच्छता के प्रति लोग जागरूक हो रहे हैं। इससे अन्य बीमारियाँ भी कम होने की संभावना रहेगी। लोग कोरोना वायरस संक्रमणकाल में हुए लॉकडाउन में अपनी सोच को बदलते हुए साफ–सफाई और स्वच्छता के प्रति गम्भीर हुए। लॉकडाउन के दौरान घरों में रह रहे लोगों ने हर घंटे हाथ धोना, शारीरिक दूरी, साफ–सफाई पर पूरा ध्यान दिया। इससे वातावरण में भी शुद्धता का विस्तार हुआ जो हमारे स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

कोरोना से बचने के लिए चिकित्सकों के द्वारा स्वच्छ एवं सुपाच्य भोजन को ग्रहण करने की सलाह दी गयी। भारतीय चिन्तन परम्परा में यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से ही उपदिष्ट है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि आहार की शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है तथा अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ध्रुवानुस्मृति होती है।[२४] विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापक आचार्य रामानुज के अनुसार अन्न में तीन प्रकार के दोष होते हैं – जातिदोष, आश्रयदोष तथा निमित्तदोष। इन तीनों प्रकार के दोषों से रहित अन्न का भोजन करके शरीर की शुद्धि करने को विवेक कहते हैं।[२५] कलञ्ज, गृञ्जन आदि से दूषित भोजन को जातिदुष्ट आहार कहते हैं। अभिशस्त एवं पतित के घर का भोजन ग्रहण करना आश्रयदुष्ट आहार है। उच्छिष्ट, मक्षिकापात आदि से दूषित भोजन निमित्तदुष्ट आहार है। इन दोषों से रहित सात्त्विक आहार का ग्रहण करने से न केवल शरीर स्वस्थ एवं मजबूत होता है अपितु हमारा अन्तःकरण भी निर्मल हो जाता है। सात्त्विक तथा दोषरहित आहार का ग्रहण करने से हमारे शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली सुदृढ़ होती है और सुदृढ़ प्रतिरक्षा प्रणाली के द्वारा ही कोरोना तथा अन्य बीमारियों से बचाव किया जा सकता है।

योगदर्शन के अतिरिक्त अन्य दार्शनिक चिन्तन पद्धतियों में भी इस प्रकार के जीवनमूल्य प्रमुखता से

प्रतिपादित किए गए हैं। '**नीयते अनेन इति न्यायः**' अर्थात् वह प्रक्रिया जिसके द्वारा परमतत्त्व की ओर ले जाया जाए वह 'न्याय' है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार '**प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः**'[२६] अर्थात् प्रमाणों की सहायता से वस्तु-तत्त्व का परीक्षण करने की प्रणाली ही न्याय कहलाती है। न्याय की इस विचार-प्रक्रिया का मूल कौटिल्य के अर्थशास्त्र, चरकसंहिता तथा सुश्रुतसंहिता में उपलब्ध होता है जहाँ इसे 'आन्वीक्षिकी' के रूप में विवेचित किया गया है। अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी विद्या को सभी विद्याओं का प्रकाशक, समस्त कर्मों का साधक तथा समग्र धर्मों का आश्रय कहा गया है -

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।[२७]

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानानिःश्रेयसाधिगमः'[२८] के अनुसार प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया में योगदर्शन में उपदिष्ट चित्तशुद्धि सम्बन्धी सिद्धान्तों को न्याय भी यथावत् स्वीकार करता है। वैशेषिक के अनुसार धर्म के ज्ञान से जीवात्मा मोक्ष की प्राप्ति करता है। वैशेषिक-सूत्र का प्रथम सूत्र है - '**अथातो धर्म व्याख्यास्यामः**' अर्थात् अब धर्म की व्याख्या करते हैं। दूसरे सूत्र में कहते हैं - '**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः**'[२९] अर्थात् जिससे (यथार्थ ज्ञान) अभ्युदय और निःश्रेयस् (मोक्ष) की सिद्धि हो, वही धर्म है। यहाँ भी योग की चिन्तन पद्धति स्वीकृत है। भारतीय चिन्तन परम्परा में सांख्य दर्शन को प्राचीनतम दर्शन की संज्ञा दी जाती है। 'संख्या' का अर्थ है सम्यक् ख्यान अर्थात् सम्यक् ज्ञान या विवेकज्ञान। इस दर्शन में प्रकृति एवं पुरुष के सम्यक् ज्ञान से कैवल्य का मार्ग प्रतिपादित किया गया है, इसलिए इसे सांख्य कहा जाता है। द्वितीय प्रकार से 'संख्या' शब्द का अर्थ गणना है। सांख्य दर्शन में २५ तत्त्वों की गणना की गई है, इसलिए भी इसको सांख्य कहते हैं। महाभारत में उपर्युक्त दोनों अर्थों को समाविष्ट करते हुए सांख्य दर्शन की प्रशंसा की गई है।[३०] सांख्य द्वैतवादी एवं वस्तुवादी दर्शन है। सांख्य के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व हैं। इन्हीं दो तत्त्वों के संयोग से २३ अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जिससे सृष्टि का निर्माण होता है। इन्हीं दोनों तत्त्वों का विवेकज्ञान हो जाने पर प्राणी दुःखत्रय से निवृत्त होकर कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। सांख्य में योग दर्शन की ही आचारमीमांसा को अपनाया गया है। पाणिनीय व्याकरणानुसार 'मान्' धातु से पूजा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर स्त्रीलिंगबोधक 'अ' प्रत्यय तथा 'टाप्' प्रत्यय के जोडने से मीमांसा शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ 'विचार', पूजित विचार अथवा पूजित जिज्ञासा आदि है। श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करके उनमें एक-वाक्यता स्थापित करने के लिये जो विचार-विमर्श किया जाता था उसे मीमांसा कहते थे। धर्म (यज्ञ-परम्परा) की रक्षा करने के लिए उसके प्रमाण, उसका स्वरूप, उसका साधन और अन्त में फल बतला कर अर्थात् श्रेय तथा प्रेय दोनों की प्राप्ति कराते हुए समाज को सुव्यवस्थित रखना ही मीमांसा दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है। वेद मानव सभ्यता के आद्य वाङ्मय हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की अन्तर्दृष्टि से अभिव्यंजित तथा संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् रूप से चतुर्धा विभक्त वेदों से ही विश्व का समस्त ज्ञान-विज्ञान निःसृत हुआ है। ज्ञाननिधि वेदों की ज्ञानराशि का चरमोत्कर्ष (पराकाष्ठा) ही वेदान्त है। '**वेदेन वेदस्य वा निर्णीतार्थः वेदान्तः**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेदप्रतिपाद्य सिद्धान्त ही 'वेदान्त' है। 'वेद+अन्त=वेदान्त' (वेद का प्रतिपाद्य सिद्धान्त) इस अर्थ में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपनिषदों

में उपलब्ध होता है। **'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः'** इस व्युत्पत्ति से 'वेदान्त' शब्द का व्यवहार मुख्य रूप से वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों के लिए होता है तथा उपचार से शारीरक सूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।[३१] अद्वैतवेदान्त में ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए सर्वप्रथम अधिकारी बनने का निर्देश किया गया है। अधिकारी बनने की अर्हताओं में इन्द्रियनिग्रह, चित्तशुद्धि तथा विवेक-वैराग्य की भावना का उपदेश है जिनका सम्यक् अनुपालन करके कोरोना संक्रमणकाल में सुरक्षित रहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त बौद्धदर्शन में प्रतिपादित आर्याष्टाङ्गिक मार्ग तथा जैनमत में उपदिष्ट त्रिरत्न की अवधारणा भी अत्यन्त उपादेय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. www.wikipedia.org

२. परिणामतापसंस्कारदुःखैः गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' योगसूत्र, २.१५

३. योगसूत्र, १.२

४. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। भगवद्गीता, ६.३५

५. चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी । वहति कल्याणाय वहति पापाय च ..... तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्रव्यासभाष्य, १.१२

६. योगसूत्र, २.२९

७. अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। योगसूत्रव्यासभाष्य, २.३०

८. सत्यं यथार्थ वाङ्मनसे। वही।

९. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। वही।

१०. ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। वही।

११. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्हंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः। वही।

१२. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगसूत्र, २.३२

१३. तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यं, आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। योगसूत्रव्यासभाष्य, २. ३२

१४. सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। वही।

१५. तपो द्वंद्वसहनम्। वही।

१६. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। वही।

१७. ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। वही।

१८. योगसूत्र, २.४६

१९. वही, २.४९

२०. वही, २.५४

२१. वही, ३.१

२२. वही, ३,२

२३. वही, ३.३

२४. छान्दोग्योपनिषद्, ७.२६.२

२५. श्रीभाष्य, १.१.१

२६. न्यायभाष्य, १.१.१

२७. अर्थशास्त्र, १.१

२८. न्यायसूत्र, १.१.१

२९. वैशेषिकसूत्र, १.१.२

३०. संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत्तेन सांख्यं प्रकीर्तितम्।। महाभारत।

३१. वेदान्तो नामुपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि च शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्तसार।

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

कठोपनिषद् में वर्णित कर्ममीमांसा

डॉ. जया मिश्रा*

वेद भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के प्राण हैं। भारतीय संस्कृति में जो भी जीवनशक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूलकारण वेद है। वेद ज्ञान का अक्षय महासागर है जिससे ज्ञानरूपी मेघ उठ-उठकर प्रत्येक प्राणी के मानस भूमि को प्लावित कर अज्ञानजन्य ताप को शान्तकर उसका जीवन सुखमय कर देते हैं। यह केवल भारतीय साहित्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ नहीं प्रत्युत मानवमात्र के इतिहास में सर्वप्रथम ग्रन्थरत्न है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति का सही साधन वेद में ही उपलब्ध होता है। संहिता एवं ब्राह्मणात्मक वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। जिनमें अध्यात्म विषयक गम्भीर विवेचन है। उपनिषद् को ही वेदान्त कहते हैं; क्योंकि वे वेद के अन्तिम भाग हैं तथा इनमें वेदों के निर्णीत प्रतिपाद्य सिद्धान्त होने से ये वेदान्त कहलाते हैं। उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्ल' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ हैं - विशरणनाश, गतिप्राप्ति और अवसादन शिथिलीकरण। वस्तुतः उपनिषद् शब्द के मुख्य अर्थ के बारे में विवाद है। उदाहरण के लिए ओल्डेनवर्ग का मत, पाल डायसन का मत, शङ्कराचार्य का मत तथा उनके अनुयायियों का मिलता-जुलता मत आदि-आदि। वास्तव में वेदों में जो दर्शन है उसी की व्याख्या उपनिषद् है। इस दर्शन को हम प्रातिभ ज्ञान कह सकते हैं प्रातिभ ज्ञान से जो तत्त्व प्राप्त होता है उसकी व्याख्या उपनिषद् है। अर्थात् "जिस ब्रह्मविद्या से दृष्टानुश्रविकविषयों से वितृष्ण मुमुक्षु जनों की संसार की बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, जो ब्रह्मविद्या प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति करा देती है तथा जिससे गर्भवासादि दुःख व्रत का शिथिलीकरण हो जाता है। अर्थात् उपनिषद् का मुख्यार्थ ब्रह्मविद्या है। उपनिषद् शब्द अक्षरशः और अर्थतः वेदान्त है। स्वयं उपनिषदों में ही उपनिषद् के अर्थ में वेदान्त का प्रयोग हुआ है - '**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः।**'[१]

उपनिषद् प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत किये गए हैं - '**ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वाणां मुण्डं मुण्डं नाधीतेऽधीते वेदमाहुस्तमज्ञं शिरच्छित्त्वा कुरुते कबन्धम्।**' कठोपनिषद् में सूक्ष्म दृष्टि से रूपकालङ्कार के द्वारा पितृयज्ञ का, ब्रह्मयज्ञ का, देवयज्ञ का वर्णन ही है। कठोपनिषद् के शान्ति पाठ में परमात्मा से शिष्य ने जो प्रार्थना की है कि आप हम गुरु-शिष्य दोनों की साथ-साथ रक्षा करें, समुचित रूप से पालन-पोषण करें, साथ-साथ बल प्राप्त करें, अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो, यह प्रार्थना कर्मयोग का सन्देश देती है, क्योंकि इसमें कहीं भी निवृत्ति की बात न कहकर अपितु कर्तव्यपालन की शक्ति के लिए परब्रह्म से विनती अथवा आशीर्वाद माँगा गया है। ठीक इसके बाद वाला यानि प्रथम मन्त्र यज्ञ की महत्ता का द्योतक है। जिस समय भारतवर्ष का पवित्र आकाश यज्ञधूम और उसके पवित्र सौरभ से परिपूर्ण रहता था, त्यागमूर्ति ऋषि-महर्षियों के द्वारा गाये हुए वेदमन्त्रों की दिव्य ध्वनि से सभी दिशाएँ गूँजती रहती थीं, उसी समय का यह प्रसिद्ध इतिहास है कि महर्षि अरुण के पुत्र

* एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी

उद्दालक ऋषि ने फल की कामना से विश्वजित नामक एक महान् यज्ञ किया। जिसमें सर्वस्व दान कर दिया जिससे यज्ञ तथा दानकर्म का वैशिष्ट्य द्योतित है।

ऊँ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।।[२]

पिता के प्रति पुत्र के धर्म का विवेचन कठोपनिषद् में कर्म का एक विशिष्ट तथा अनोखा रूप संसार के समक्ष एक आदर्श के रूप में है। नचिकेता ने अपना धर्म समझकर ही क्रोध तथा झटके में कहे गये पिता के वचन को पूरा तथा सार्थक करने के लिए अपने पिता को पितामहादि पूर्वजों के आचरण की दुहाई देकर कहने लगे कि मनुष्य मरणधर्मा है। यह अनाज की भाँति जरा-जीर्ण होकर मर जाता है और अनाज की भाँति ही कर्मवश पुनः जन्म लेता है। अतएव इस अनित्य जीवन के लिए मनुष्य को कभी कर्तव्य का त्याग करके मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिए। आप शोक को त्याग कीजिए और अपने सत्य का पालन कर मुझे मृत्यु के पास जाने की अनुमति दीजिए। यह गीता के अर्जुन-कृष्ण के मध्य हुए कर्मयोग का ही प्रकाश है।

बहूनामेति प्रथमो बहूनामेति मध्यमः।
किःस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्ममाद्य करिष्यति।।[३]

x x x x

सस्यमिव मर्त्यं पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।[४]

अतिथि यज्ञ का महत्त्व उपनिषद् में स्पष्ट ही शाङ्करभाष्य में भी उसी प्रकार स्वीकार किया गया है। यमराज के लौटने पर उनकी पत्नी का वचन है कि साक्षात् अग्नि ही मानो तेज से प्रज्ज्वलित होकर ब्राह्मण अतिथि के रूप में गृहस्थ के घर पर पधारते हैं। अतिथि सेवा न करने के परिणाम बतलाती है कि अतिथि सत्कार करने वालों का यज्ञ दानादि इष्ट कर्म और कूप, तालाब, धर्मशाला आदि के निर्माणरूप पूर्वकर्म एवं उनके फल नष्ट हो जाते हैं इतना ही नहीं उसके पूर्व पुण्य से प्राप्त पुत्र और पशु आदि धन को नष्ट कर देता है। पत्नी के वचन सुनकर यमराज ने विधिवत् अतिथि पूजा भी की -

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोद्कम्।[५]

इस प्रकार इसमें गृहस्थ धर्म की महत्ता द्योतित है जो समस्त कर्मों का आश्रय है। पुत्र की पिता के प्रति कर्तव्यपालन की एक अद्भुत झलक द्रष्टव्य है कि यमराज द्वारा वरदान माँगे जाने के लिए कहने पर नचिकेता ने सर्वप्रथम पिता की शान्ति तथा उनके सर्वथा सन्तुष्टि का ही वर माँगा -

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।।[६]

नचिकेता द्वारा स्वर्ग के साधनभूत अग्नि का यथार्थ स्वरूप पूछे जाने पर यमराज ने उस साधन का विवेचन करते हुए उपदेश दिया कि "नचिकेता! मैं उस स्वर्ग की साधनभूत रूप अग्निविद्या को भलीभाँति जानता हूँ और तुमको यथार्थरूप से बतलाता हूँ। यह अग्निविद्या अत्यन्त विनाश रहित लोक की प्राप्ति कराने वाली है और उसकी आधारस्वरूपा गुप्त विद्या है जो विद्वानों की गुफा में छिपी रहती है। इस अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करने वाला पुरुष ऋक् यजुः साम-तीनों वेदों से सम्बन्ध जोड़कर, तीनों वेदों के

तत्त्व–रहस्य में निष्णात होकर, निष्कामभाव से यज्ञ, दान और तप रूप तीनों कर्मों को करता हुआ जन्म–मृत्यु से तर जाता है। वह ब्रह्मा से उत्पन्न सृष्टि को जानने वाले स्तवनीय इस अग्निदेव को भलीभाँति जानकर इसका निष्कामभाव से चयन करके उस अनन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है जो मुझको प्राप्त है। किस आकार की कैसी ईंटें हों और कितनी संख्या में हो एवं किस प्रकार से अग्नि का चयन किया जाए, इन तीनों बातों को जो जानकर तीन बार नाचिकेत अग्निविद्या का निष्कामभाव से अनुष्ठान करता है वह देहपात से पहले ही मृत्यु के पाश को तोड़कर शोक रहित हो जाता है'' –

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यु।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।।

यमराज नचिकेता को उपदेश देते हुए कहते हैं कि श्रेय और प्रेय के भेद से दो साधनों का अनुष्ठान किया जा सकता है। इन दोनों प्रकार के साधनों में से भगवान् की कृपा प्राप्त कर जो श्रेय को अपना लेता है और तत्परता के साथ उसके साधन में लग जाता है उसका तो सब प्रकार से कल्याण हो जाता है वह सदा के लिए सब प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूटकर अनन्त असीम आनन्दस्वरूप परमात्मा को पा लेता है, जो इसके विपरीत साधन प्रेय को अपनाता है वह उसे आत्यन्तिक और नित्य सुख नहीं मिलता। ये अविद्या और विद्या नाम से प्रसिद्ध दो साधन हैं और अविद्या के साधन को अपनाता हुआ मनुष्य बारंबार यमराज के चंगुल में फँसता है और वे उसके कर्मानुसार उसे नाना योनियों में ढकेलते रहते हैं – **अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते ये। (कठोपनिषद् १.२.६)।।**

यमराज ने योग के साधनों का अपने उपदेश द्वारा भरपूर विवेचन किया है। आत्मतत्त्ववेत्ता की प्रशंसा के प्रसङ्ग में कहते हैं कि सफल जीवन अनुभवी आत्मदर्शी आचार्य के द्वारा उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मनन निदिध्यासन करते–करते तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष भी जगत् में विरले होते हैं। पुनः, अध्यात्म विषयक धर्ममय उपदेश को पहले तो अनुभवी महापुरुष के द्वारा अतिशय श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिए, सुनकर उनका मनन करना चाहिए। तदनन्तर एकान्त में उस पर विचार करके बुद्धि में उसको स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार साधन करने पर जब मनुष्य को आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, पुनः सम्पूर्ण तप आदि साधनों का जो एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है तथा जिसको प्राप्त करने की इच्छा से साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किया करते हैं उस परमतत्त्व को समझाता हूँ, पुनः आत्मतत्त्व की दुर्लभता के प्रसङ्ग में कहते हैं कि कोई विरला ही बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा होता है जो सत्सङ्ग, स्वाध्याय तथा भगवत्कृपा से अशुद्ध विषयभोगों की परिणाम दुःखता को जानकर अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा से इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर, उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयों में लगाकर अन्तरात्मा को देखता है। पुनः यह ग्यारह द्वारों वाला शरीर परमेश्वर की नगरी है जो इस रहस्य को समझ कर जीते जी भजन स्मरणादि साधन करता है। परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन और ध्यान करता है वह विदेहमुक्त हो जाता है। पुनः, जब तक मनुष्य में भजन–स्मरण आदि साधन करने की शक्ति बनी हुई है तभी तक सावधानी के साथ प्रयत्न करके परमात्मा के तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जो भाग्यवान् साधक निरन्तर प्रेमपूर्वक मन से उनका चिन्तन करता रहता है, उसके हृदय में जब भगवान् के उस दिव्यस्वरूप का ध्यान प्रगाढ़ हो जाता है, उस समय साधक का हृदय भगवान् के ध्यानजनित स्वरूप में निश्चल हो जाता है। योगाभ्यास करते–करते जब मन के सहित पाँचों इन्द्रियाँ

भलीभाँति स्थिर हो जाती है और बुद्धि भी एक परमात्मा के स्वरूप में इस प्रकार स्थित हो जाती है जिससे उसको परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का तनिक भी भान नहीं रहता, उससे कोई भी चेष्टा नहीं बनती, उस स्थिति को योगीगण परमगति–योग की सर्वोत्तम स्थिति बतलाते हैं। योग का लक्षण बताते हुए यमराज बताते हैं कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का ही नाम योग है। अतः परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को निरन्तर योगयुक्त रहने का दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिए।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।[७]
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[८]

इस प्रकार से कठोपनिषद् में योग की विभिन्न अवस्थाओं की महत्ता विवेचित है।

कठोपनिषद् में निष्कामकर्म का ही विवेचन है; क्योंकि यमराज जी ने यत्र–तत्र अपने उपदेश में दृढ़ता के साथ निष्कामभाव की महत्ता का उपदेश दिया है। उनका उपदेश है कि इस लोक और परलोक के भोग समूह अनित्य हैं, अनित्य से नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस रहस्य को जानकर ही मैंने नाचिकेत अग्नि के चयनादि रूप से जो कुछ यज्ञादि कर्तव्य–कर्म अनित्य वस्तुओं के द्वारा किये सब के सब कामना और आसक्ति से रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धि से किये। इस निष्कामभाव की ही यह महिमा है कि अनित्य पदार्थों के द्वारा कर्तव्य–पालन रूप ईश्वर–पूजा करके मैंने नित्य सुखरूप परमात्मा को प्राप्त कर लिया।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।।[९]

नचिकेता के निष्कामभाव को देखकर ही उन्होंने अपनी उपदेश वाणी प्रसारित की। आगे पुनः यमराज कहते हैं, हे परमात्मन्! आप हमें वह सामर्थ्य दीजिए जिससे हम निष्कामभाव से यज्ञादि शुभ कर्म करने की विधि को भली भाँति जान सकें और उसका अनुष्ठान करके आपकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकें –

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत शकेमहि।।[१०]

इसके अतिरिक्त जीवात्मा को रथ का स्वामी शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम की उपमा देकर इस लौकिक उदाहरण के द्वारा उस परमतत्त्व की प्राप्ति का उदाहरण देकर सूक्ष्म कर्म का विवेचन किया है; क्योंकि इन्हीं सभी साधनों से निष्कामकर्म का श्रद्धा पूर्वक निर्वाह करता हुआ अपनी बुद्धि को निरन्तर विवेकशील बनाये रखता है और उसके द्वारा मन को रोककर पवित्रभाव में स्थित रहता है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा भगवान् की आज्ञा के अनुसार पवित्र कर्मों का निष्कामभाव से आचरण करता है तथा भगवान् को अर्पण किये हुए भोगों का राग–द्वेष से रहित हो निष्काम भाव से शरीर निर्वाह के लिए उपभोग करता रहता है वह परमेश्वर के उस परमधाम को प्राप्त कर लेता है –

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।[११]

कर्मफल का विवेचन यमराज इस रूप में करते हैं – जो मनुष्य विशुद्ध होकर सावधानी से इस परम रहस्यमय प्रसङ्ग को तत्त्व विवेचन पूर्वक भगवत्प्रेमी शुद्धबुद्धि ब्राह्मणों की सभा में सुनाता है अथवा श्राद्धकाल में भोजन करने वाले ब्राह्मणों को सुनाता है उसका यह वर्णनरूप कर्म अनन्त फल देने वाला होता है, अनन्त होने में समर्थ होता है –

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते।
तदानन्त्याय कल्पत इति।।[१२]

यमराज कहते हैं कि अपने–अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार और शास्त्र गुरु, सङ्ग, शिक्षा–व्यवसाय आदि के द्वारा देखे हुए भावों से निर्मित अन्तःकालीन वासनानुसार मरने के पश्चात् कितने ही जीवात्मा तो दूसरा शरीर धारण करने के लिए वीर्य के साथ माता की योनि में प्रवेश कर जाते हैं – **स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।**[१३]

इतना ही नहीं भगवान् शङ्कराचार्य ने तो अपने भाष्य में स्पष्ट रूप से उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति में "अग्निविद्याप्युपनिषद्" ऐसा कहकर कर्म का ज्ञान में पर्यवसान किया है। अन्त और आरम्भ में दोषनिमित्त द्वेष का निराकरण करते हुए कर्म का प्राधान्य अप्रत्यक्ष रूप से पञ्चमहायज्ञ रूप कर्म को स्वीकार किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. मुण्डकोपनिषद्, ३.२.६
२. कठोपनिषद्, १.१.१
३. कठोपनिषद्, १.१.५
४. कठोपनिषद्, १.१.६
५. कठोपनिषद्, १.१.७
६. कठोपनिषद्, १.१.१०
७. कठोपनिषद्, २.३.१०
८. कठोपनिषद्, २.३.११
९. कठोपनिषद्, १.२.१०
१०. कठोपनिषद्, १.३.२
११. कठोपनिषद्, १.३.८–९
१२. कठोपनिषद्, १.३.१७
१३. कठोपनिषद्, २.२.७

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

वाल्मीकि रामायण में शकुनापशकुन वर्णन

डॉ. गुंजन गर्ग*

शोध सारांश – पुरातन काल से ही ज्योतिष का मानव जीवन में प्रमुख स्थान है। रामायणकालीन जनजीवन में भी ज्योतिष ने अपनी गहरी जड़ें जमा रखी थी। वहाँ पर शकुनों और अपशकुनों का बहुत विचार किया जाता था। किसी भी नवीन कार्य के प्रारम्भ में शुभ मुहूर्त को देखा जाता था। कार्य की सफलता का आकलन कार्य के मध्य में पड़ने वाले शकुन और अपशकुनों से किया जाता था। यह शकुन और अपशकुन प्रकृतिगत, पशुपक्षियों की चेष्टाओं पर आधारित और स्वयं मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक लक्षणों पर आधारित हो सकते थे। वर्तमान में भी नूतनकार्य के प्रारम्भ में शुभ मुहूर्त और शकुनों पर विचार किया जाता है। इस शोध पत्र में रामायणकालीन जनजीवन में मुहूर्त शकुन और अपशकुनों के प्रभाव पर दृष्टिपात किया जायेगा।

संकेत शब्द **–** *शुभ शकुन, अपशकुन, मुहूर्त, प्रकृतिगत संकेत, पशु–पक्षियों के संकेत, स्वशरीरगत संकेत, मानसिक परिवर्तनगत संकेत, वाल्मीकि रामायण।*

अनादिकाल से मानव मन प्राकृतिक परिवर्तनों से प्रभावित होता आया है। जहाँ प्रकृति का मनोहर सौन्दर्य उसके मन को आह्लादित करता है, वहीं असमय वर्षा, तीव्र झञ्झावात और समुद्र आवेग आदि प्राकृतिक घटनाएँ और प्राकृतिक आपदाएँ उसको भयभीत कर देते हैं। जिस प्रकार प्रकृति मानव को प्रभावित करती है, उसी प्रकार मानव का आचरण और विचार भी प्रकृति को आवश्यक रूप से प्रभावित करते हैं। मानव और प्रकृति की तारतम्यपूर्णता से ही ज्योतिष का आविर्भाव होता है। रामायणकाल में ज्योतिष पूर्णतया स्थापित हो चुका था। अयोध्या में वेद–वेदाङ्ग में पारङ्गत विद्वानों की अधिकता थी। यथोक्तम् –**तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः।**[१] यहाँ तक भी कहा गया है, कि अयोध्या में वेद–वेदाङ्ग ज्ञानरहित कोई द्विज नहीं था – **नाषडङ्गविदत्रास्ति**.....।[२] स्वयं राम धनुर्वेद, वेद, वेदाङ्ग में निष्णात थे – **धनुर्वेदे च वेदे च वेदाङ्गेषु च निष्ठितः।**[३]

१. मुहूर्त – रामायणकालीन समाज में शकुनों और अपशकुनों का बहुत विचार किया जाता था। वहाँ पर कोई भी नवीन कार्य शुभ मुहूर्त में मंगलवचनपूर्वक ही प्रारम्भ किया जाता था। जिनको निम्न उदाहरणों में देखा जा सकता है।

यज्ञारम्भ– राजा दशरथ ने पुत्र की प्राप्ति हेतु यज्ञारम्भ का विचार शुभ बसन्त ऋतु के आरम्भ में ही किया था।[४]

यात्रारम्भ– राजा दशरथ पुत्रेष्टि यज्ञ हेतु अपने महल से शुभ नक्षत्र वाले दिन में ही निकले थे।[५] भरत ने राम को वन से लौटाने के लिए मैत्र नामक मुहूर्त में उत्तम प्रयाग वन की ओर प्रस्थान किया था –

* सहायक आचार्य – संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय गंगापुर सिटी, सवाईमाधोपुर, राजस्थान

मैत्रे मुहूर्ते पश्ययौ पश्यागवनमुत्तमम्।[६]

राम रावण पर आक्रमण के लिए प्रयाण हेतु विजय मुहूर्त को श्रेष्ठ मानते हैं –

अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचय।
युक्तो मुहूर्ते विजये प्राप्तो मध्यं दिवाकरः।।[७]

और उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र में यात्रा को शुभ कहते हैं।[८] इसी प्रकार राम ने रावण पर आक्रमण के लिये ज्योतिष शास्त्रोक्त शुभ मुहूर्त में प्रस्थान किया – **कालज्ञो राघवः काले संयुगायाभ्यचोदयत्।**[९]

विवाह – राम और लक्ष्मण के अभ्युदयार्थ उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र में उनका विवाह कार्य किया गया था। यथोक्तम् –

फल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयोरर्थे दानं कार्यं सुखोदयम्।।[१०]

माता नर्मदा ने भी उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र में ही अपनी तीनों महाभाग्यवती कन्याओं को तीनों राक्षसराजों के हाथों में दिया।[११]

युवराजपदग्रहण – राजा दशरथ पुष्य नक्षत्र में राम को युवराज पद पर आसीन कराना चाहते थे। यथा– **तस्मात् त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि।**[१२]

नूतन गृहप्रवेश – चित्रकूट पर्वत पर पहुँचकर कुटि निर्माण के लिए राम को लक्ष्मण ने निर्देश देते हुए कहा है –

ऐणेयं श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम्।
त्वरं सौम्यमुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च दिवसो ह्ययम्।।[१३]

यदि अशुभ मुहूर्त में कोई कार्य किया जाता है, तो वह विनाशकारी होता है। रावण ने मुहूर्त का विचार किए बिना विन्द मुहूर्त में सीता का हरण किया था। यह मुहूर्तहरणकर्ता का विनाश और खोये धन को मिला देता है। यथोक्तम् –

विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत्।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
झषवद् वडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति।।[१४]

इस प्रकार यहाँ नवीन कार्य के प्रारम्भ हेतु मुहूर्त विचार की पर्याप्त चर्चा हुई है। साथ ही शुभ तथा अशुभ शकुनों का विस्तृत कलेवर दिखायी देता है। सीता ने शकुनों के सन्दर्भ में कहा है कि मनुष्य को सुख दुःख प्राप्ति के सूचक लक्षण, स्वप्न, पक्षियों के स्वर तथा उनके दायें बायें दर्शन आदि शुभाशुभ निमित्त अवश्य दिखायी देते हैं –

निमित्तं लक्षणं स्वप्नं शकुनिस्वरदर्शनम्।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां परिदृश्यते।।[१५]

२. शुभशकुन –रामायणकाल में प्रकृति और मानव के शरीरगत संकेतों से कुछ शुभ शकुन माने जाते थे। राजा दशरथ जब अपने चारों पुत्रों का विवाह करवाकर अयोध्या को लौट रहे थे, तब मार्ग में शुभ

और अशुभ दोनों ही शकुन हुए। यहाँ पर मृगादि राजादि को दाहिने रखकर जा रहे थे, जो उपस्थित होने वाले अशुभ भय की शान्ति को सूचित कर रहे थे – **मृगाः प्रशमयन्त्येते संतापस्त्यज्यतामयम्।**[१६]

प्रयाण करने से पूर्व व्यक्ति मंगल निमित्त का दर्शन करना आवश्यक समझता था – **प्रयाणमांगल्यनिमित्तदर्शनात्**। राम राक्षस कबन्ध के साथ होने वाले युद्ध में वञ्जुलपक्षी के जोर–जोर से बोलने को विजय का द्योतक मानते थे –

एष वञ्जुल्को नाम पक्षी परमदारुणः।
आवयोर्विजयं युद्धे शंसन्निव विनर्दति।[१७]

अशोक वाटिका में व्यथित सीता जब प्राण त्याग के लिए उद्यत हुई, तब शुभाङ्गी सीता के समक्ष ऐसे बहुत से लोक प्रसिद्ध श्रेष्ठ शकुन प्रकट हुए, जो शोक की निवृत्ति करने वाले और उन्हें ढाढस बंधाने वाले थे –

तस्या विशोकानि तदा बहूनि। धैर्यार्जितानि प्रवराणि लोके।।
प्रादुर्निमित्तानि तदा बभूवुः। पुरापि सिद्धान्युपलक्षितानि।।[१८]

वहाँ सीता को कई शुभ शकुन हुए –

तथागतां तां व्यथितामनिन्दितां व्यतीतहर्षां परिदीनमानसाम्।
शुभां निमित्तानि शुभानि भेजिरे नरं श्रिया जुष्टमिवोपसेविनः।।[१९]

उस समय सीता का बायां नेत्र, बायीं भुजा, बायीं जांघ भी फड़कने लगी।[२०] सीता का मलिन रेशमी पीताम्बर तनिक खिसक गया और भावी शुभ की सूचना देने लगा –

एतैर्निमित्तैरपरैश्च सुभ्रुः संचोदिता प्रागपि साधुसिद्धैः।
वातातपक्लान्तमिव प्रणष्टं वर्षेण बीजं प्रतिसंजहर्ष।।[२१]

उनका बिम्बफल के समान लाल ओंठों, सुन्दर नेत्रों, मनोहर भौहों, रुचिर केशों, बांकी बरौनियों, श्वेत उज्ज्वल दाँतो से सुशोभित मुख राहु के ग्रास से मुक्त हुए चन्द्रमा की भांति प्रकाशित होने लगा।[२२] इन शुभ शकुनों से सीता शोक और थकान से रहित हो गई।[२३]

जब राम रावण पर आक्रमण के लिए प्रयाण करते हैं, तो उन्हें दाहिनी आँख का फड़कना आदि अनेक शकुनों से विश्वास होने लगता है, कि मैं जनक नन्दिनी सीता को अवश्य ले आऊँगा –

निमित्तानि च पश्यामि यानि प्रादुर्भवन्ति वै।
निहत्य रावणं सीतामानयिष्यामि जानकीम्।।
उपरिष्टाद्धि नयनं स्फुरमाणमिमं मम।
विजयं समनुप्राप्तं शंसतीव मनोरथम्।।[२४]

अन्यत्र भी राम को विजयसूचक शकुनों का दर्शन होता है –

रामस्यापि निमित्तानि सौम्यानि च शिवानि च।
बभूवुर्जयशंसीनि प्रादुर्भूतानि सर्वशः।।

निमित्तानीहसौम्यानी राघवः स्वजयाय वै।
दृष्ट्वा परमसंहृटो हतं मेने च रावणम्।।[२५]

त्रिजटा को स्वप्न में अनेक शुभ शकुन दिखायी दिये थे। राम, लक्ष्मण और सीता का सहस्त्र घोडों वाले रथ की गजदन्त से निर्मित शिविका में बैठना, श्वेत माला एवं वस्त्र, श्वेत गन्ध व अनुलेपन धारण करना, चन्द्र सूर्य के समीप पहुँचकर हाथ से स्पर्श करना, नृत्य, गीत, शंख, निर्घोषादि से सम्मानित होना, श्वेत पर्वत पर आरूढ होना आदि मंगल एवं शुभ स्वप्नों के संकेतों से त्रिजटा को राम की विजय का निश्चय हो गया था[२६] ..... **न हि रामो महातेजाः शक्यो जेतुं सुरासुरैः।**[२७]

लक्ष्मण भी शकुनों को जानने में कुशल थे। सीतान्वेषण में तत्पर राम को लक्ष्मण शकुनों को इंगित कर नैर्ऋत्य दिशा की ओर चलने के लिए कहते हैं –

दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः।
साधु गच्छावहे देव दिशमेतां च नैर्ऋतीम्।।[२८]

साथ ही युद्धकाण्ड में शुभ शकुनों को दिखाकर राम को उनकी विजय के लिए आश्वस्त करते हैं। वह शीतल, मन्द, हितकर, सुखमय वायु बहना, पशु और पक्षियों का मधुर स्वर में बोलना, दिशाएँ प्रसन्न होना, निर्मल सूर्यदेव, उज्ज्वल शुक्र, ध्रुवतारा, सप्तर्षिगण का प्रकाशित होना, ध्रुवतारा को दाहिने रखकर सप्तर्षिगण का परिक्रमा लगाना, उपद्रवशून्य निर्मल विशाखा नामक युगल नक्षत्र का प्रकाशमान होना, स्वच्छ और उत्तम रस से परिपूर्ण जल, ऋतु के अनुसार फल, पुष्पमय वृक्ष आदि शुभ शकुनों का वर्णन करते हैं।[२९]

३. अपशकुन

रामायण में अपशकुनों का बहुत अधिक वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ पर किसी भी अशुभ घटना के होने से पहले अपशकुनों का उल्लेख आवश्यक रूप से होता है। राजा दशरथ पुत्रों के विवाहोपरान्त अयोध्या के लिए चले तब मार्ग में अपशकुन हुए, जो कि भावी परशुराम के क्रोध को इंगित कर रहे थे।

असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः।[३०]
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम्।[३१]

राजा दशरथ को स्वयं की वृद्धावस्था के आगमन का भान होने पर अपशकुन, उत्पातों का भय सूचित होने लगा।[३२] भरत को ननिहाल में स्वप्न में अनेक अपशकुन दिखायी दिये, जो प्रिय की मृत्यु के सूचक थे।[३३] ननिहाल से लौटते समय मार्ग में और अयोध्या में प्रवेश करते समय भी अनेक अपशकुन उन्हें प्राप्त हुए।[३४] खरसेनाप्रयाण,[३५] इन्द्रजित् का हनुमान से युद्धार्थ गमन,[३६] कुम्भकर्ण का युद्धक्षेत्र गमन,[३७] धूम्राक्ष का युद्धहेतु निकलना,[३८] मकराक्ष का युद्धक्षेत्र गमन,[३९] वज्रदंष्ट्र का युद्धक्षेत्र गमन,[४०] अकम्पन का युद्धार्थ गमन,[४१] प्रहस्त का युद्धहेतु गमन,[४२] रावण का युद्धप्रयाण,[४३] रामरावणयुद्ध[४४] आदि में राक्षसों की भावी पराजयसूचक अनेक अपशकुन हुए हैं, जो लगभग एक ही प्रकार के हैं। यथा –

इमान् पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः।
समुत्थितान् महोत्पातान् संहर्तुं सर्वराक्षसान्।।[४५]

सीता को पंचवटी में एकाकी छोडकर जाते समय लक्ष्मण ने अनेक अपशकुन अनुभव कर सीता की

सकुशलता की चिन्ता की।

निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे।
अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः।।[४६]

सीताहरण के पश्चात् सूनी पंचवटी में राम के लौटते समय,[४७] राम को राक्षस कबन्ध से भेंट होने से पूर्व,[४८] त्रिजटा को स्वप्न में रावण विषयक[४९] अनेक अपशकुन दिखायी दिये। अशोक वाटिका में सीता को बन्दी बना लेने पर लंका में,[५०] रावण के जन्म पर,[५१] हनुमान द्वारा अशोक वाटिका का विध्वंश करने से पूर्व भी[५२] अनेक अपशकुन हुए। युद्ध के लिए व्यूह रचना का निर्देश देते समय राम को लोकसंहार की सूचना देने वाले अपशकुनों का दर्शन होता है, जिससे उन्हें रीक्षों, वानरों और राक्षसों के मुख्य वीरों के संहार का विश्वास हो जाता है[५३] और वह लक्ष्मण से कह उठते हैं –

लोकक्षयकरं भीमं भयं पश्याम्युपस्थितम्।
प्रबर्हणं प्रवीराणामृक्षवानरराक्षसाम्।।[५४]

इन अपशकुनों को निम्न संकेतों के माध्यम से देख सकते हैं –

१. प्रकृतिगत संकेत– प्रकृतिगत संकेतों में उल्कापात, धूसर रंग के बादलों का छा जाना, रक्तमय जल की वर्षा, सूर्य मण्डल के चारों ओर अलातचक्र के समान गोलाकार काला घेरा दिखायी देना, राहु का अमावस्या के विना ही सूर्य को ग्रसना, तीव्र गति से हवा चलना, सूर्य की कांति फीकी पड़ना आदि लक्षण प्राप्त होते हैं, यथा –

जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः।
प्रवाति मारूतः शीघ्रं निष्प्रभोऽभूद् दिवाकरः।।[५५]

बिना रात के तारे उदित होना, सरोवर में कमल सूख जाना, असमय वृक्षों के फूल, फल झड़ जाना, पर्वत, वन, कानन सहित धरती काँपना, सम्पूर्ण दिशाओं का जलती सी प्रतीत होना, सम्पूर्ण दिशाओं का मलिन दिखना, मंत्रों द्वारा विधिपूर्वक धधकाने पर भी आग का अच्छी तरह प्रज्ज्वलित न होना, आग से चिनगारी निकलना, आग के साथ मलिन धुआँ, बिजली की गड़गड़ाहट, पर्वत के शिखर हिलना, पेड़ गिरना, लाल, चंदन के समान कांति धारण करने वाली संध्या का भयंकर रूप से दिखना, प्रज्ज्वलित सूर्य से आग की ज्वालाएँ टूट-टूट कर गिरना, चन्द्रमा का पूर्णतः प्रकाशित न होना और शीतलता के स्थान पर ताप देना, सूर्य मण्डल में नीला चिह्न दिखायी देना, तारों का धूलाच्छन्न होना, दिशाएँ धूल से भर जाना, बड़े वेग से उठे बवंडर द्वारा वामावर्त परिक्रमा लगाना, सूर्य की किरणों का लाल, पीला, सफेद, काला दिखना, समुद्र का विक्षुब्ध होना आदि लक्षण प्राप्त होते हैं।

२. पशु पक्षियों के संकेत – रामायण में पशु पक्षियों के संकेतों के माध्यम से अनेक अपशकुनों को अनुभव किया गया है। यहाँ पर पशु पक्षियों का दीन दिखायी देना, रथ की ध्वजा पर गिद्ध का बैठना, कठोर स्वर वाले मांस भक्षी पशु तथा पक्षियों का विकृत स्वर में विकट शब्द बोलना, मुँह से आग उगलने वाली भयंकर गीदड़ियों का अमंगलसूचक घोर शब्द आदि अपशकुन प्राप्त होते हैं, यथा –

कङ्कगोमायुगृध्रश्च चक्रुशुर्भयशंसिनः।
नित्याशिवकरा युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः।।[५६]

अन्यत्र वन सारिकाएँ चें-चें कर झगड़ने लगती हैं। मृगादि पशु एवं पक्षियों का बायें रखकर चलना, अग्निशालाओं तथा वेदाध्ययन के स्थानों में साँप दिखना, हवन सामग्री में चींटियाँ पड़ना, गायों का दूध सूखना, गजराजों का मद रहित होना, घोड़ों का दीन स्वर में हिनहिनाना आदि अपशकुन प्राप्त होते हैं -

गवां पयांसि स्कन्नानि विमदा वरकुञ्जराः।
दीनमश्वाः प्रहेषन्ते नवग्रासाभिनन्दिनः।।[५७]

वहाँ पर गधों, ऊटों, खच्चरों के रोंगटे खड़े होना, नेत्रों से आँसू गिरना, विधिपूर्वक चिकित्सा करने पर भी उनका स्वस्थ न होना, क्रूर कौओं का झुण्ड के झुण्ड एकत्रित होकर कर्कश स्वर में मकानों की छत पर काँव काँव करना, झुण्डों में गीध का मंडराना, घोड़े, हाथी आदि वाहनों का रोना, हिंसक पशुओं का उपवन में झुण्ड बनाकर बैठना, घर की बलि सामग्री को कुत्तों द्वारा खा जाना, गौओं से गधों और नेवलों से चूहों का पैदा होना, बाघों के साथ विलाव, कुत्तों के साथ सुअर, राक्षस व मनुष्यों के साथ किन्नरों का समागम, सफेद आँख लाल पंजे वाले कबूतरों का विचरण, पक्षी एवं मृगों का सूर्य की ओर मुखकर के रोना, घोड़ों की जांघों से आग व आँखों से आँसू निकलना आदि अपशकुन हुए।

३. स्वशरीरगत संकेत - स्वयं के शरीर में होने वाले परिवर्तन भी अनेक अपशकुनों को सूचित करते हैं। जिनके संकेत स्वर अवरुद्ध होना, अकारण आँखों से आँसू आना, मुख का प्रभाहीन होना, शरीर में कम्पन होना, हाथ में पकड़ी वस्तु का गिरना, पुरुष के बाए अंग तथा स्त्री के दाहिने अंग का फड़कना आदि प्राप्त होते हैं। यथा -

स्पन्दते मे दृढं बाहुरुद्विग्नमिव मे मनः।
प्रायशश्चाप्यनिष्टानि निमित्तान्युपलक्षये।।[५८]

४. मानसिक परिवर्तनगत संकेत - मन में होने वाले परिवर्तन सिरदर्द, मन अत्यन्त दीन और अप्रसन्न, उद्विग्न प्रतीत होना, चित्त अशान्त, हृदय में अस्वस्थता एवं दीनता का अनुभव, स्मरणशक्ति का ह्रास, सम्पूर्ण पृथिवी सूनी होने का भान होना आदि के द्वारा भी अपशकुनों को सूचित किया गया है। यथा-

किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति।[५९]

रामायण में दो स्थानों पर स्वप्न में अपशकुनों का दर्शन होता है। भरत को अपने ननिहाल में रहते हुए दुःस्वप्न दिखायी देता है।[६०] जिसमें उन्होंने सिर के बाल खुले होना, पर्वत की चोटी से गोबर भरे गंदे गड्ढे में गिरना, गोबर के कुण्ड में तैरना, अञ्जलि भरकर तैल पीना, बार-बार हँसना, तिल भात खाना, सारे शरीर में तैल लगाना, तैल में गोते लगाना, समुद्र सूखना, चन्द्रमा का पृथिवी पर गिरना, पृथिवी का अंधकार से आच्छादित होना, हाथी का दांत टूटना, सहसा प्रज्ज्वलित आग का बुझ जाना, पृथिवी फट जाना, वृक्ष सूख जाना, पर्वत ढहना, उनसे धुआँ निकलना आदि अपशकुन देखे। वहीं पर काले लोहे की चौकी पर काला वस्त्र, लाल फूलों की माला पहने, लाल चंदन लगाए काले व पिंगल वर्ण की स्त्रियों द्वारा प्रहारित होना और गधे जुते हुए रथ पर बैठना, लाल वस्त्र धारण की राक्षसी द्वारा खींचा जाना आदि अशुभ लक्षण दिखायी दिए। लंका में त्रिजटा को भी कुछ कुछ इसी प्रकार का स्वप्न दिखायी दिया।[६१]

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थानों पर मुहूर्त, शकुन, अपशकुनों का उल्लेख है, जो तत्कालीन समाज में प्रचलित ज्योतिष के ज्ञान पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डालता है। स्वयं बालि ने अपनी

पत्नी तारा को उत्पात चिह्नों को जनने में निपुण कहा था –

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पात्तिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिताः।।[६२]

यहाँ पर दशरथ, राम लक्ष्मण, भरत, सीता, विभीषण, तारा, हनुमान्, रावण आदि पात्र निमितों का पूर्ण ज्ञान रखते हैं। अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है, कि इस समय ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान अध्ययन का विषय था।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. वाल्मीकि रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०६०, २६वाँ संस्करण – १.५.२३
२. तत्रैव – १.६.१५, १.१४.२१
३. तत्रैव – ५.३५.१४
४. तत्रैव – १.१२.१ – वसन्ते समनुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत्।
५. तत्रैव – १.१३.३९
६. तत्रैव – २.८९.२१
७. तत्रैव – ६.४.३
८. तत्रैव – ६.४.५ – उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते। अभिपश्याम सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः।।
९. तत्रैव – ६.४१.२५, ६.४१.२६
१०. तत्रैव – १.७१.२४, अपि च – १.७२.१३
११. तत्रैव – ७.५.३३, ७.५.३४
१२. तत्रैव – २.३.४१, अन्यत्र – २.२.१२, २.४.२, २.४.२२, २.४.३३, २.७.११, २.८.९, २.१४.२५,२.१४.४२, २.१५.३
१३. तत्रैव – २.५६.२५
१४. तत्रैव – ३.६८.१३
१५. तत्रैव – ३.५२.२
१६. तत्रैव – १.७४.१३
१७. तत्रैव – ३.६९.२३
१८. तत्रैव – ५.२८.१९.
१९. तत्रैव – ५.२९.१
२०. तत्रैव – ५.२९.२, ५.२९.३, ५.२९.४
२१. तत्रैव – ५.२९.६
२२. तत्रैव – ५.२९.७
२३. तत्रैव – ५.२९.८
२४. तत्रैव – ६.४.६, ६.४.७
२५. तत्रैव – ६.१०६.३५, ६.१०६.३६
२६. तत्रैव – ५.२७.२१– ५.२७.२१, ५.२७.३२ – ५.२७.३५
२७. तत्रैव – ५.२७.२१
२८. तत्रैव – ३.६४.२२

२९. तत्रैव – ६.४.४४ – ६.४.५०, ६.४.५३, ६.४.५४
३०. तत्रैव – १.७४.१०
३१. तत्रैव – १.७४.१२
३२. तत्रैव – २.१.४३, २.४.१७, २.४.१८, २.४.१९
३३. तत्रैव – २.६९.१, २.६९.२, २.६९.८ – १९
३४. तत्रैव –२.७१.२२ – २.७१.३०, २.७१.३६ – २.७१.४४
३५. तत्रैव – ३.२३.१ – ३.२३.१९
३६. तत्रैव –५.४८.२२ – ५.४८.२३
३७. तत्रैव – ६.६५.४७ –६.६५.५२
३८. तत्रैव – ६.५१.३१ – ६.५१.३५
३९. तत्रैव – ६.७८.१७ – ६.७८.२०
४०. तत्रैव – ६.५३.१३ – ६.५३.१६
४१. तत्रैव – ६.५५.९ – ६.५५.१२
४२. तत्रैव – ६.५७.३३ –६.५७.३९
४३. तत्रैव – ६.९५.४३ – ६.९५.४७
४४. तत्रैव – ६.१०६.२० – ६.१०६.३३
४५. तत्रैव – ३.२४.३
४६. तत्रैव – ३.४५.३४
४७. तत्रैव – ३.५७.२ – ३.५७.२३, ३.६०.१, ३.६०.२
४८. तत्रैव – ३.६९.२१, ३.६९.२२
४९. तत्रैव –५.२७.२२ – ५.२७.३१, ५.२७.३७ – ५.२७.४०
५०. तत्रैव – ६.१०.१४ – ६.१०.२१, ६.३५.२४ – ६.३५.३४
५१. तत्रैव – ७.९.३०, ७.९.३१, ७.९.३२
५२. तत्रैव – ३.४२.२
५३. तत्रैव – ६.२३.१ – ६.२३.११, ६.४१.१२ – ६.४१.२१
५४. तत्रैव – ६.२३.३
५५. तत्रैव – ३.२३.१२
५६. तत्रैव –३.२३.१०
५७. तत्रैव – ६.१०.१७
५८. तत्रैव – ३.६९.२१
५९. तत्रैव – १.७४.११
६०. तत्रैव – २.६९.१, २.६९.२, २.६९.८ – २.६९.१९
६१. तत्रैव – ५.२७.९ – ५.२७.४०
६२. तत्रैव – ४.२२.१३

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

डॉ. हरिदत्त शर्मा के एकाङ्कियों में प्रतिपादित समस्याएँ

डॉ. देवराज*

२१वीं शताब्दी के साहित्यकारों में डॉ. हरिदत्त शर्मा भी अग्रपंक्ति के साहित्यकारों में से एक हैं। इनका जन्म उत्तर प्रदेश के हाथरस नगर में २७ सितम्बर १९४८ ई. को हुआ। इनके पिता का नाम लहरीशंकर शर्मा तथा माता का नाम हरप्यारी देवी था। डॉ. शर्मा बचपन से ही मेधावी छात्र रहे हैं। इनकी उच्चतर शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पूर्ण हुई है। इन्होंने संस्कृत काव्य एवं संस्कृत साहित्य में विशेष अध्ययन किया जिसके कारण इन्हें अनेकों सम्मान प्राप्त हुए हैं। इनकी अनेकों रचनाएँ जिनमें निबन्ध–निकुञ्जम्, गीतकन्दलिका, उत्कलिका प्रमुख रूप से प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त त्रिपथगा और आक्रन्दनम् एकाङ्की संग्रह प्रमुख है। त्रिपथगा में तीन तथा आक्रन्दनम् में चार एकाङ्कियों का संग्रह है। इनका प्रत्येक एकाङ्की किसी न किसी समस्या पर आधारित है। इसी कारण से इनके एकाङ्कियों में प्रतिपादित समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया जा रहा है।

भारत में सामाजिक समस्याएँ हमारे जीवन का अविभाज्य अंग बनकर रह गई हैं, क्योंकि मानव समाज इन समस्याओं से न तो कभी पूर्णतया मुक्त रहा है और न ही कभी इन समस्याओं से मुक्त हो पायेगा। यद्यपि आधुनिक भारत में जन संचार और शिक्षा के माध्यम से मानव इन समस्याओं के प्रति सजग और संवेदनशील तो हो गया परन्तु ये समस्याएँ आज भी हमारे समाज में विद्यमान है। जिस प्रकार समाज में परिवर्तन तीव्र गति से हो रहा है उसी प्रकार समस्याएँ भी बढ़ती ही जा रही हैं। मानव समाज इन समस्याओं के निराकरण के लिए सदा प्रयत्नशील भी है; क्योंकि ये समस्याएँ समाज में विघटन की स्थिति पैदा करती हैं जिससे समाज के अस्तित्व को खतरा पैदा हो जाता है।

भारतीय समाज में आज अनेकों समस्याएँ विकराल रूप लिए खड़ी हैं। यद्यपि राज्य एवं समाज इन समस्याओं के निराकरण के लिए प्रयासरत हैं फिर भी इन समस्याओं से सम्प्रति समाज ग्रसित ही है। डॉ. हरिदत्त शर्मा ने भी किसी न किसी समस्या को लेकर अपने एकाङ्कियों की रचना की है। **त्रिपथगा** इनका प्रथम एकाङ्की संग्रह है जिसमें '**साक्षात्कारीयम्**' पहला एकाङ्की है। यह एकाङ्की हमारे समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार की समस्या को उजागर करता है।

भ्रष्टाचार की समस्या

भ्रष्टाचार दो शब्दों के मेल से बना है – भ्रष्ट+आचार। भ्रष्ट का अर्थ होता है– पतित और आचार का अर्थ होता है – चरित्र। इसलिए पतित चरित्र वाले व्यक्ति को भ्रष्ट आचार वाला कहा जाता है। व्यक्ति जिन कर्मों से समाज और राष्ट्र का बुरा सोचता है ऐसे कर्मों का भ्रष्टाचार कहते हैं। भारत में भ्रष्टाचार ने अपनी जड़ें मजबूत की हुई है। आज भारत में मध्यमवर्गीय व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने तथा अपने

* सहायक आचार्य, संस्कृत इक्डोल, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला, हिमाचल प्रदेश

आर्थिकी में सुधार करने के लिए रिश्वत का सहारा लेता है। किसी भी व्यक्ति को रिश्वत के रूप में धनराशि मिलने पर कोई भी कार्य सरल हो जाता है। किसी की प्रोन्नति के लिए भी आज घूस ली जाती है। विक्रम की भ्रष्ट अधिकारियों के साथ मेल-जोल न होने के कारण से उसकी प्रोन्नति रुक गई है। इसका मनोरम वर्णन डॉ. हरिदत्त शर्मा ने अपने एकाङ्की '**वृक-विक्रोशनम्**' में किया है –

वन्दिता- तर्हि दुर्वृत्ता अधिकारिणः तव सेवामार्गे पदे पदे बाधाः उपस्थापयिष्यन्ति। यथाऽनेन प्रबन्ध-निदेशकेन केडियामहोदयेन तव सेवावृत्तेः गोपनीय आख्या दुरभिसन्धिपूर्वकम् अन्यथाकारिता। ततस्तव प्रोन्नतिरपि अवरुद्धा।[१]

किसी औद्योगिक संस्थान का निदेशक अपने लाभ के लिए विदेशी मशीनों को खरीदना चाहता है किन्तु उसके कार्यालय के कर्मचारी द्वारा इस पर आपत्ति जताई जाती है।

केडिया- वैदेशिकानाम् उत्पादनयन्त्राणां क्रयविषये या पत्रावली प्रचलति, तस्यां कथम् आपत्तयः निषेधकटिप्पण्यश्च प्रस्तुता भवता?

विक्रमः - महोदय! वैदेशिकेन औद्योगिकसंस्थानेन या वित्तविवरणविशेषाः प्रस्तुताः, ये

अनुचिताः समयाश्च प्रदत्ताः, तेन अपि अस्माकं संस्थानस्य भारतशासनस्य च भूयसी क्षतिर्भवेत्।

केडिया - प्रत्येकं प्रगतिकार्ये त्वमेव अवरोधं उपस्थापयसि।

विक्रमः - नाहं प्रगतिकार्यस्य अवरोधकः किन्तु न कार्येण अस्माकं राष्ट्रस्य प्रगतिमार्गे भूयसी अर्थहानिर्भवेत, तदेव अवरुणध्मि। यन्मात्रं उचितं तस्य त्रिगुणितं धनं राष्ट्रस्य कोषादेव आहृतं भविष्यति चेत्तदा राष्ट्रं क्व गमिष्यति?[२]

निदेशक केडिया उसके लिए पचास लाख रूपये की घूस ले चुका है जिसके कारण वह इन मशीनों को खरीदने के लिए उत्सुक है –

विक्रमः - अपराधेभ्यः मोचनम्? सुस्पष्टं तेन वैदेशिकयन्त्रक्रयप्रसङ्गे पञ्चाशल्लक्ष्यरूप्यकाणाम् उत्कोचो गृहीतः, वित्तव्यवस्थायां भूयः उर्ध्वमधः विपरिवर्तनं कृतम्, नियुक्तिषु स्वच्छन्दतया स्वार्थसाधनं विहितम्, कार्यालये एव अनाचाराः पापाचाराः कृताः। नैकं पापम्, पापानां परम्परा वर्तते।[३]

सम्पूर्ण भ्रष्ट व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगा हुआ है। अधिकतर विभाग आज भ्रष्टाचार के गढ़ बन चुके हैं। अन्य विभाग भी इससे अछूते नहीं है। आज प्रत्येक प्रार्थना पत्र, परमिट, प्रोन्नति, स्थानान्तरण के मूल्य निर्धारित हैं। नौकरी लेने के लिए भी मूल्य देना पड़ता है। इसका सुन्दर वर्णन डॉ. हरिदत्त शर्मा ने अपने एकाङ्की '**वधूदहनम्**' में किया है –

सर्वेशः - नाद्यापि मे कार्यं सम्पन्नम्। रसायनशास्त्रे पी-एच. डी. इत्युपाधिं गृहीत्वाऽपि तदनुरूपा सेवा न प्राप्यते।

रमापतिः - किं कथितं तेन आयोगलिपिकेन?

सर्वेशः - स पूर्वं दशसहस्त्रमुद्रां याचते।

रमापतिः - दशसहस्त्रमुद्राः।

सर्वेशः - आम्, तद्धनस्य अधिकारिणि लिपिके च विभाजनं भविष्यति। तावेव चयनतालिकायाम् अन्यथाकर्तुं समर्थौ।[४]

दहेज की समस्या

भारत में दहेज की समस्या एक विकराल रूप ग्रहण किए हुए है। आज २१वीं शताब्दी में भी दहेज के कारण से नारियों को यातनायें दी जा रही हैं और सैकड़ों बहुएँ दहेज के कारण मारी जा रही हैं। जिन हाथों से लोग वधू का पाणिग्रहण करते हैं उन्हीं हाथों से उसका वध कैसे करते हैं? इस विषय पर डॉ. हरिदत्त शर्मा व्यथित हैं। समाज में व्यक्ति गुणों पर विश्वास न करके धन-प्राप्ति के लिए अपने पुत्र की बोली लगाने को तैयार है। वह अपने इंजीनियर पुत्र के लिए टी. वी., स्कूटर, फ्रिज आदि को बहुत ही छोटी चीज मानते हैं। वह इसके साथ एक लाख रूपये तक की माँग कर डालते हैं। इसका सुन्दर वर्णन डॉ. हरिदत्त शर्मा ने 'वधूदहनम्' में किया है -

सुवीरा - दूरदर्शनं स्कूटरयानं, प्रशीतकयन्त्रं सर्वमिदं साधारणं देयमिदानीम्। अतिसामान्यजना अपि वस्तून्येतानि लभन्ते, पुनरस्माकं पुत्रस्तु 'जूनियर इजींनियरः।' एकलक्षयौतुकस्य प्रस्तावोऽप्येकः अस्माभिः निराकृतः।[५]

तिलकोत्सव पर वर पक्ष को अधिक धन न मिलने के कारण वह इस सम्बन्ध को ठुकरा कर चले जाते हैं।

श्रीपालः - किं स्वपुत्र्यै एव सर्वं प्रदास्यन्ति भवन्तः? न वराय, वरजनकाय वा। कति सुवर्णमयानि आभूषणानि दास्यन्ते भवता? वररक्षायां तिलकावसरे च रूप्यकाणां कियत्सहस्रं दास्यते भवता?

गिरिनाथः - यथासम्भवम् अधिकाधिकम्। तिलकोत्सवाय अष्टसहस्ररूप्यकाणां प्रबन्धः कृतो मया।

श्रीपालः - किम् अवमूल्यनं क्रियते अस्मत्पुत्रस्य? तिलकोत्सवे त्रिंशत्सहस्ररूप्यकेभ्यः एकपणमपि न्यूनं न ग्रहीष्यामि। पञ्चसहस्ररूप्यकाणि मम सम्बन्धिभ्यः वितरणाय अपेक्षितानि। यदि नास्ति दातुं शक्तिः, निराकृतोऽयं विवाहप्रस्तावः। चलन्तु सर्वे। (वरपक्षिणो गन्तुमिच्छन्ति)।[६]

आज भी दहेज विषयक समाचार, समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलते हैं। दहेज के लोभवश नारी को यातनाएँ दी जाती है। अभी भी पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता नहीं बदली है और नारी उत्पीड़न विविध रूपों में चल रहा है। आज भी पुरुष के पुरुषत्व के दम्भ तले अबला को प्रताड़ित और प्रपीड़ित किया जा रहा है और समाज उसे सहन कर रहा है। स्वयं युवावर्ग भी माता-पिता की दहेज सम्बन्धी बात का समर्थन करते हैं। दहेज के कारण स्त्रियों को भाँति-भाँति से प्रताड़ित किया जाता है। उसे कहीं पर घर की छत से नीचे धक्का देकर गिराया जाता है -

सोनाली - सखि! अङ्गभङ्गः कथं जातः?

शकीला - तेनैव मम भर्त्रा कृतमिदं, येन सकलस्य लोकस्य समक्षे अहं पत्नीरूपेण शपथपूर्वकम् अङ्गीकृता। अत्याचाराणां चरमा सीमा तदा जाता यदा एकस्मिन् दिने क्रोधान्धेन

तेनाहं भृशं ताड्यमाना गृहस्य छादात् अधः पातिता।[७]

तो कहीं पर उसे रसोई घर में गैस या स्टोव की आग से जलाया जाता है –

अवनीशः – रामपुरात् तव समधी-सम्बन्धी एकः समागतः। तेन सूचितं यत् पुत्री प्रमीला भोजनं पचन्ती स्टोवाग्नि दग्धा।

गिरिनाथः – दग्धा ! कुत्र, कदा, कियतो दग्धा? कुत्र सा, कथं सा?

नन्दिता – रे रे दग्धा। भगिनी मे घातिता। नूनं न दग्धा, दाहिता सा। ज्वालिता हा ज्वालिता![८]

कन्या के जन्म को आज भी समाज में अशुभ माना जाता है। कन्या के लिए विवाह योग्य वर ढूंढना बहुत ही कठिन है; क्योंकि वर पक्ष वाले अधिक धन की माँग करते हैं। यदि उनका विवाह हो भी गया तो ससुराल वाले उसे दबाकर रखते हैं। यहाँ तक की उसका पति भी दहेज न मिलने के कारण उसे पैरों की जूती तक कह देता है –

रज्जाकः – न कापि भविष्यति। कः ईदृशं दुस्साहसं कर्तुं प्रभविष्यति? अस्माकं कुटुम्बे तु स्त्री पादयोः पादुका मन्यते पादुका।[९]

शिक्षा एवं प्रतिभा का अवमूल्यन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे समाज में शिक्षा व प्रतिभा का अवमूल्यन हो रहा है। आज शिक्षण संस्थानों में भ्रष्टाचार का वातावरण परिव्याप्त हो गया है। आज बेरोजगारी की उत्कृष्ट प्रतिभाएँ लिपिक पद के लिए भी आवेदन कर रही हैं, परन्तु वह पद भी राजनीति के हस्ताक्षेप के कारण उन्हें नहीं मिल पाता है। प्रतिभा के अवमूल्यन से छात्रों का कितना नुकसान होता है। इसका वर्णन डॉ. हरिदत्त शर्मा ने अपने एकाङ्की '**साक्षात्कारीयम्**' में किया है –

यतीशः – परं परमदुःखविषयोऽयं यत् एकस्य अयोग्यस्य नियुक्तया कतीनाम् अध्येतृपरम्पराणां हानि क्रियते।

भास्करः – परं किं क्रियताम्? ज्ञायते एवं यदनर्हः सः यदा कक्षायां गतः न हि कस्मिन्नपि विषये भाषितुम् अशक्नोत्। छात्राणां प्रश्नान् उत्तरयितुं नितान्तमसमर्थो जातः। छात्रा अत्यसन्तुष्टाः सन्तः यदा विभागाध्यक्षं संङ्कायाध्यक्षं च असन्तोषं निवेदितुं गताः, तदा मूढेन तेन यत् कृतं तद् अनार्यसेवितुम् अशोभनीयमेव च।

सुधीशः – किं तत्?

भास्करः – तेन कक्षायां विद्यार्थिभ्य स्वोदरं दर्शितम्, कथितञ्च 'दयध्वम्' न मे उदर पादैः प्रहरत इति।

यतीशः – अस्य देशस्य चारित्र्यं क्व गतम्। शिक्षालया असदाचार प्रतिष्ठानानि जातानि।[१०]

आज शिक्षा व प्रतिभा के अवमूल्यन के पीछे राजनेताओं का बहुत बड़ा हाथ होता है। वह अपने लाभ के लिए एक मूर्ख व्यक्ति को उच्च पद पर आसीन करवा देते हैं; क्योंकि वह राजनीतिक दृष्टि से उनके लिए आवश्यक अंग है। इसका मनोरम वर्णन डॉ. हरिदत्त शर्मा ने किया है –

मन्त्री - (दूरभाषं हस्तेन गृहन्) भोः डॉक्टर त्र्यम्बक। का वार्ता? किम् कुशलं सर्वम्?

कुलपतिः - कुशलम्, श्रीमन्तः। कुशलम्।

मन्त्री - अपि स्मर्यते मदीया संस्तुतिः?

कुलपतिः - एवं महोदय। स्मर्यते। इदानीं साक्षात्कारः प्रारभत एव।

मन्त्री - पुनरपि दृढं ब्रवीमि यद् हर्षमणिमतिरिच्य न कश्चिदत्र नियोक्तव्यः। जानात्येव भवान् यद् ये मत्कृते किञ्चित् कुर्वन्ति, मयाऽपि तेषां कृते किञ्चिदिदं करणीयम्। इदं राजनीतेरावश्यकम् अङ्गम्।

कुलपतिः - नात्र विस्मरिष्यामि। परं न विशेषज्ञाः किञ्चिदन्यत् कुर्युश्चेत्।

मन्त्री - के ते वराका विशेषज्ञाः। एकमस्तु पूर्वमेव मया राजधान्यां दलविधायकमाध्यमेन वशीकृतः प्रलोभितश्च। अन्यौ भवता वशीकरणीयौ।

कुलपति - एवं श्रीमन्! अहं यथोक्तम् इष्ट सम्पादयामि।[११]

आज एक योग्य व्यक्ति को बाहर का रास्ता दिखाकर एक अयोग्य को उच्च पद पर बैठा दिया जाता है। जिसके कारण योग्य व्यक्ति हतोत्साहित होकर अनुचित कार्य करने लगते हैं।

साम्प्रदायिकता की समस्या

साम्प्रदायिकता की समस्या ने भारत में एक अलग ही स्थान बनाया हुआ है। यद्यपि भारत विभिन्नता में एकता वाला देश है फिर भी यहाँ जाति प्रथा का सम्पूर्ण ढाँचा ऊँच-नीच पर आधारित है। ऐसी व्यवस्था साम्प्रदायिकता के कारणों के लिए उर्वर भूमि उपलब्ध कराती है और राजनेता इस भूमि को और उपजाऊ बनाने के लिए नये-नये उर्वरक पैदा करते हैं। साम्प्रदायिकता भारत के नाम पर एक बहुत बड़ा धब्बा है। हम न सभ्यता, विश्वमानवता और अन्ताराष्ट्रिय सौहार्द का ढोल तो पीट रहे हैं, किन्तु अपने घर में द्वेष रूपी सर्प का दंश नहीं रोक पा रहे हैं -

शाहिदः - किं जातम्? किं जातम्? बन्धे। केन त्वं प्रपीडितः?

शिवदासः - (सवेगं श्वसन्) अहं अहं तव गृहम् आगच्छन्नासम्। मार्गे जातिसंघर्षः समुदित इत्युपद्रवकारिभिः अहमेव स्वमार्गे चलन् स्वप्रहाराणां शरव्यः कृतः। अहं निरन्तरमुच्चैः घोषयन्नासं यत् ----।

शाहिदः - किं किम तत्?

शिवदासः - यन्नाहम् उपद्रवे संसक्तः, नाहं कस्यापि पक्षधरः। परं कः शृणोति? ततो धावन्नहं यथा कथञ्चित् ते गृहद्वारं प्रविष्टः। त्वरितमन्तः प्रविश्य पिहितम चेदम् इत्यनाहतस्ते सम्मुखमुपस्थितः।

ताहिरा - क्षेमं करोतु भगवान्। तत् कृपयाऽद्य अव्यापन्नस्त्वं जातः।

शाहिदः - नगरं पुनः जातिविद्वेषज्वालया ज्वलितम्। त्वं तावन्निश्चिन्तस्तिष्ठ।[१२]

साम्प्रदायिक दंगों के कारण शहर में कर्फ्यू लगा होने से लोगों का घर से बाहर निकलना कठिन हो गया है। लोगों के घरों में खाद्य वस्तुएँ समाप्त हो रही हैं जिसके कारण घरों में खाना न बनने से बच्चे भूख

से किलकारियाँ कर रहे हैं। एक माँ अपने छोटे बच्चे के लिए दूध लेने के लिए पड़ोसी के घर जाती है, परन्तु उसे दूध की एक बूँद भी हासिल नहीं होती है। लोग बीमारी के कारण उपचार न होने से मर रहे हैं। घर के लोग उनके दाह-संस्कार के लिए घर से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। इसका सुन्दर वर्णन डॉ. हरिदत्त शर्मा ने अपने एकाङ्की '**द्वेषदंशनम्**' में किया है।[१३] आज के तथाकथित धर्मनिरपेक्ष नेता साधारण जनता में राष्ट्र के विरूद्ध धार्मिक भावनाओं का उपयोग करके साम्प्रदायिकता फैलाती है –

विधायकः – धर्मनिरपेक्षोऽस्माकं सर्वकार इति सर्वेषामेव धर्मानुयायिनां हितं पश्यति। मया तु स्वसूत्रैर्ज्ञातं, यद् वस्तुतो नायं हिन्दूमुस्लिमविवादः, अपितु सत्तारूढदलं शासनञ्च कलङ्कयितुम् विपक्षिदलानामियं योजनाऽऽसीत्। सा च साम्प्रदायिकविद्वेषव्याजेन सफला जाता।

विपक्षनेता – मया तु अन्यदेव कारणमस्यान्विष्टम्। साम्प्रतं सर्वकारस्य विविधेषु विभागेषु प्रभूतो भ्रष्टाचारः। तस्माद् भ्रष्टाचारात् जनतायाः ध्यानमपसारयितुं शासनदलेन विवादोऽयं सञ्जनितः। साम्प्रतम् एकतायाः घोषैरेव आनिर्वाचनकालं जीविष्यन्ति ते।[१४]

भारत में धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर ही राजनीतिक दलों का गठन होता है। यही सम्प्रदायिक दल धर्म के नाम पर वोट माँगते हैं और ये नहीं चाहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान एक हों –

विधायकः – अस्मिन्नुपद्रवे वैदेशिकीनां शक्तीनां गुप्तचरसंस्थानां च प्रेरणमस्ति इति निश्चप्रचम् अन्यथा असंख्यानाम् आयुधाना विस्फोटकपदार्थानाञ्च आगमः कुतो जायते।

जिलाधिकारी – सन्ति केचिद् आन्तरिकाः शत्रवः येऽधिकां हानि कुर्वन्ति देशस्य। किं न ज्ञातं भवद्भिर्यत् साम्प्रदायिकशान्तिस्थापनायै एका समितिर्नगरे स्थापिता। येन जनेन हिन्दूमन्दिरे मांसलोष्ठः क्षिप्तः, सोऽस्याः समितेः सदस्य आसीत्। अशान्ति प्रसार्य गुप्ततया शान्तिसमितौ प्रविष्टः।[१५]

खालिस्तान की समस्या

खालिस्तान समर्थन में तरनतारन नामक स्थान पर जो भयावह अत्याचार हुआ है उसका यथावत् चित्रण डॉ. हरिदत्त शर्मा ने अपने एकाङ्की '**पञ्चनद-पीडनम्**' में किया है। उस समय पञ्जाब की स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। वहाँ पर अराजकता नग्न नृत्य हो रहा था। भिण्डरावाला और उसके समर्थकों के मन में उस समय हिन्दुओं के प्रति घृणा अत्यधिक बढ़ गई थी। खालिस्तानी समर्थक किस प्रकार बसों में चढ़कर लोगों पर गोलियाँ बरसाकर उन पर अत्याचार करते हैं इसका मनोरम चित्रण किया है –

मिल्खासिंहः – इमे खालिस्तान-कमाण्डो-फोर्स सैनिकाः अहं च तेषां प्रमुखः सरदार मिल्खासिंहः।

गुरमीतः – अहमपि सरदारः सिक्खधर्मावलम्बी।

मिल्खासिंहः – किं त्वं खालिस्तानसमर्थकः सिक्खः?

गुरमीतः – हिन्दुस्तानवासिनो वयम्। किं खालिस्तान.....

मिल्खासिंहः – अपसरे रे देशभक्त। येऽपि अस्मिन् याने खालिस्तानसमर्थका न सन्ति, ते

नीचैरवतरन्तु पंक्तिबद्धाश्च तिष्ठन्तु।

शिवानन्दः - दयां कुरुत सर्वेषु। न हि निर्दोषान् मारयत्। दयध्वं बन्धवः। दयध्वम्।

मिल्खासिंहः - यावदस्मान् पृथक् राज्यं न दीयते, तावद् वयमनेनैव प्रकारेण सर्वान् मारयिष्यामः, विद्रोहं करिष्यामः, आतङ्कम् उत्पादयिष्यामः। (भीषणो भुशुण्डीचालनध्वनिः)।[१६]

उस समय भारतमाता की जय के स्थान पर भिण्डरावाला की जय के नारे लगने शुरू हो गये थे। हिन्दुस्तान के टुकड़े करके पृथक् खालिस्तान का उद्घोष होने लग गया था -

शिवानन्दः - भारतमातुः जयकारस्थाने तैः भिण्डरावाला जयतु इति घोषः क्रियते। स्वजन्मभूमौ हिन्दुस्तानं खण्डीकृत्य पृथक् खालिस्तानस्थापनम् उद्घोष्यते। एतान् राष्ट्रद्रोहिणो ध्वंसयित्वा क उद्धरिष्यति राष्ट्रमिदम्।[१७]

आतंकवाद की समस्या

सम्प्रति आतंकवाद भारत ही नहीं अपितु विश्व की समस्या के रूप में उभर कर सामने आ रहा है। इस समस्या ने न केवल भारत में ही अपितु अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर विकराल रूप धारण किया है। भारत में तो प्रमुख समस्या के रूप में हैं जिसने भारत की शासन व्यवस्था को जर्जर कर दिया है। डॉ. हरिदत्त शर्मा ने पञ्जाब में आतंकवाद की समस्या को लेकर '**पञ्चनद-पीडनम्**' नामक एकाङ्की की रचना की है। इसमें उन्होंने आतंकवाद के विद्रोह से पीड़ित आम जनमानस की घर-द्वार छोड़कर भागने की स्थिति का यथावत् चित्रण किया है। आतंकवाद के कारण शहर में कर्फ्यू लगा दिया जाता है। लोग अपनी जरूरतों को पूरा करने वाले समान को लेने के लिए भी घर से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। रोगी व्यक्ति को अस्पताल तक नहीं पहुँचा पा रहे हैं जिसके कारण रोगी की मृत्यु हो रही है। अब मृत्यु के पश्चात् शव का अन्तिम संस्कार भी नहीं हो पा रहा है। शव को तीन चार दिन तक घर के भीतर ही रखना पड़ रहा है। इसका मार्मिक चित्रण डॉ. हरिदत्त शर्मा ने किया है।[१८]

कश्मीर में आतंकवाद की समस्या का वर्णन भी डॉ. हरिदत्त शर्मा ने अपने एकाङ्की '**एकमेव रक्तम्**' में किया है। इसमें उन्होंने धरती का स्वर्ग कहे जाने वाले कश्मीर की धरा पर हो रहे क्रन्दन का अभिव्यञ्जन किया है। आतंकवादी कश्मीर में हिन्दुओं पर अत्याचार कर रहे हैं। उन्हें घर छोड़ने के धमकी भरे पत्र प्राप्त हो रहे हैं -

श्रीनाथः - किं वदानि? पश्येदम्। अद्य भर्त्सनभरितं पत्रमेकं मह्यमपि आगतम्।

शबीरः - हुम्! तर्हीदानीं तुभ्यमपि तर्जनं भर्त्सनं च दत्तम्।

श्रीनाथः - साम्प्रतं द्वावेव मार्गौ मत्समक्षं वर्तते यत् सपरिवारं घाटीमिमां त्यक्त्वा द्वारे द्वारे भिक्षुको वा भवानि, अत्रैव स्थित्वा मृत्युं वा प्रतिपालयानि।[१९]

आतंकवाद के कारण वहाँ का सामान्य जीवन बाधित हो रहा है। आतंकवादी वहाँ के मूल निवासियों को निकालकर अराजकता और आतंक फैलाना चाहते हैं। इस प्रकार डॉ. हरिदत्त शर्मा ने किसी न किसी समस्या को लेकर अपने एकाङ्कियों की रचना की है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. आक्रन्दनम् (वृक-विक्रोशनम्), पृ. ४२

२. वही, पृ. ४५-४६

३. वही, पृ. ५०

४. त्रिपथगा (वधूदहनम्), पृ. ४४

५. वही, पृ. ४१

६. वही, पृ. ४१- ४२

७. आक्रन्दनम् (अबलाबलम्), पृ. ७३

८. त्रिपथगा (वधूदहनम्), पृ. ४८-४९

९. आक्रन्दनम् (अबलाबलम्), पृ. ६४

१०. त्रिपथगा (साक्षात्कारीयम्), पृ. ७-८

११. वही, पृ. १०-११

१२. त्रिपथगा (द्वेषदंशनम्), पृ. ६६-६७

१३. वही, पृ. ५९-६१

१४. वही, पृ. ७८-७९

१५. वही, पृ. ७९

१६. आक्रन्दनम् (पञ्चनद-पीडनम्), पृ. १५

१७. वही, पृ. १२

१८. वही, पृ. ५-१६

१९. वही, पृ. २३

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

महाभारत में वर्णित परम पुरुषार्थ मोक्षतत्त्व विवेचन

डॉ. सुदेव*

मानव जीवन के चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में से 'मोक्ष' को 'परम पुरुषार्थ' कहा गया है। सब प्रकार के माया एवं अज्ञान जनित बन्धनों से मुक्ति या छुटकारा पाना मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। आत्मा (जिसे स्वरूपतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं आनन्दस्वरूप माना गया गया है) के स्वरूप को जानना परमावश्यक है। दुःखों से निवृत्ति तथा शाश्वत् आनन्द की प्राप्ति को ही 'मोक्ष' कहते हैं। इसलिये सब प्रकार के बन्धनों को पार करके जन्म-मृत्यु एवं सुख-दुःखों के चक्र से छूटकर निरतिशय आनन्द की नित्य स्थिति ही 'मोक्ष' के नाम से अभिहित है।

मोक्षण अर्थवाली 'मृच्लृ'[१] धातु से निष्पन्न मोक्ष शब्द का अर्थ- छूटना अर्थात् मुक्त होना। प्रकृति जन्य शरीर आदि के बन्धन से या जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त होना ही 'मोक्ष' का तात्पर्य है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'मोक्ष' शब्द 'मोक्ष' धातु से भाव और करण अर्थ में घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है।[२] शब्द कल्पद्रुम के अनुसार मोक्ष शब्द का निर्वचन है- '**मोक्ष्यते दुःखमनेन**'[३] अर्थात् जिसके द्वारा दुःख से छुटकारा पाया जाता है।

योग सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेष इन पञ्चक्लेशों के लक्षण करते हुए समाधान करते हैं जब अविद्यादि क्लेश दूर होकर विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, जब जीव सब बन्धनों से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।[४] इन अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है - '**केवलस्य भावः कैवल्यम्।**'[५] पुरुष का गुणों से सर्वथा पृथक् होकर केवल अपने स्वरूप में स्थित रहना ही कैवल्य कहलाता है। अन्य स्थानों पर भी व्यास भाष्य में कैवल्य के लिए अपवर्ग शब्द का प्रयोग करते हुए उसका यही स्वरूप बतलाया गया है।[६] पतञ्जलि कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि जिन गुणों से फलभोग या अपवर्ग आदि प्राप्त हो चुके हैं, वे जब पुरुषार्थ शून्य होकर कार्य-कारण भाव से उत्पन्न होने के कारण अयोग्य हो जाएँ, उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं अथवा बुद्धि तथा मन के सम्बन्ध से रहित ज्ञानशक्ति केवला कहलाती है। उसके उसी स्वरूप में स्थित रहने को कैवल्य कहते हैं।[७]

यद्यपि यहाँ पर कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए उस पर भी प्रकाश डाल दिया गया है कि कैवल्य कब होता है तथापि अन्य सूत्र में पतञ्जलि और भी स्पष्टता पूर्वक कहते हैं कि बुद्धि तथा पुरुष में शुद्धि की समता होने पर कैवल्य होता है।[८] भाव यह है कि बुद्धि जब पुरुष के समान निर्मल अर्थात् रजोगुण तथा तमोगुण आदि दोषों से शून्य हो जाती है, तब कैवल्य होता है। व्यास भाष्य में इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान से अदर्शन की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् द्रष्टा पुरुष को अपने स्वरूप का दर्शन हो जाता है। अदर्शन के निवृत्त हो जाने पर अविद्या आदि क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। क्लेशों के अभाव

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पाँचमुड़ा महाविद्यालय बाँकुड़ा, पश्चिमबङ्ग

में कर्म फल की निवृत्ति हो जाती है। इन अवस्था में अपना कार्य समाप्त कर चुकने वाले गुण दृश्यभाव से पुरुष को प्राप्त नहीं होते। यही पुरुष का कैवल्य है। इस अवस्था में पुरुष प्रकाश स्वरूप मात्र से अवस्थित रहता है।[९]

योग साधक को धर्म मेध नामक समाधि की प्राप्ति के उपरन्त उसके क्लेशतता क्रम समाप्त हो जाते हैं। इसका क्रमपूर्वक वर्णन करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि "**प्रसंख्यानेऽप्येकुसीदस्यसर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेधः समाधिः**" जब योगी प्रसंख्यान में भी तृष्णा रहित हो जाता है तब उसे धर्ममेध समाधि प्राप्त हो जाती है।[१०] प्रसंख्यान का अर्थ है – क्रम से स्थित जो तत्त्व हैं उनके स्वरूप का यथावत् ज्ञान। जब इस यथावत् ज्ञान को प्राप्त करके योगी को तत्त्वों में भी वितृष्णा अथवा फल प्राप्ति की अनिच्छा होती है तब योगी को ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् विवेकख्याति सब प्रकार से दृढ़ हो जाती। इस अवस्था में धर्ममेध समाधि प्राप्त होती है। पतञ्जलि के अनुसार इस धर्ममेध समाधि को प्राप्त करके क्लेष तथा कर्म समाप्त हो जाते हैं।[११]

अतः योग दर्शन में कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है। इस अवस्था में पुरुष प्रकाश रूप में तथा स्वरूपमात्र में अवस्थित रहता है। इसी को आत्मदर्शन, ब्रह्मदर्शन, ब्रह्म में लीन होना, परमात्मा में लीन होना अथवा परमपद प्राप्त करना कहते हैं। कैवल्य की प्राप्ति सर्वाधिक कठिन कार्य है। उसकी प्रप्ति का प्रयास मुमुक्षुओं को नित्य प्रति अवश्य करते रहना चाहिए।

महाभरत में मोक्ष विवेचन

महाभारत में मोक्ष सम्बन्धी विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। महाभारत के शान्ति पर्व के अध्याय १७४–३६५ तक को '**मोक्षधर्म पर्व**' कहा गया है। जिसमें शुभाशुभ कर्मों के परिणाम, संसार–चक्र, जीवात्मा एवं मुक्ति के साधन का वर्णन किया गया है। यहाँ योग, कर्म और ज्ञान के साधनों की चर्चा हुई है। इसमें धर्म के विभिन्न पहलुओं (यथा– वर्ण, आश्रम, राजधर्म आदि) के साथ–साथ मोक्ष को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

महाभारत के शान्ति पर्व में मोक्ष के विभिन्न पर्याय यथा अमरत्व, निर्वाण, अपवर्ग, अमृत, निःश्रेयस, ब्रह्मपद आदि उपलब्ध होते हैं।[१२] जिनके निर्वचन की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। मोक्ष का अर्थ– 'मुक्ति' अर्थात् सांसारिक दुःख तथा उनसे प्राप्त होने वाले अनेक प्रकार के बन्धनों से छुटकारा है। जिसके अनन्तर ब्रह्मलोकरूपी अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

इस सनातन मोक्ष–धर्म को अत्यन्त दुष्कर कहा गया है।[१३] सहस्र मनुष्यों में से कोई विरत ही मोक्ष–विषयक बुद्धि का आश्रय लेता है।[१४] इसी दुष्कर मोक्षधर्म का विवेचन प्रस्तुत स्थल पर महाभारत के आधार पर करना अभीष्ट है।

भारतीय परम्परा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति की अवस्था को ही मोक्ष कहती है। कुछ लोगों के अनुसार यह परमानन्द प्राप्ति की अवस्था है। अतः 'मोक्ष' शब्द का तात्पर्य है– मुक्ति या छुटकारा। छुटकारा किससे? दुःखों एवं जन्म–मरण के बन्धन से। महाभारत में चारों पुरुषार्थ में मोक्ष को ही सर्वोत्तम बतलाया है।[१५] निरतिशय सुख की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के लिए यह मोक्ष ही परम कल्याणप्रद है।[१६] ज्ञानी पुरुषों का मानना है कि ज्ञान ही मोक्ष का लक्षण है।[१७] ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है।[१८] मोक्ष के लिए ज्ञान के

सिवा दूसरा और कोई मार्ग नही है।[१९] भीष्म पर्व में भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञान योग की परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्यसिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार को निरन्तर ध्यान योग के परायण रहने वाला ममता रहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में अभिन्नभाव से स्थित होने का पात्र बन जाता है। ब्रह्मभाव में अवस्थित प्रसन्नचित्त वाला योगी, न तो शोक करता है न ही किसी सुख की इच्छा करता है।[२०] शान्ति पर्व में भीष्म पितामह इस अवस्थाक्रम का वर्णन करते हुए युधिष्ठिर को कहते हैं –

यदा कर्मगुणैर्हीना बुद्धिर्मनसि वर्तते।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोगसमाधिना।।

जिस समय बुद्धि कर्म-संस्कारों से रहित होकर हृदय में स्थित हो जाती है, उसी समय ध्यानयोग जनित समाधि के द्वारा ब्रह्म का भली-भाँति ज्ञान हो जाता है।[२१] जब योग साधक सबके आदि कारण निर्गुण ध्यानतत्त्व को ध्यान द्वारा अन्तःकरण में प्राप्त कर लेता है, तब कसौटी पर कसते हुए सुवर्ण के समान ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है।[२२]

भीष्म पितामह बन्धनों से मुक्त होने के निए विषयासक्ति के त्याग का उपदेश करते हैं कि- "शरीर के ग्रहणमात्र से दुःख की प्राप्ति निश्चित है। शरीर में अभिमान करने से उस दुःख की वृद्धि होती है। अभिमान के त्याग से उन दुःखों का अन्त होता है जो दुःखों के अन्त होने की इस कला को जानता है, वह मुक्त हो जाता है।"[२३]

शान्ति पर्व में कहा गया है कि मोक्ष प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म न होने से किसी प्रकार का शारीरिक बन्धन नहीं रहता।[२४] जरा और मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है। वह जीव संसारिक दुःखों के पार चला जाता है। मोक्षावस्था में कर्मों के क्षीण हो जाने पर सभी प्रकार के पाप-पुण्यों का क्षय हो जाता है तथा देही ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है।[२५] यह अक्षय और अनामय परम मार्ग है जिसमें नवीन बन्धनों का उच्छेद हो जाता है और सुख देने वाली अगाध गति प्राप्त होती है।[२६]

मोक्षवस्था में सनातन परब्रह्म का ज्ञान हो जाने से जीव की इस जगत् में पुनरावृत्ति नहीं होती और वह संसारमोचक, आनन्दस्वरूप, अधिष्ठान, परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[२७] इस प्रकार दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परम आनन्द की स्थिति ही मोक्ष है, जिसको निर्वाण, शान्ति रूप परमसुख भी कहा गया है।[२८] यह परम सौख्यपूर्ण स्थिति है जिसमें आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाता है। मोक्ष से प्राप्त होने वाले ब्रह्मलोक को पुनरावृत्ति से रहित, अद्वितीय, अक्षरसंज्ञक, अविनाशी, दुःखविहीन, जराविहीन तथा शुद्ध शान्तिमय कहा गया है।[२९]

एक स्थल पर कहा गया है कि जिस प्रकार नदी में गिरे हुए मनुष्य गोते खाते हुए अत्यन्त कष्ट अनुभव करते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य संसार सागर में डूबकर दुःख का अनुभव करते हैं; किन्तु जिस प्रकार को तैराक पुरुष क्लेशित न होकर जल में स्थल की भाँति विचरण करता है उसी प्रकार आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने वाला जीव संसार सागर को पार जाता है।[३०]

आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए शान्ति पर्व में कहा गया है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। शरीरी आत्मा उत्पत्ति, बुद्धि और ह्रास रहित है।[३१] मनुष्य नेत्रों से आत्मा रूप नहीं देख सकता है,

त्वचा से उसका स्पर्श नहीं कर सकता, श्रोत्र से उसका श्रवण नहीं हो सकता; क्योंकि वह आत्मा स्वयं हमारी इन्द्रियों का स्वामी और इन्द्रियों का प्रकाशक है।[३२] समस्त शरीरों में शरीरस्थ ज्ञेय स्वरूप आत्मा को ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है। आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है।[३३] आत्मा अदृश्य होकर भी अभाव रहित है। आत्मा के इन्द्रियों से अगोचर होने पर भी अधिक उसका अस्तित्त्व के विषय में संशय नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिमालय पर्वत और चन्द्रलोक के पृष्ठभाग कभी मनुष्यों को दिखाई नहीं देते तो यह नहीं कहा सकता कि वे नहीं है।[३४]

मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे सूर्य अपनी किरणों के द्वारा जगत् व्यापकत्व को प्राप्त करके अस्ताचल को जाते हुए अपने किरणामण्डल को समेट लेने पर निर्गुण हो जाता है, वैसे ही जीव इस लोक में मननशील और सुख-दुःख से निर्विशेष होकर गुणरहित, अव्यय, ब्रह्म में प्रवेश करता है। तभी मनुष्य संसार में पुनरावृत्ति रहित, अविनाशी परब्रह्म का दर्शन करके परम मोक्ष को पाता है।[३५] कुछ अन्य उदाहरणों से भी मोक्षावस्था का वर्णन किया गया है- जैसे मकड़ी तन्तुमय जाल में वर्तमान रहकर निवास करती है और जाल का नाश होने पर एक स्थान पर स्थित हो जाती है। वैसे ही अविद्या के वशीभूत जीव कर्म तन्तुमय गृह में निवास करता है और उससे छूटने पर दुःख से रहित होता है। जैसे मिट्टी का ढेला वेगपूर्वक पत्थर पर गिरने से चूर हो जाता है, उसी प्रकार जीव मुक्त होकर सब दुःखों का परित्याग करता है।[३६]

एक अन्य स्थल पर मोक्षावस्था को केवल ज्ञानमयी अवस्था कहा गया है। जिस प्रकार सुषुप्तिकाल में इन्द्रियों सहित लिङ्ग शरीर के निद्रित होने पर केवलमात्र ज्ञानरूप जीवात्मा की स्थिति होती है।[३७] उसी प्रकार मोक्षावस्था में भी केवल मात्र ज्ञान की स्थिति हुआ करती है। सांख्य सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए शान्ति पर्व में कहा गया है कि 'जलते हुए अयस्पिण्ड की तरह बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (पुरुष तत्त्व) के परस्पर मेल के कारण क्षेत्रज्ञ में बुद्धि, धर्म, दुःख-सुख आदि और बुद्धि में क्षेत्रज्ञ के धर्म चैतन्य आदि दिखाई पड़ते हैं। तत्त्व जिज्ञासु पुरुष बुद्धि और क्षेत्रज्ञ के इस अभेद को त्याग कर दोनों की वास्तविक-भिन्नता को जान लेता है और शोक रहित हो जाता है।[३८]

इस प्रकार महाभारत में पातञ्जल योगदर्शन के समान ही कैवल्य का निरूपण किया गया है। जीवन्मुक्ति का महाभारत में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जबकि योगदर्शन में केवल व्यास भाष्य में ही जीवन्मुक्ति की चर्चा की गई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. मृच्लृ मोक्षणे (तुदादिगण, परस्मैपदी)।

२. (क) आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. ८१९

(ख) मोक्ष + भावे घञ्, मोक्ष करणे घञ्। हलायुध कोश, पृ. ५४५

३. शब्द कल्पद्रुम, पृ. ७८६

४. तद्भावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशः कैवल्यम्। पातञ्जल योगयूत्र २.२५ पर व्यासभाष्य।

५. दुःखकारणनिवृत्तौ ..... पुरुष इत्युक्तम्। पातञ्जल योगयूत्र २.२५ पर व्यासभाष्य।

६. (क) भोक्तुः स्वपुपावधारणमपवर्गः इति। पातञ्जल योगयूत्र २.१८ पर व्यासभाष्य।

(ख) या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः। पातञ्जल योगयूत्र २.३ पर व्यासभाष्य।

७. पुरुषार्थशून्यानां.....चितिशक्तिरिति।। पातञ्जल योगयूत्र ४.३४

८. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्। पातञ्जल योगयूत्र ३.५५

९. चरितार्थाधिकाराश्चैतस्यामवस्थां.....केवली भवति।। पातञ्जल योगयूत्र ३.५५ पर व्यासभाष्य।

१०. पातञ्जल योगयूत्र ४.२९

११. ततः क्लेषकर्मनिवृत्ति। पातञ्जल योगयूत्र ४.३०

१२. महाभारत शान्तिपर्व १७१.५४, १८२.१६. २६२.२९, २०१.२, २२४.५३, २६२.३०

१३. अहो हि दुरनुष्ठेयो मोक्षधर्मः सनातनः। शान्तिपर्व ३२७.७

१४. सहस्रेषु नरः कश्चिन्मोक्षबुद्धिं समाश्रितः। शान्तिपर्व २९०.३९

१५. आहुः केचित् परं मोक्षम्। आदिपर्व १५६.२३

१६. मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन सुखार्थिनाम्। वनपर्व ३३.४३

१७. ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम्। वनपर्व २००.११२

१८. ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयः। वनपर्व २००.११८

१९. नान्य पन्था अयनाय विद्यते। उद्योगपर्व ४४.२४, शान्तिपर्व २३२.२९

२०. भीष्मपर्व ४२.५०, ५३-५४

२१. महाभारत शान्तिपर्व २०५.१०

२२. यदा निर्गुणमाप्नोति.....निकषे यथा।। शान्तिपर्व २०५.१२

२३. त्यागात् तेभ्यो निरोधः स्यन्निरोधज्ञो विमुच्यते।। शान्तिपर्व २१३.१९

२४. (क) नार्तन्ते पुनः पार्थ नुक्ताः संसार दोषतः। शान्तिपर्व १८८.३

(ख) विरागा दग्धदोषास्ते नाप्नयुर्दहसम्भवम्ष। शान्तिपर्व २०७.२४

(ग) पुनरावर्तनं नास्ति संप्राप्तस्य परात्परम्। शान्तिपर्व २४३.२३

२५. पुण्यपापमयं .....ब्रह्मत्वमुगच्छति।। शान्तिपर्व २६७.३७

२६. शान्तिपर्व ३१६.५८-५९

२७. ज्ञानान्मोक्ष जायते.....मोक्षयेज्जन्ममृत्योः।। शान्तिपर्व ३०६.८४

२८. निर्वाणं परमं सौखं धर्मऽसौ पर उच्यते। शान्तिपर्व ३३०.१६

२९. ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम्।..... तत्प्रतिपद्यते।। शान्तिपर्व १९२.१२

३०. शान्तिपर्व २४१.७-८

३१. उत्पत्तिवृद्धिक्षयसन्निपातैर्न मुज्यतेऽसौपरमः शरीरी। शान्तिपर्व १९५.१५

३२. (क) न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो न चापि संस्पर्शमुपैति किञ्चित। शान्तिपर्व १९५.१६

(ख) न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वेरपीन्द्रियैः। शान्तिपर्व २३१.१६

३३. सर्वज्ञः सर्वदर्शी च क्षेत्रज्ञस्तानि पश्यति। शान्तिपर्व १९६.५

३४. न दृष्टपूर्व मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता।। शान्तिपर्व १९६.६

३५. (क) दिवाकरो गुणमुपलभ्य निर्गुणो यथा भवेद्वयपगतरश्मिमण्डलः। तथा ह्यसौ मुनिरिह निर्विशेषवान्स

निर्गुणं प्रविशति ब्रह्म चाव्ययम्। शान्तिपर्व १९९.३१

(ख) सनातनं यदमृतमव्ययं पदं विचार्यं तं शममृतत्वमश्नुते। शान्तिपर्व १९९.३२

३६. यथोर्णनाभिः परिवर्तमानस्तन्तुक्षये तिष्ठति पात्यमानः। तथा विमुक्तः प्रजहाति दुःखं विध्वंसते लोष्ट इवाद्रिमर्च्छन। शान्तिपर्व २१२.४७

३७. यथा व्यक्तमिदं शेते स्वप्ने चरति चेतनम्। ज्ञानमिन्द्रियसंयुक्तं तद्वत्प्रत्य भवाभवौ। शान्तिपर्व १९७.१

३८. महाभारत, शान्तिपर्व १८७.५१, शान्तिपर्व २३६.३२-३३

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

ब्राह्मणग्रन्थेषु सामस्य माहात्म्यवर्णनम्

डॉ. प्रतापचन्द्रराय:*

यदा पद्यात्मकमन्त्रा: गायनविद्यया अनुप्राणिता: भवन्ति तदा तन्मन्त्रा: सामनाम्ना प्रथिता:। अर्थात् ऋग्मन्त्राणां विशिष्टरूपेण गायनं साम इत्युच्यते। अतो **'गीतिषु सामाख्या'** इत्येवं पूर्वमीमांसका: आमनन्ति।[१] शबरस्वामिनाप्युक्तम् – 'विशिष्टा काचिद् गीति: सामेत्युच्यते' इति।[२] वस्तुतस्तु साम संगीतस्य सर्वोत्तममुपायं वर्तते। संगीतेन सर्वभूतानां देवानां च मन: प्रसन्नतामाप्नोति। संगीतेन एव मनुष्या: स्वकीयान् सर्वान् दु:खान् परित्यजन्ति। संगीतं जगतोऽस्य सर्वोत्तमविद्या वर्तते। अतो वेदचतुष्टये साम्नो वैशद्येन वर्णनं संलक्ष्यते।[३] ऋग्वेदे स्तोत्ररूपात्मका: गीतिरूपात्मकाश्च मन्त्रा: 'आंगुष्यं सामरूपेण' वर्णिता: सन्ति।[४] देवान् प्रीत्यर्थं सामगानं सर्वोत्तमं साधनं वर्तते। शुद्धमनसा कृतं सामगानं सर्वान् देवान् आह्लादयति। अत: ऋग्वेदानुसारं सर्वैर्मनुष्यै: सर्वदा शुद्धहृदयेन सामगानेन देवानां स्तुति: करणीया।[५] साम विहाय कदापि यज्ञं सम्पूर्णं न भवतीति शतपथब्राह्मणमतम्। अतस्तत्र निगद्यते–नासामा यज्ञोऽस्ति।[६] कुतोहि साममन्त्रा: देवेभ्यो यज्ञस्य सोमाहुतिरूपेण ब्राह्मणग्रन्थे वर्णिता: सन्ति। तथा चोक्तम् – 'सोमाहुतयो ह वाऽ एता देवानाम्। यत्सामानि।[७] तदनु साम देवानाम् अन्नरूपेण अपि वर्णितम्। सामगानेन यद्वा सोमाहुतिरूपात्मना सामाहुतिद्वारा देवानां परिपुष्टिर्जायते इति हेतो: साम्न: इत्येवम् अन्ननामकरणम्। **'तस्मादाहु: सामैवान्नमिति'**।[८] **'साम देवानामन्नम्'**।[९] 'स: (प्रजापति:) अब्रवीदेकं वावेदमन्नाद्यमसृक्षि सामैव।'[१०] आध्यात्मिकरूपेण साम एव प्राणतत्त्वं विद्यते। अर्थात् साम्ना प्राणशक्तेर्वृद्धिर्जायते। अतो यजुर्वेदे आम्नातम् **– साम प्राणं प्र पद्ये।**[११] **प्राणा वै सामानि।**[१२] **प्राणो वै साम।**[१३] **स य: प्राणस्तत् साम।**[१४] प्राण: साम्न: सुवर्णरूपेण कल्पित:। अत: 'प्राणो वाव साम्नस्सुवर्णम्' इति ब्राह्मणग्रन्थे समुपलभ्यते।[१५] जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणानुसारं 'सा' पदेन वाक्तत्त्वम्, 'अम' पदेन च प्राणतत्त्वं बुध्यते । अनेन 'सा + अम' पदद्वयेन सामशब्दो निष्पन्नो भवति। अतस्तत्र निगद्यते– प्राणो वावामो वाक् सा, तत्साम।[१६] तद् यत्सा चाऽमश्च तत्सामाऽभवत् तत्साम्न: सामत्वम्।[१७] इत्थं वाक्–प्राणतत्त्वयोर्मध्ये गम्भीर: समन्वयो विद्यते। कुतोहि वाक्तत्त्वन्तु साक्षाच्छब्दब्रह्म तत्त्वं विद्यते, प्राणतत्त्वञ्च तत्र शक्तिभूतं विद्यते। वाक्तत्त्वं साम्न: प्रतिष्ठा वर्तते । अतो 'वाग्वाव साम्न: प्रतिष्ठा' इति जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे समुपलभ्यते।[१८] ततो वागपि सामरूपेण वर्णित:। प्राणिनो वाग्भि: जगत: समस्तवस्तूनां स्वरूपं प्रकटयन्तीति हेतो: साम्नो वाक्संज्ञा। अतो 'वागेव साम' इत्युच्यते।[१९] एतदु ह वाव साम यद्वाक्।[२०] एवमेव वागेव ऋग्वेद: प्राणस्तु साम। एवं वाग्रूपात्मके ऋग्वेदे प्राणरूपं साम प्रतिष्ठितमस्ति। अत: ऋग्वेदेऽधिष्ठितं साम एव गीयते।[२१] चक्षुरेव ऋग्वेद:, आत्मा तु सामवेद:; एवं चक्षुरूपात्मके ऋग्वेदे आत्मरूपं सामवेद: प्रतिष्ठितो विद्यते।[२२] श्रोत्रमेव ऋग्वेदो मनश्च साम, एवं श्रोत्रात्मके ऋग्वेदे मनोरूपं साम प्रतिष्ठितम्; अत: ऋग्वेदे प्रतिष्ठितं साम एव गीयते।[२३] एवं नेत्रयोर्मध्ये यदेतच्छुक्लवर्णो विद्यते, स एव ऋग्वेद:; यन्नीलवर्णयुक्त: श्यामवर्णस्तत्साम विद्यते। इत्थं

* सहायकाध्यापक:, संस्कृतविभाग:, सिधो–कानहो–वीरसा–विश्वविद्यालय:, पुरुलिया, पश्चिमबङ्ग:

शुक्लवर्णात्मके ऋग्वेदे नीलवर्णयुक्तकृष्णवर्णात्मकं साम प्रतिष्ठितं वर्तते। अतः ऋग्वेदे प्रतिष्ठितं साम एव गीयते। नेत्रयोः यच्छुक्लवर्णस्तत् 'सा', यच्च कृष्णवर्णस्तद् 'अम' वर्तते, तेन 'सा+अम' इति पदद्वयस्य मेलनेन साम्नः सामत्वमिति विज्ञायते।[२४] सूर्यात् साम्नः समुत्पन्नत्वात् साम एव सूर्य-पुत्रः।[२५] अतः साम्नि सूर्यस्य शक्तिः विद्यते। सूर्यः रश्मिभिः सर्वत्र समभावेन विद्यते। तस्मात् समत्वकारणात् सूर्यस्यापि साम इति संज्ञा। समत्वस्यैव भावार्थकरूपेण साम वर्तते। तथा चोक्तम् - तद्यद् एष (आदित्यः) सर्वैर्लोकैः समः, तस्मादेष (आदित्यः) एव साम।[२६] सामवेदः आदित्योऽस्ति साममन्त्राश्च आदित्यस्य अर्चिः सन्ति। अत एवोच्यते - (आदित्यस्य) अर्चिः सामानि।[२७] अर्थात् सामवेदस्य अध्ययनेन मनुष्यैः सूर्यशक्तिः प्राप्यते इत्यर्थः। ब्राह्मणानुसारं साम्नः सारो द्युलोको वर्तते। तस्मात् प्रजापतिना साम्नो रसं संगृह्य द्युलोको निर्मितः। ततः स रस एव सूर्यरूपेण समुद्भूतः। अत एव उच्यते - 'स्वरित्येव सामवेदस्य रसमादत्त। सोऽसौ द्यौरभवत्। तस्य रसः .... आदित्यः।[२८] इत्थं सामवेदे साम द्युलोको वर्तते, ऋक् च पृथिवीलोकः। एवं साम द्युलोकस्य भूलोकस्य च समन्वयो विद्यते। अतः ताण्ड्यब्राह्मणे स्मर्यते - साम वा असौ (द्यु-)लोकः, ऋगयम् (भूलोकः) इति।[२९] साम्नि क्षत्रियसामर्थ्यत्वात् साम्नः क्षत्रमिति संज्ञा। अत एव 'क्षत्रं वै साम' इति उद्घोषः ब्राह्मणग्रन्थेषु परिलक्ष्यते।[३०] सामगानेन साम्राज्यप्राप्तिर्भवति। तस्मात् कारणात् 'साम्राज्यं वै साम' इति वचनमपि दरीदृश्यते।[३१] तदनु सामगानेन यशोप्राप्तिर्भवतीति हेतोः साम यशोरूपेणापि वर्णितम्। अतः 'सामवेद एव यशः' इति विजल्पितम्।[३२] सामवेदो जागरूकतायाः प्रतीको वर्तते । अतो यो जागरूकोऽस्ति, तमेव वेदाः इच्छन्तीति।[३३] बृहद्देवतायां वर्णितं समस्ति यत् यो सामवेदं जानाति स एव वेदानां निगूढं रहस्यं ज्ञातुं शक्नोति। अतस्तत्र 'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्' इत्युल्लेखः संदृश्यते। भगवता कृष्णेनापि श्रीमद्भगवद्गीतायां सामवेदस्य सर्वोच्चस्थानं निश्चितं परमात्मरूपेण च वर्णितम्। उक्तञ्च - वेदानां सामवेदोऽस्मि।[३४] छान्दोग्योपनिषदनुसारं ऋचां सारतत्त्वं साम विद्यते साम्नश्च सारतत्त्वन्तु उद्गीथो वर्तते। तत्र निगद्यते - ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः।[३५] तत्र उद्गीथः जगतः सर्वोत्तमरसरूपेण विजृम्भितः। तेन स्पष्टं यत् साम परमात्मरूपात्मकं निगूढरहस्यजातम् उद्घाटयति। अतः साम सर्वेषां वेदानां सारतत्त्वरूपेण वर्णितम्। तत्रोक्तं च - 'सर्वेषां वाऽ एष वेदानां रसो यत्साम' इति।[३६] अर्थाच्चतुर्षु वेदेषु सामवेदोऽन्यतमो वेदो वर्तते। यो जगतो मूलकारणस्य परमेश्वरस्य रहस्यं समुद्घाटयत्यर्थः।

परिशेषे उपर्युक्तवर्णनेन निष्कर्षरूपेण वक्तव्यं यत् सम्पूर्णशोधपत्रेऽस्मिन् विविधार्थकत्वेन साम्नः माहात्म्यं नूनं नूतनत्वम् उद्घोषयति। सामविषयजातं रहस्यात्मकं ज्ञानं ज्ञानान्तराद् उत्कृष्टमिति वक्तुं पार्य्यते। आध्यात्मिकदृष्ट्या साम एव प्राण-चक्षु-मनो-श्रोत्रादिरूपेण वर्णितम्। द्यु-अन्तरिक्ष-भू-त्रिषु लोकेषु साम्नः सत्ता विद्यते। तत्सत्तया सर्वे प्राणिनः सत्तावन्तो भवन्ति। देवानां कृते सामगानरूपेण साम यज्ञस्य अत्यन्तं गुरुत्वावहं तत्त्वं वर्तते। संगीतविद्यायाः मूलाधाररूपेण साम एव वर्णितम्। छान्दोग्योपनिषदि साम्नः हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीथ-प्रतिहार-निधन-भेदेन पञ्चविधा उपासना वर्णिता सन्ति।[३७] तेन पञ्चविधेन उपासनेन साम्नः नित्यं सततञ्च उपासनीयम्। सर्वान्ते पुनः वक्तुं शक्यते यत् साम एव अतीव गुरुत्वावहम् इत्यत्र नास्ति कश्चिदपि संशय इति शम्।

संकेत-सन्दर्भाः

१. मीमांसासूत्र, २.१.३६

२. तदेव, २.१.३७

३. सामभिः स्तुयमानाः। ऋ.सं., १.१०७.२, सामतेजाः। अथर्व., १०.५.३०
४. ऋग्वेदसंहिता, १.६२.२
५. इन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना। ऋग्वेदसंहिता, ८.९५.७, इन्द्राय साम गायत। ऋग्वेदसंहिता, ८.९८.१
६. शतपथब्राह्मण, १.४.१.१
७. तदेव, ११.५.६.६
८. सामविधानब्रा., १.१.३
९. ताण्ड्यब्राह्मण, ६.४.१३
१०. जै.उप.ब्रा., १.११.३
११. यजुर्वेद, ३६.१
१२. शतपथब्राह्मण, ९.१.२.३२
१३. तदेव, १४.८.१४.३
१४. जै.उप.ब्रा., १.२५.१०
१५. तदेव, १.३९.४
१६. तदेव, ४.२३.३
१७. तदेव, १.५३.५, गो.उ.ब्रा., ३.२०, ऐतरेयब्राह्मण, ३.२३
१८. तदेव, १.३९.३
१९. तदेव, १.४०.६
२०. तदेव, २.१५.४
२१. छान्दोग्य उपनिषद्, १.७.१
२२. तदेव, १.७.२
२३. तदेव, १.७.३
२४. तदेव, १.७.४
२५. सूर्यात् सामवेदः। शतपथब्राह्मण, ११.५.८.३
२६. जै.उप.ब्रा., १.१२.५
२७. शतपथब्राह्मण, १०.५.१.५
२८. जै.उप.ब्रा., १.१.५
२९. ताण्ड्यब्राह्मण, ४.३.५
३०. शतपथब्राह्मण, १२.८.३.२३, गो. ब्रा. उ., ५.७
३१. शतपथब्राह्मण, १२.८.३.२३; गो. ब्रा. उ., ५.७
३२. गो. ब्रा. पू., ५.१५, शतपथब्राह्मण, १२.३.४.९
३३. यो जागार तमृचः .... तमु सामानि यन्ति। ऋग्वेदसंहिता, ५.४४.१४
३४. गीता, १०.२२
३५. छान्दोग्योपनिषद्, १.१.२

३६. शतपथब्राह्मण, १२.८.३.२३, गो. ब्रा. उ., ५.७

३७. छान्दोग्योपनिषद्, २.२.३३३१

Bibliography

* *Aitareyabrāhmaṇam*, Ed. by Sudhakar Malaviya. Varanasi : Tara Book Agency, 2015.
* *Atharvaveda kā Subodhabhāṣa*, Ed. by Sripad Damodar Satavlekar. Balsad : Swadhyay Mandal Pardi, 1990.
* *Bṛhadāraṇyakopaniṣad with commentary of Śaṅkarācārya*, Ed. by Gītāpresa : Gorakhpur.
* *Chāndogyopaniṣad*, Ed. by Gangadhar & Mahavir Prasad. Varanasi : Chaukhamba Vidya Bhavan, 2008.
* *Gopathabrāhmaṇabhāṣyam*, Ed. by Pragyadevi & Medhadevi. Delhi : Chaukhamba Sanskrit Pratisthan, 1977.
* *Ṛgvedabhāṣyam*, Ed. by Maharshi Dayananda Sarasvati. Delhi : Manav Utthan Sankalpa Sansthan Gautam Nagar, 2010.
* *Sāmaveda kā Subodhabhāṣya*, Ed. by Sripad Damodar Satavlekar, Balsad : Swadhyay Mandal Pardi, 1985.
* Śatapathabrāhmaṇam, Ed. by Swami Satyaprakash. Delhi : Vijay Kumar Gobindaram Hasananda, 2010.
* *Śatapathabrāhmaṇam with commentary of Sāyaṇa*, Ed. by Nag Publication. Delhi : Javahar Nagar, 1939.
* *Tāṇḍyamahābrāhmaṇam with commentary of Sāyaṇa*, Ed. by Chaukhamba Sanskrit Sansthan. Varanasi : Chaukhamba Sanskrit Sansthan Publisher, 2002.
* *Yajurvedabhāṣyam with commentary of Maharṣi Dayānanda Sarasvatī*, Ed. by Manav Utthan Sankalpa Sansthan. Delhi : Gautam Nagar, 2010.

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

अशोकस्य मुख्यगिरि-स्तम्भलेखेषु अहिंसाभावनम्

डॉ. विश्वजित् मण्डलः*

भारतवर्षस्य इतिहासे मौर्यवंशो एकः ख्यातनामा राजवंशो आसीत्। विष्णुपुराणे वायुपुराणे मत्सपुराणे च मौर्यवंशस्य इतिहासः समुपलभ्यते। तस्मिन् वंशे अन्यतमः नृपतिरासीत् विन्दुसारात्मजो महामतिरशोक इति। सः २६५तमे खिष्टपूर्वाब्दे मौर्यसिंहासनम् आरूढ्यवान्। सिंहासने आरोहणात् अनन्तरं तेन विविध गिरिस्तम्भलेखैः अहिंसावाणीं दिशि दिशि प्रचरितवांश्च। भारतवर्षे उपलब्धेषु कृतपाठेषु अभिलेखेषु अशोकाभिलेखास्तावत् प्राचीनतमाः। तेषां कालः खिष्टपूर्वं तृतीयशतकम्। तस्याभिलेखाः धर्मलिपिरिति नाम्ना अभिधीयन्ते। महामतिना अशोकेन यत् अहिंसाविषयकं चिन्तनं कृतं तन्न तेन सृष्टिमिति "**न हिंस्यात् सर्वभूतानि**" इति श्रुतिः। "**अहिंसा परमो धर्मः**" इति स्मृतिरपि। अहिंसा शब्दस्यार्थः भवति वाङ्मनकायैः परपीड़ाभावे, प्राणिपीड़ानिवृत्तौ वेति। अर्थात् लोहादिना ताड्यन् मनुष्यः प्राणिनं प्रति काय-मन-वाग्भिः पीडनमरणादिरूपा यां हिंसामाचरति तस्मात् एकान्तविरतिरेव अहिंसा उच्यते। शास्त्रे अहिंसा शब्दः सामान्यतः प्रयुज्यते। ते यथा -"**अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वण्येऽब्रवीन्मनुः**"[१] इति मनूक्तेः "क्षमा सत्यं दमःशौचं दानमिन्द्रियसंयमः। अहिंसागुरुशुश्रूषातीर्थानुसरणं दया, आर्जवं ह्रीरलोभश्चदेवब्राह्मणपूजनम्। अनभ्यसूया च तथा धर्म्मः सामान्य-उच्यते। "**अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। दानं शमोदयाक्षान्तिः सर्वेषां धर्म्मसाधनमिति**"[२] इति याज्ञवल्क्यसंहिता। एवमविधस्य शास्त्रवचनस्य प्रतिफलनमेव अशोकस्य अहिंसाचिन्तने जातमिति वक्तुं शक्यते। किं विधाया अहिंसायाः समर्थकः स आसीत् तदेव अस्मिन् शोधपत्रे आलोच्यविषयः इति।

प्राचीने भारतवर्षे दिग्विजय एव सर्वेषां राजान्यवर्गानां ईप्सिततमो विषय आसीत्। तेषु संग्रामेषु बहूनां मनुष्यानां प्राणाः उत्सर्गीकृता जायन्ते स्म। परन्तु व्यतिक्रमी नृपतिरशोकः तस्मिन्नेव सुप्राचीने काले जाति-वर्ण-धर्म-निर्विशेषैः शान्तिं मैत्रीञ्च अचिन्तयत्। तथा च अशोकः शान्ति-मैत्री-वाणीम् अस्याः पृथिव्याः एकप्रान्तात् अपरप्रान्तपर्यन्तं प्रचारयितुं सचेष्टो जातः। तेन न केवलं भारतवर्षे परन्तु बहिर्भारतेऽपि मनुष्याणां हृदयमन्दिरेषु तस्य वाणी सुप्रतिष्ठिता जाता। H. G. Wells महोदयेन उक्तम् - He is one of the greatest monarchs the word has ever seen.[3]

मुख्यगिरिलेखेषु अहिंसाभावना

अधुना वयं मुख्यगिरिलेखेषु अशोकः प्रवर्तितस्य अहिंसाबोधस्य परिचयं ग्रहिष्यामः। यथा प्रथममुख्यगिरिलेखे तेन विज्ञापितं तस्य राजधान्यां पाटलिपुत्रे तथा समग्रराज्येऽपि कस्यापि जीवस्य हत्या न करणीयेति। कस्मिंश्चित् यज्ञेऽपि च पशोरुत्सर्गः निषिध्यते। तथा च सामाजिकमनुष्ठानमपि निषिध्यते। यतः

* सहायकाध्यापकः, कोचविहारमहाविद्यालयः कोचविहारः, पश्चिमबङ्गः

तेषु उत्सवेषु मेलासु वा प्राणिहिंसा क्रियते। तेन मेलाप्राङ्गने विविधप्राणीनां पक्षीणां वा संघर्षप्रदर्शनम् अपि निषिद्धम्। तेन उक्तं च – "**चि जीवं आरभितपा प्रजूहितव्यं न च समाजो कतव्यो बहुकं हि दोसं समाजम् हि पसति ...**"[४] इति। तस्मिन् अनुशासने उक्तञ्च राजकीयमहानसे व्यञ्जनप्रस्तुतहेतुना शतसहस्रपशुहत्याः क्रियते स्म। परन्तु अद्य प्रभृतिः तन्नकरणीयः। केवलं द्वौ मयूरौ एकः मृगश्च हननीया इति। यथा तेन उक्तम् "**प्राणा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सो पि मगो न धूवो।**"[५] तस्यानुशासने एतदपि उक्तम् एते पशवोऽपि प्रतिदिनं न हन्तव्येति। तस्मिन् विषये अभ्यस्ते सति, पशुत्रयमपि न हन्तव्यम्। तेन सर्वप्रकाराः प्राणिहत्या निषेध एव। तस्य सम्राजः मनोवासनासीत्। तथापि प्रजाचित्त वृत्तम् अनुचिन्त्य तेन प्रथमत एव सम्पूणतः प्राणिहत्या न निषिद्धा इति। यद्यपि एवमविधिप्रवर्तने तस्य रुचिरासीत्, तथापि सः सम्पूर्णतः प्राणिहननं दूरीकर्तुं न अशक्नोत्। तथापि शनैः शनैः प्राणिहत्या निषेधः करणीय इति यत् तेन चिन्तितं तत्तु तदानीं तत् प्रवर्तिते राजधर्मे अहिंसानीतेः प्रतिष्ठायाः परिचायकं जातम्।

न केवलं तेन पशुहत्यायां निषेध आरोपितः परन्तु तस्य द्वितीयमुख्यगिरिलेखे मनुष्येतराणां च कृते चिकित्सापरिसेवा तेन प्रतिज्ञाता। सर्वेषां दीर्घायुषे प्रयोजनीयवनौषधीनां रोपणमपि तेन उपदिष्टम्। विषयेऽस्मिन् तेन उक्तम् – "**मनुस-चिकीछा च पसु-चिकीछा च। ओसुढान च यानिमनुसोपगानि च। मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वर्त हारापितानि च रोपापितानि च।**"[६]

तत्र तृतीयमुख्यगिरिलेखे सम्राट् वचनं यथा – प्राज्ञेव प्राणिहत्या जीवहिंसा आत्मीय–स्वजने ब्राह्मण–श्रमणेषु निन्दा वरीवर्धितवान्। तेन हेतुना तत् प्रतिकाराय मातृ–पितृसेवा आत्मीय–स्वजन–बन्धुं प्रति सौहार्दपूर्णाचरणं ब्राह्मणेषु श्रमणेषु च सदचरणं साधु इति उक्तम्। तद्यथा – "**साधु मातरि च पितरि च सुर्सू (स्रू) सा मितासंस्तु-तञतीनं वाम्हण-समणानं साधु दानं पा (प्रा) णानं ...।**"[७]

महामतिना अशोकेन राज्ञाम् अतीतकालिक प्रमोदभ्रमणं निन्दाजनकं कर्म आसीत् तत् अष्टममुख्यगिरिलेखेऽपि उक्तम्। यतः तेषु प्रमोदभ्रमणेषु राजभिः विभिन्न प्रमोदोत्सवाः क्रियन्ते स्म। तेषु उत्सवेषु मृगयावशतः प्राणिहननम् अनिवार्यमेवासीत्। तेन च असहायभूतानां ग्रामनगरवासीनां प्रजानां स्वाभाविक–जीवन–यापनमपि व्यहन्यते स्म। ततश्च तेन नवमगिरिलेखे उक्तम् विविधप्राणिषु संयमाचारणं ब्राह्मणेषु श्रमणेषु च धर्मसम्मतमाचरणं कर्तव्यम् – "**अत्र इयं दस–भटकसि सम्य–पातिपति गुरुन अ(पचिति)। प्र(ण) न संयमे श्रमण–ब्रमणन (दने) एषे अणे च एदिशे धम–मगले नम।**"[८]

त्रयोदशमुख्यगिरिलेखात् वयं जानिमः राज्याभिषेकात् अष्टमवर्षे अशोकः कलिङ्गदेशम् अजयत्। तस्मिन् तेन युद्धादिहेतुना लक्षमानवाः निहताः जाताः। सार्धलक्षजनाश्च स्थानान्तनगताः बहवो जनाः निश्चिह्णा अभूवन्। ततः अनया संघटनया अनुशोचनया अशोकस्य अन्तःकरणं दग्धीभूतं जातम्। ततः प्रभृतिः सः प्रजासु अत्यन्तमेव क्षमाशीलो जातः। जीवनहननपरिहाराय अपराध्यो जनः निजदोषं स्वीकृत्य क्षमां प्राप्नोति स्म। अशोकेन ईप्सितं सर्वे जनाः आत्मसंयताः अक्षताः नम्रशान्तमनसाम् आधिकारिणः स्युरिति। यथा – "**यो पि च अपकरेयति क्षमितवियमते व देवेनं (प्रि) यस यं सको क्षमनये। ... देवनं पियस वुचति तेष किति अवत्रपेषु न च हंञेयसु। इच्छति हि देवनं प्रियो सव्र–भुतन अक्षति संयमं सम(च)रियं रंभसिये**"[९] इति। अपि च पुत्रपौत्रान् उद्दिश्य अशोकेन निर्देशितम् यत् नूतनतया राज्यविजयकथा न चिन्तनीया इति। यदि केनचित् राज्यविजयं कृतं तर्हि तत्र लघुदण्डं विधाय धैर्यम् अवलम्बनीयम्। तेन उक्तम् च – "**किति पुत्र पपोत्र मे असु नवं विजयं म विजेति। व अ मञिषु स्प**

(कस्पि) यो विजये (क्षं) ति च लहु दं डत च रोचेतु तं च यो विज (यं) यो विजयं मञ (तु) इति"[१०] प्राणीसंभोजनद्वारा शरीरपोषणादिकर्मणा पशुषु मानवानां यत् ऋणं जायते तस्य अपाकरणम् जीवकल्याणविधानेन भवेत् इति महामतेः चिन्तनम् आसीत् मतं वा। येन सर्वे मानवाः दोषात् मुक्ताः सन्तः विपन्मुक्ताश्च जायेयुः तेन हेतुना अशोकेन राजकीय निर्देशाः गिरिलेखेषु उत्कीर्णा कृताः।

मुख्यस्तम्भलेखेषु अहिंसाभावना

महामतेः अशोकस्य पञ्चममुख्यस्तम्भलेखेऽपि अहिंसाभावना परिदृश्यते। तस्य राज्याभिषेकस्य षड्-विंशतिवर्षे कतिपयः पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गश्च अवध्यरूपेण घोषित्। वस्तुतस्तु पशवः कृषि-अर्थनीतयोः भित्तिस्वरूपा। तेषां नाशे कृषिकर्मनि विपद् भविष्यति। इत्याशङ्कायां अशोकेन सर्वप्रकाराः प्राणीहत्या निषिध्यः। विशेषतः तेन उक्तम् - "**मे इमानि पि जातानि अवध्यानि कटानि। सेयथ सुके सालिके अलुने चकवाक हंसे नंदीमुखे गेलाटे जतुक अंवा-कपिलिक दुडि अनठिकमछे वेदवेयके गंगा-पूपूटके संकुज-मछे कफट ... गाम-कपते सवे चतुपदे ये पटिभोगं नो एति न च खादियति।**"[११] अर्थात् शुकः शारिका चक्रवाक् हंसश्च पक्षिणः अद्यतः अवध्यः। इतः परं षाण्मासिकानधिकवत्सः चतुष्पद्प्राणी च न हन्यते। अपि च सजीवतुषाणां दग्धकर्म निषिध्यते। अनर्थकायै हिंसायै वनदहनमपि कर्तुं न शक्यते। किमर्थमित्युक्ते वनमध्येस्थितानि फलानि मूलानि च दग्धानि भविष्यन्ति, तस्मात् खाद्यसंकटो भविष्यति।

देवानां प्रियदर्शि राजा पञ्चविंशतिवारं कारागारबद्धमनुष्याणां मुक्तिं अददत्। एतत् कार्यं सुष्ठतया परिचालनाय 'धर्ममहामात्रं' नियुय्यते स्म। तेन भृत्य-ब्राह्मणानाथ-वृद्धाणां कारागारात् मुक्तिं चाददत्। अपि च तेषां संसारप्रतिपालनाय अर्थदानं क्रियते स्म। यथा तेन उक्तम् - "**भृतार्येषु ब्राह्मणेभ्येषु अनाथेषु बृद्धेषु हितसुखाय ...बन्धन बद्धस्य प्रतिविधानाय अपरिबोधाय मोक्षाय च।**"[१२]

उपसंहारः

सम्राज् अशोकः तस्य अभिलेखैः दिग्विजयनीतिं परित्यज्य धर्मविजयनीतिं प्रवर्तितवान्। अशोकस्य मतेन धर्मविजय एव विजयः न तु युद्धविजय इति। वस्तुतस्तुः कलिङ्गयुद्धगतः निर्ममहत्यालीला न केवलं तस्य अन्तःकरणम् विचलितं कृतवान् परन्तु तया हत्यालीलया तस्य राष्ट्रचिन्तनमऽपि परिवर्तितं जातम्। "**सोऽस्ति अनुशोचन देवेनपियस विजिनिति कलिगनि।**"[१३] सम्राजः अशोकस्य चिन्तने युगान्तरः समुपस्थितः। एवं परिवर्तनं न कदापि कुत्रापि वा राष्ट्रनायके पूर्वं दृष्टम्। सम्राट् अशोकेन यो धर्मः प्रचारितः तत्र सम्यक् चरित्रं विश्वमैत्रीभावः विश्वभातृत्वबोधजागरणम्सर्वोपरिमानवधर्मबोधोन्मेषः भित्तिस्वरूपोऽभूत्। तेन च अशोकीयधर्मस्य मूलकथा अहिंसा आसीदिति विबुधानां मतम् ऐतिहासिकानां वेति।

।। इति शमम् ।।

सन्दर्भाः

१. मनुसंहिता, १०.६३

२. याज्ञवल्क्यसंहिता, १.१२२

३. सुमिता वटव्याल - भारतीय अभिलेख संग्रह ओ इतिहास वीक्षण, संदेश, कलकाता, २०१३. पृ. ३२

४. अशोकस्य प्रथममुख्यगिरिलेखः - ३

५. अशोकस्य प्रथममुख्यगिरिलेखे – ११

६. अशोकस्य द्वितीयमुख्यगिरिलेखे – ५, ६

७. अशोकस्य तृतीयमुख्यगिरिलेखे – ४, ५

८. अशोकस्य नवममुख्यगिरिलेखे – ४, ५

९. अशोकस्य त्रयोदशमुख्यगिरिलेखे – १३

१०. अशोकस्य त्रयोदशमुख्यगिरिलेखे – ११

११. अशोकस्य पञ्चमुख्यस्तम्बलेखे – १–४

१२. डॉ. सुमिता वटव्याल – भारतीय अभिलेख संग्रह ओ इतिहास वीक्षण, सदेश, कलकाता, २०१३. पृ. ७८

१३. डॉ. सुमिता वटव्याल – भारतीय अभिलेख संग्रह ओ इतिहास वीक्षण, सदेश, कलकाता, २०१३. पृ. ८२

ग्रन्थ-सूची

* वटव्याल सुमिता – भारतीय अभिलेख संग्रह ओ इतिहास वीक्षण, सदेश, कोलकाता, २०१३.
* वटव्याल सुमिता – गुप्तोत्तर अभिलेखे इतिहास वीक्षण, सदेश, कोलकाता, २०१३.
* सरकार देवार्चना, त्रिपाठी अर्पिता, प्रधान सुलग्ना – भारतीय अभिलेख ओ प्रत्नलिपि, पश्चिमवङ्ग राज्य पुस्तक पर्षत्, कोलकाता, २०१९.
* सरकार, दीनेश चन्द्र – अशोकेर वाणी, कोलकाता, १९८१.
* Barua, B.M. -*Asoka & His Inscriptions*, Calcutta, 1955.
* Basak, R.G.- *Asokan Inscriptions*, Calcutta, 1959.
* Thapar, Romila - *Asoka & The Decline of the Mauryas*, Delhi, 1973.

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

वैदिकदर्शने देवतातत्त्वम् : अनिर्वाणदिशा

चन्दनपइ*

भारतीयसंस्कृतिराविर्भावकालनिर्णयः यथासम्भवः तथैव देवतानामुद्भवकालः। अनादिकालाद् अद्यतनदिनाङ्कपर्यन्तम् सहस्र तथा लक्ष्यवर्षेभ्यो यावदस्मिन् देशे देवोपासना स्वरूपकल्पना चेति प्रचलितास्ति। देवमूर्तिविषयेऽपि विविधानि वैचित्राणि परिलक्ष्यन्ते। बहवो जनाः कौतुहलकारणाद् विविधानि शोधकार्याणि विरचितानि। भारतीयदेवानामुद्भवः तथाच विकासो विस्मयकर इतिहासो वर्तते। वेदपुराणतन्त्रस्मृतीतिहासादिग्रन्थे देवानामुद्भवे क्रमविवर्तनं परिलक्ष्यते। भारतवर्षोऽयं पुण्यभूमिरूपेणप्रसिद्धः। तत्र शङ्खनादेन सूर्यदेवस्याह्वानेन दिवसस्य सूचना भवति, पुनः सायंकाले तेन शङ्खनादेन सूर्यदेवस्य गमनेन सह चन्द्रदेवस्याह्वानमपि भवतीति प्रक्रिया अनन्तकालादेव प्रचलितास्ति। विविधकर्मानुष्ठाने तथा प्रकृत्याः विपर्ययकाले पूजोपासनादिभिः देवतानामाह्वानरीतिः दरीदृश्यते। परन्तु देवोऽयं कुतः आगतः? कुत्र वा अस्य प्रथमप्रयोग उपलभ्यते? इत्यादयः प्रश्नाः मे मानसम् उद्वेलयन्ति। एतेषां प्रश्नानां प्रत्युत्तररूपेण वक्तुं शक्यते- भारतीयसंस्कृतिः तथा सनातनधर्मस्य मूलाधारः खलु वेदः। तत्र ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलान्तर्गतप्रथमसूक्तस्य प्रथममन्त्रे **'देव' शब्दस्य सर्वादौ प्रयोगः संलक्ष्यते। तत्र अग्निदेवो यज्ञस्य देवरूपेण वर्णितः।**[१] देवशब्दस्यास्य विषये निरुक्तकारयास्काचार्यपादैरुक्तम् - **''देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता।''**[२] विषयेऽस्मिन् सर्वानुक्रमणीकारेणापि प्रोक्तम्- **"या तेनोच्यते सा देवता।"** अत्र तेन शब्देन मन्त्रराशिः बोध्यते। सायणाचार्यपादैः कथितम् - "दिव्यतीति देवः।" वेदान्तसूत्रस्य प्रणेताव्यासदेवेन भणितम् - "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्"[३] इत्यनेन सूत्रेण प्रकृत्याभिमानितत्त्वेन देवतानां वर्णनमुपस्थापितम्। सामान्यतया 'दिव्'-धातुना सह अच्प्रत्ययप्रयोगेन देवशब्दो निष्पन्नो भवति। देवशब्देन सह स्वार्थे 'तल्'-प्रत्ययोगेन देवताशब्दो निष्पद्यते। देवशब्दस्य स्त्रीलिंगशब्दो खलु देवताशब्दः। अनिर्वाणभागैरुच्यते- **"वेदे 'दिव्' इति प्रातिपदिकरूपेण व्यवह्रयते, न तु धातुः। अर्थात् प्रातिपदिक् 'दिव्' द्युलोकः, आलोकज्ज्वलाकाशः।"**[४] अतो दिव्-शब्दस्यार्थो ज्योतिः। दिव्-देव-दिवेति शब्दत्रयेण भावनैका प्रकाशिता। संहितायाम् अग्नि-इन्द्र-सोम-रुद्र-मरुत्-उषा-पूषा-आदित्य-देवाः 'वसुः' इति नाम्नाभिधियन्ते। अतः देवतायाः साधारणसंज्ञा 'वसुः' इति कथ्यते। यस्यार्थो 'दीपको ज्योतिर्मयः' वेति। अर्थाद्देवताशब्दस्यार्थो ज्योतियुक्तो ज्योतिमयो वा। यः स्वकीयेन ज्योतिद्वारा प्रकाशितो भवति, सर्वेषां प्रकाशयति च। विविधनाम्ना उक्ताः देवताः अव्यक्तपरब्रह्मणः स्वरूपभूताः इति। देवोद्देश्येन आर्यहृदये या आकुतिः परिलक्ष्यते, तज्ज्योतिराकुतिः। ऋक्संहितायामुच्यते - "तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्रा।"[५] सूर्यदेवस्योदयेन तमो दूरीभवति। एवं देवाः मानवजीवनरक्षणाय सर्वदा ज्योतिं प्रयच्छन्तीति।

---

* शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, सिधो-कानहो-वीरसा-विश्वविद्यालयः पुरुलिया, पश्चिमबङ्गः

अनिर्वाणदिशा देवतासंख्या

देवताशब्दस्योत्पत्तेरनन्तरं देवतासंख्याविचारो विवेच्य विषयो वर्तते। विषयेऽस्मिन् मतैक्यं नैव परिलक्ष्यते। संहितात् श्रौतसूत्रपर्यन्तं विविधेषु स्थानेषु देवसंख्यायाः वैशादृश्यमुपलभ्यते। अस्मिन् विषये ऋषिणाम्मनसि संशयाः समागच्छन्ति –

"को मा ददर्श कतमः स देवा यो मे तन्वी बहुधा पर्यवसत्।"[६]

बृहदारण्यकोपनिषदि संशयावृतशाकल्य-ऋषिणा याज्ञवल्क्यमुद्दिश्यप्रोक्तम् – "कति देवा याज्ञवल्क्येति।" तत्र याज्ञवल्क्येनोक्तम्- 'वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्येमिति।" अर्थात्तत्र याज्ञवल्क्येनापि निःसंशयेन वक्तुं न शक्यते कति देवतासंख्येति। ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले त्रयस्त्रिंशदिति देवता उल्लिखिताः सन्ति –

"यो देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्।।"[७]

तत्र प्रत्येकं स्थाने एकादशविधाः देवताः निवसन्ति। यजुर्वेदस्य त्रयस्त्रिंशदध्याये एकोनचत्वारिंशदुत्तरत्रिशताधिकत्रिसहस्रदेवताः उल्लिखिताः सन्ति। एताः देवताः अग्निदेवं स्तुवन्तिः। अतस्तत्र साकुल्येन (३३३९+अग्निदेवः)=३३४० देवताः समुल्लिखिताः सन्ति।

"त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त।।"[८]

ऋग्वेदस्य तृतीयमण्डलस्य नवमसूक्ते मन्त्रोऽयमुपलभ्यते। तत्रैव समानसंख्या परिलक्ष्यते। यजुर्वेदस्य षोडशाध्यायस्य चतुःपञ्चाशन्मन्त्रे उक्तमस्ति- "असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्यम्।" अथर्ववेदेऽपि देवतासंख्याविषये नास्ति कापि विशेषता। तत्र षट्सहस्रः (६०००) पर्यन्तं देवतासंख्याः वर्णिताः सन्ति। तत्रोच्यते – "**ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंसयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट् सहस्राः। सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति।**"[९] शांख्यायनश्रौतसूत्रे उपलभ्यते – "ये स्थ त्रय एका दशासः त्रयश्च त्रिंशञ्च। त्रयश्च त्री च शता। त्रयश्च त्री च सहस्रा...।"[१०] यास्काचार्यपादैर्देवतासंख्याविषये उक्तम् – "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वाय्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। "इत्थं निरुक्तानुसारं तिस्र एव देवताः सन्तीति, परन्तु वेदे एकेश्वरवादोऽपि परिलक्ष्यते। याज्ञवल्क्येनोऽपि अन्तिमे एकदेवत्वं स्वीकृतम्। यास्काचार्येणाप्युक्तं – "माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयत एकस्यात्मनोऽन्यदेवाः प्रसङ्गानि भवन्ति।"[११] ऋग्वेदस्य दशममण्डले आम्नातम् – "विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः।"[१२] एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश ...।[१३] अष्टममण्डले आह "अस्येक शान ओजसा।"[१४]

वेदे बहुदेवतावाद साधारणदृष्ट्या परिलक्ष्यते। यतोहि बहुत्वं विहाय एकत्वं न सम्पद्यते। अनेन क्रमेण अस्माभिः "**नेति-नेति**" तत्त्वमुपेक्षितम्। परन्तु अन्तिमे "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" इति अनुभूयते। गीतानुसारमेतद्वैशिष्ट्यं "विभूतिः" वर्तते। देवता-तत्त्वयोः मध्ये विभूतिचेतनमार्गः सर्वदा उन्मुक्तः। संख्याद्वैतं **तावन्नावश्यकं यावदावश्यकं भावाद्वैत्वमिति**। ऋक्संहितायामद्वैततत्त्वं सुस्पष्टम्। तत्रोक्तम्

– "**देव एकः**" (१०/५१/१) इति। अद्वैतबोधस्य प्रथमभूमिः देववादेनाश्रिता। ऋग्वेदसंहितायां द्वितीयमण्डले एकदेवतत्त्वस्योदाहरणं सुस्पष्टं परिलक्षितम्। गृत्समदृषिणा अग्निदेवं प्रत्युक्तं त्वमेव इन्द्र–विष्णु–ब्रह्मणस्पति–मित्रवरुणार्यमा–त्वष्टा–रुद्र–पूषा–सविता–भगेति विविधानि विशेषणानि प्रयुक्तान्यत्र –

''त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधतः सचसे पुरध्या।।
त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः।।
त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यं तव ग्रावो मित्रमहः सजात्यम्।
त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्ध्यं त्वं नरां शर्धो असि पुरुवसुः।।
त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।
त्वं वातैररुणैर्यासि शंगयस्त्वं पूषा विधतः पासि नुत्मना।।
त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे यस्तेऽविधत्।।"[१५] इति।

संहितायां विविधेषु मण्डलेषु वैश्वानरसूक्तेषु च देवतायाः आदिदेवत्वं सर्वमयत्वञ्च वर्णितम्। वामदेव–ऋषिभिः चतुर्थमण्डले इन्द्रदेवं प्रतीदृशं वर्णनं प्रपञ्चितम्। हिरण्यगर्भस्य प्रजापतीति संज्ञा। एतत्सविता–सोमयोः विशेषणम्। ब्राह्मणसाहित्ये प्रजापतिरेकदेवस्य प्रकृष्टसंज्ञेति। अतः एतत्सर्वं परित्याज्य 'पुरुषः' इति तस्य सरलविशेषणम्।

सुदीप्तात्मचेतनमेव देवस्वरूपः। एकचेतनया बहुधावृत्तिः प्रत्यक्षो जातः। अतः अत्र तु बहुदेववादः। परन्तु निदिध्यासने चेतनाप्रगाढाविनिवेशे चिन्मयसन्मात्रे सर्वमेव पर्यवशितं स्यादिति। आरोहक्रमोऽयम्। एकसत्त्वा विच्छुरितं स्याद्विचित्रचिद्वृत्तिना इत्यवरोहक्रमः। एकदेववादे बहुदेववादे चेति नास्ति विरोधो वैदिकभावनायाः।

महर्षिदयानन्दपादैः सत्यार्थप्रकाशग्रन्थस्य प्रथमसमुल्लासे ईश्वरवाचकस्य नाम्नः व्याख्या कृता। तत्र वेदोपनिषत्स्मृत्यादीनां प्रमाणेन त्रयोदश नाम प्रदत्तं तैः। तन्मध्ये '**ॐ**' (**ओ३म्**) इत्यस्य शतनाम निरूपितम्। अत्र '**ॐ**' इति शब्देन परमेश्वरो बुध्यते (द्रष्टव्यम् सत्यार्थप्रकाशः, प्रथमः समुल्लासः)। अर्थात् महर्षिदयानन्दसरस्वतीमतानुसारं परमेश्वरस्य शतनामानि सन्ति। योगदर्शने महर्षिपतञ्जलिभागैरुच्यते – "**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**" "**तस्य वाचकः प्रणवः**" चेति (योगदर्शनम् १.२६–२७)।

अनिर्वाणवर्यैरुच्यते– "**अद्वैतवादस्य भूमिः संहिताचतुष्टये सुचिता। यथा 'एको देवः'– यत्र देवतायाः विशेषणमुपलभ्यते। 'एकं सत्'– यदा देवता अरुप–सन्मात्रम्। 'एकं तत्'– यदा देवता असत्कल्पः। 'न सत् नासत्'– स सर्वोपाधिविनिर्मुक्तः। एकदेवतया सह बहुदेवताः सम्पृक्ताः। अतः एकदेवताप्रसङ्गेन बहुदेवता आगमिष्यन्तीति।**"[१६]

अतः विविधदेवतानाम्मूले परमब्रह्मैव विराजते इति सूक्ष्मविचारः। स भिन्नरूपेण प्रकाशयति। यथा नद्याः विभिन्नेन नाम्नाभिधीयन्ते कदापि नदी, कदापि तटीनि स्रोतस्वीन्यादीनि तथैव तस्य गुण–कर्म–

स्वभावेन अग्नि-इन्द्र-वरुणादीनि नामानि कल्पितानि सन्ति। ऋग्वेदस्य तृतीयमण्डलस्य पञ्चपञ्चाशत्सूक्तस्य प्रत्येकं मन्त्रस्यान्ते कथितमस्ति - "**महद्देवानामसुरत्वमेकम्।**" अस्यार्थः त्वमेव सर्वासां देवतानां प्राणदातेति। यजुर्वेदस्य द्वात्रिंशदध्याये उक्तमस्ति- "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।**" ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले दृश्यते- "**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।**"[१७] दशममण्डलस्य चतुर्दशोत्तरशततमसूक्तस्य पञ्चममन्त्रे समुपलभ्यते - "सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।" अनिर्वाणेन विचार्यते - "**वैदिकभावनायां यथा एकदेवता तथैव बहुः। साधनया बहुदेवता त्रयस्त्रिंशत् भवितुं शक्यते .... परन्तु चैतन्यमेकम्। परिव्याप्तं भूत्वा बहुदेवतायाः सृष्टिरभवदिति।**"[१८] अर्थाद्देवताः परमात्मनः विविधप्रकाशरूपेण विराजन्ते अस्यां धराभूमौ। देवानां सहचरभावना अतीव महत्त्वपूर्णा। चैतन्यमेकं बहुधाभूत्वा बहुदेवता उत्पद्यते। एतज्ज्ञानार्थं चिद्वृत्तिनां सुषमसमाहारः आवश्यकः। भूलोक-द्युलोकान्तरिक्षलोकसर्वं चिन्मयमित्यनुभवः संहितायां वैश्यदेवसूक्तेषु उद्भाषितः। बहुतत्त्वाद् एकतत्त्वं प्रति गत्वा एकतत्त्वमनुभवो भवति। पुनः एकत्वाद् बहुत्वे प्रत्यावर्तनमिति सर्वत्र परिलक्ष्यते। अनेन क्रमेण वैदिक-अद्वैततत्त्वोपलब्धिः भवति।

देवतास्थानम्

देवतासंख्याप्रमाणानन्तरं स्थानभेदे तेषां विभाजनं परिलक्षितं भवति। वेदे बहुदेवोपासना न त्वविक्षिप्तम् अनियन्त्रितं चास्ति। सुनिरूपितं लक्ष्यमस्ति तस्य। बहोः एकम्, तमसः ज्योतिः, मृत्योः अमृतम्, बन्धनान्मुक्तिः इति चेतनायाः उत्तरणम्। अनया दृष्ट्या देवानां स्वभाववर्गीकरणं भवेल्लोकसंस्थानानुसारम्। देवतास्थानविभाजनविषये सुप्रसिद्धो यास्काचार्यः। तेन देवतानां कृते पृथिवीस्थानमन्तरिक्षस्थानं द्युस्थानञ्चेति विभाजनं कृतम्। अग्निदेवः पृथिवीस्थानस्य, वाय्वेन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानस्य, सूर्यदेवः द्युस्थानस्येति क्रमेण स्थानत्रयं मुख्यदेवतानां विभाजितम्- "**अग्निः पृथिवीस्थानो वाय्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।**" संहितायामपि एतेषां स्थानानामुल्लेखोपलभ्यते। परन्तु सूक्ष्मरूपेण विचार्यते चेत् प्रत्येकं स्थानस्य विभागत्रयमुपलभ्यते। यथा-

"**त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।**
तिस्रो दिवः पृथिवीस्त्रिस्त्र इवन्ति त्रिभिर्व्रतैरभिनो रक्षतित्मना।।"[१९]

सायणाचार्येण एतेषामुपेक्षितमेवम् अवान्तरभेद इत्युक्तः। तेनोच्यते- "पूर्वमन्तरिक्षस्यैवावान्तरभेद उक्तः इह तु सामान्याकारेणेत्यपुनरुक्तिः। ...अथ द्युपृथिव्योरवान्तरभेद उच्यते।" सायणानुसारं मन्त्रोऽयमवान्तरभेदात्मकः इति चेदन्यत्रोऽपि एतेषां विभाजनं परिलक्ष्यते। यथा- "त्रिरश्विना सिन्धुभिः सप्तमातृभिस्त्रय आहावास्त्रेधा हविष्कृतम्/ तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिरक्तुभिर्हतम्।।"[२०] "त्रिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्/ आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तश्चिकेतत्।।"[२१] अतः वक्तुं न शक्यते अवान्तरभेदोऽस्तीति।

अनिर्वाणेनोऽपि सूक्ष्मभेदः स्वीकृतः। तेनोच्यते- "**पृथिवीश्च द्यौश्च प्रधानं त्रिषु लोकेषु। त्रिषु लोकेषु विभागत्रयं वर्तते, तदा पृथिवीत्रयमन्तरिक्षत्रयं द्यौत्रयञ्चोपलभ्यते। द्यौपृथिव्योर्मध्ये सेतुवद्विराजते अन्तरिक्षमिति। लोकत्रयस्योर्द्धे 'स्वः' नाम्ना लोकः लभ्यते। ज्योतीत्यस्य**

प्राचीनार्थः।"[२२] अतः लोकचतुष्टयमिदानीं प्राप्तम्। इतोऽपि ऋग्वेदस्य पुरुषसूक्ते (१०.९०.१६) **'नाक'** इति लोकमेकं दृश्यते संहितायां– "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।/ ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।" सायणाचार्येण 'नाकं' शब्दस्यार्थं 'विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गम्' कथितम्। रसस्य भाँतिः ज्योतिरनेता इति क्रमेण आदित्यो नाकः। 'क' इति सुखस्य नाम, तस्य प्रतिषेधः 'अक' इति। तस्य प्रतिषेधाद् द्युलोकस्य नाम 'नाक'। निघण्टौ 'स्वः' 'नाक' इति पर्यायशब्दः। संहितायां भिन्नार्थः प्रतिभाति। 'अप्त्य' इति स्थानाद् अन्तरिक्षः सञ्जातः इत्युक्तम् संहितायाम्– "पूर्वे अर्धे रजस्य अप्त्यस्य।"[२३] अप् प्राणस्य प्रतीकः। अतोऽन्तरिक्षलोकः प्राणलोकश्चेति कथितुं शक्यते। अतः पृथिव्यन्तरिक्षं, द्यौः, स्वः नाकञ्चेति पञ्चस्थानं प्राप्तम्। विषयेऽस्मिन्नुच्यते संहितायां– "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळा येन स्वः स्तम्भितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।**"[२४] अतः लोकसंख्या पञ्चेति। सूक्ष्मभेदं स्वीकृत्य साकुल्येन एकादशः स्थानं भवेदिति (पृथिवीत्रयम् + अन्तरिक्षत्रयम् + द्यौत्रयम् + स्वः+ नाकः)। 'स्वः' इत्यस्य 'ज्योतिः', 'आदित्यः', 'द्युलोकः' इति अर्थत्रयं प्रकाशितमनिर्वाणपादैः। अनिर्वाणेनोक्तम्– "**पञ्चषु लोकेषु द्यौपृथिव्याश्च देवता रूपेण कल्पते। स्वर्नाकश्च द्युलोकस्य विभावः, तौ देवता नाभवत्। तथैव अन्तरिक्षोऽपि देवत्वमप्राप्तम्। चेतनभूमिरूपेण एतेषां त्रयाणां गणना करणीया। स्वश्च नाकश्च सिद्धिभूमिः, अन्तरिक्षः साधनाभूमिश्चेति। पृथिवी प्रतिष्ठा द्युलोकातिष्ठाश्चेति।**"[२५] देवानां निर्दिष्टस्थानं वर्तते, तथापि त्रिकालसञ्चारीति तु स्मरणीयम्। ते सर्वत्र गमनशीलाः। सूर्यलोकस्य सुनिश्चितं केन्द्रमस्ति परन्तु तस्य रश्मिः यथा सर्वत्र विराजते तथैव देवताः। एकस्मिन् स्थाने तस्य बन्धनं न तु दुरुहकार्यम् अपि त्वसम्भव एव।

देवताविग्रहविमर्शः

वैदिकदेवतायाः विग्रहास्ति उत न जिज्ञासेयं सुप्राचीना। अर्थाद्देवता मूर्तममूर्तम्वेति विषये मतान्तरमुपलभ्यते। मन्त्रं श्रुत्वा एवम्मन्यते यद्देवतायाः विग्रहोऽस्तीति। ते हविर्ग्रहणं सोमरसपानञ्च अकुर्वन् आशिषं प्रयच्छन्ति। संहितायामपि प्रमाणमस्ति विषयेऽस्मिन्। यास्काचार्येण निरुक्तग्रन्थे प्रमाणं प्रदत्तम्। तेनोक्तम्– "अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकं चेतनवद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते।। 'ऋष्वा त इन्द्रस्थाविरस्य वाहु।' 'यत्सङ्गभ्णा मघवन्काशिरिते।' अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः।। 'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि।' 'कल्याणीर्जाया सुरणं गृहेते।' तथापि पौरुषविधिकैःकर्मभिः।।' 'अद्धीन्द्र पिव च प्रस्थितस्य।' 'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्'।"[२६] अतः देवताविग्रहोऽस्तीति विषये कतिचित् प्रमाणानि आगमिष्यन्ति, यथा –

(१) देवता पुरुषाकारवद् अथवा पृथिव्यादि अचेतनवदिति।

(२) देवविग्रहः नास्तीति अप्रमाणम्, कारणं जड़वस्तुना साकं कोऽपि न स्तूयते।

(३) देवताः परस्परं सम्भाषणं कुर्वन्ति। यथा– ऋग्वेदस्य यम–यमी संवादः (१०.१०), पुरुरवा–ऊर्वशी संवादः (१०.९५), सरमापणि–संवादः (१०.१०८)। यदि विग्रह नास्तीति चेत् सम्भाषणं कथं सम्भवति? अतः संवादसूक्तैः प्रमाणितं देवविग्रहोऽस्तीति।

(४) देवतायाः सस्त्राणि वाहनानि च सन्ति, यथाश्वः, वज्रः रथादयश्च। यदि देवता अमूर्तं भवेत्तर्हि वाहनस्य का आवश्यकता? अतः देवता मूर्तम्।

(५) देवतानां पत्न्यप्युपलभ्यन्ते। यथा अग्निदेवस्य पत्नी अघ्नायी, इन्द्रदेवस्य इन्द्राणी, रुद्रदेवस्य रुद्राणीति च। अमूर्तस्य पत्नी कदापि सम्भवति वा? अतः देवतायाः मूर्तत्वं प्रमाणितम्।

संहितायां यथा मूर्तत्वप्रमाणमस्ति तथैवास्ति अमूर्तत्वम्। यथा ऋक् संहितायां देवतायाः अमूर्तत्वेनोक्तम्- "देवेभ्य हि प्रथमम् यज्ञियेभ्यऽमूर्तत्वमं सुवासि भागमुत्तमम्।"[२७] "अस्मै वत्सं परिषन्तं न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः।"[२८] "शृणोतु नो दैव्यं शधों अग्निः शृन्वन्तु विश्वे महिषा अमूराः।"[२९] निरुक्तकारेण निरुक्तग्रन्थस्य सप्तमाध्यायस्य सप्तमकाण्डे उक्तम्- "अपुरुषविधाःस्युरित्यपरम्। अपि तु यद्दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्। यथाग्निर्वायुरादित्य...एते यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः।" अत्रापि देवतायाः अमूर्तत्वं प्रमाणितम्। बृहदारण्यकोपनिषदि पुरुषस्य मूर्तत्वामूर्तत्वविषये वर्णनमस्ति। तत्र मूर्तममूर्तमिति ब्राह्मणः रूपद्वयं प्रतिपादितम्। वाय्वाकाशाभ्यां यद्भिन्नं तन्मूर्तम्। वाय्वाकाशभ्याम् अमूर्तम्, अमृतमेतत् - "द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च। तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत् सत्यस्य एतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्तस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः। अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत् तस्यैतस्यमूर्तस्य एतस्यामृतस्यैतसा यत एतस्य तस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदेवतम्।"[३०] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाग्रन्थे दयानन्दसरस्वतीस्वामिना उक्तम्- "तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्। अन्यञ्च। मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्य्यदेवो भव अतिथिदेवो भव। प्रपा. ७। अनु.११।। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।। प्रपा. ७। अनु.१।। इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्चदेवतास्तैत्तिरीयोपनिषदद्युक्ताः। यथात्र माता पितरा वाचार्य्योऽतिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति।। एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति।।"[३१] इति।। अनिर्वाणेनोक्तम्- "**देवता अमूर्तं, न तु अरूपम्। मानवाः देवोपासना करोति चेत् पुरुषविग्रहम् आगमिष्यते इति वैदिक-ऋषिभिः स्वीकृतम्। वेदपन्थ्यार्याः देवोपासना कृतवन्तः न तु मूर्तिपूजनम्। देवविग्रह नास्ति अतः देवोपासनायाः निर्दिष्टं देवायतनमपि नासीत्। परन्तु देवोपासनानिमित्तं ध्यानं प्रचलितमासीदिति।**"[३२]

अतः वैदिकदेवविग्रहो नास्तीति स्पष्टम्। परन्तु केचन वदन्ति यज्ञदेवस्य विग्रहोऽस्तीति संहितायामुपलभ्यते। ते प्रमाणरूपेणोपस्थाप्यन्ते- "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।"[३३] परन्तु अस्य प्रमाणस्य निरीकृतं सायणाचार्यादयः विविधैः आचार्यैः। महर्षिपतञ्जलिपादैः महाभाष्यस्य पस्पशाह्निके मन्त्रस्यास्य व्याख्या कृता। तैरुच्यते- "चत्वारि शृङ्गानि' चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। 'त्रयो अस्य पादाः'- त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। 'द्वे शीर्षे' द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। 'सप्त हस्तासो अस्य' सप्त विभक्तयः। 'त्रिधा बद्धः'-त्रिषु स्थानेषु बद्धः-उरसि कण्ठे शिरसीति। 'बृषभो' वर्षणात्। 'रोरवीति' शब्दं करोति। 'महो देवो मर्त्या आविवेश' महान् देवः शब्दः। मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तान् आविवेश" इति। अतः न केवलं संहितायाम्, व्याकरणशास्त्रेऽपि अस्य मन्त्रस्य देवविग्रहविषये प्रामाण्यं निराकृतमिति। कुत्रापि वैदिकदेवविग्रहविषये निर्दिष्टविधानं नोपलभ्यते इति तु निश्चितम्। यजुर्वेदस्य द्वात्रिंशोऽध्यायस्य तृतीयमन्त्रे स्पष्टमुक्तम्- "**न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः**" इति। स्वीयोपासनानिमित्तं मनुष्यैः कल्पनाप्रसूतं देवविग्रहं प्रतिष्ठितमिति शेषः।

संकेतसन्दर्भाः

१. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्। ऋग्वेद, १.१.१

२. निरुक्तः, ७.१५

३. ब्रह्मसूत्र, २.१.५

४. वेदमीमांसा– २, पृष्ठ– २४२

५. ऋग्वेदसंहिता, ७.३३.७

६. तदेव, १०.५२.२

७. तदेव, १.१३९.११

८. यजुर्वेद, ३३.७

९. अथर्ववेद ११.५.२

१०. शांख्या. श्रौत., ८.२१.१

११. निरुक्तः, ७.४

१२. ऋग्वेदसंहिता, १०.५१.१

१३. तदेव, १०.११४.४

१४. तदेव, ८.६.४१

१५. ऋग्वेदसंहिता, २.१.३–७

१६. वेदमीमांसा– २, पृष्ठ– २७५

१७. ऋग्वेदः, १.१६४.४६

१८. वेदमीमांसा– २, पृष्ठ ३०७–३०८

१९. ऋग्वेदसंहिता, ४.५३.५

२०. तदेव, १.३४.८

२१. तदेव, १.३५.६

२२. वेदमीमांसा– २, पृष्ठ– ३११

२३. ऋग्वेदसंहिता, १.१२४.५

२४. ऋग्वेदसंहिता, १०.१२१.५

२५. तदेव, पृष्ठ– ३१४

२६. निरुक्तः, ७.६

२७. ऋग्वेदसंहिता, ४.५४.२

२८. तदेव १.७२.२

२९. तदेव, ७.४४.५

३०. बृहदारण्यकोपनिषद्, २.३.१–३

३१. द्रष्टव्यम्– ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अजमेरनगरे वैदिकयन्त्रालये। संवत् १९७७, पृष्ठा ७०–७१

३२. वेदमीमांसा– २, पृष्ठ २५९–२६०

३३. ऋग्वेदसंहिता, ४.५८.३

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

उत्तरमेघे कालिदासस्य पर्यावरणचेतना

डॉ. लक्ष्मीकान्तषडङ्गी*

'**काव्येषु माघः कवि कालिदासः**' इति प्रसिद्धजनश्रुत्यनुसारं संस्कृत-साहित्य-वाङ्मये कालिदासः न केवलमेव कवि अपि तु असौ कविकुलगुरुरासीत्, क्रान्तदर्शी-कविरसौ कालिदासः चरित्र-चित्रणे यथैव पटुः तथैव प्रकृतिवर्णनेऽपि। तस्य रचितानि सर्वाणि काव्यानि एव प्रकृतिमूलकानि सन्ति। अतोऽसौ कविः लौकिकसंस्कृतसाहित्ये प्रकृतिकविरूपेणापि ख्यातोऽस्ति। समग्रेऽस्मिन् संसारे जीवजगत् प्रकृतिश्च मानवजीवनेन सह अङ्गाङ्गीरूपेण संयुक्तम्। एतदर्थं कालिदासकाव्येष्वपि मानवजीवनेन सह प्रकृतिभावनाचित्रं प्रायशः दरीदृश्यते। प्रकृत्या सह मानवजीवनस्य एतादृशी बन्धुत्वभावना विश्वसाहित्ये सुप्रसिद्धा एव।

सुप्राचीनकालादेव सकलज्ञानविज्ञाननिधिषु वेदोपनिषत्सु अनेके मन्त्राः ऋषिभिरुल्लिखिताः सन्ति। तत्रोच्यते- "**देवस्य पश्य काव्य न ममार न जीर्यति।**"[१] अर्थात् दृश्यमानं समग्रजगदिदं परमेश्वरेण रचिता कविता। या कदापि न म्रियते न च प्राचीना जायते। समग्रजगतः मनुष्य-जीवजन्तु-वृक्ष-गिरि-नदी-निर्झरिणी-सागर-सरोवरादयः परमेश्वररचितम् अजरः अमरः सनातनश्च कवितायाः अङ्गीभूतम्। एवमपि ऋग्वेदे उच्यते-'**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रेभूतस्य जातः पतिरेकरासीत्**'[२] इति। भगवद्गीतायामपि भगवता उक्तं यत्-

"**सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।**
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।"[३] इति।

वस्तुत इह जगति सर्वे जीवाः प्रकृतितः जायन्ते तत्रैव जीवन्ति तस्मिन्नेव प्रलीयन्ते च। प्रकृतेः जातः प्राकृतिकः। तत एव विविधानि उपादानानि जातानि यथा- जलं, वायु, तेजः, मृत्तिका, वृक्षाः, स्थावरं जङ्गमश्चेति। एषां सर्वेषां सम्मिश्रणं पर्यावरणम् इत्युच्यते। '**परितः आवरणम्**' इति व्युत्पत्त्या पर्यावरणम् इत्यस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिः जायते।

इह खल्वेव प्राणिसमाजस्य जीवनधारणं परिवेशनिर्मलताया उपरि निर्भरशीलम् विशेषतः प्राणिनामुद्भिदानां पारस्परिकमुपकारकसम्पर्कः वर्त्तते। परन्तु संप्रति आधुनिकयुगे मनुष्याणां प्रकृतिं प्रति दुर्व्यवहारेण जनाधिक्येन अधिकशिल्पोन्नयनेन च प्रकृतेः नियन्तृत्वं गच्छति। अधिकदूषणेन प्राणिनां जीवहानिर्भवति। तेन बहवः जीवाः संप्रति लुप्तप्रायाः। जीवाः नैकेन दुरारोग्यव्याधिना पीड्यमानाः भवन्ति। अतः संप्रतिरयं समयः समुपस्थितः। यदा अस्माभिः सर्वैः मिलित्वा एतस्मिन् विषये चिन्ता कर्त्तव्या यथा कथमेतस्याः दुःस्थितेः परिहारः करणीयः इति। एतद्यदि कर्त्तुं न शक्यते तर्हि इयम् अस्माकं माता धरित्री एकदैव अस्माकं नूनं वासयोग्या नैव भवेत्। एतदर्थं पर्यावरणसुरक्षाप्रसङ्गेऽस्मिन् बुद्धिजीविमानवान्

* अध्यापकः योगदा-सत्सङ्ग-पालपाडा-महाविद्यालयः पूर्व-मेदिनीपुरम्, पश्चिमवङ्गः

सततमेव सचेतयितुं कविभिः प्राचीनकालादेव काव्यादिभिः चेष्टा विहिता। यद्यपि अनया प्रचेष्टया संप्रति प्राचीनं तपोवनं न प्राप्तव्यं तथापि तरुच्छाया अल्पायासेनैव प्रापणीया। किञ्च श्यामलता अपि नैव दुष्प्राप्या। यद्यस्माकं गृहपार्श्वे कश्चिद् वृक्षो जायते, तत्रापि यदि दैवात् तस्य फलप्राप्तिः न स्यात्, तथापि तस्या छाया न केनापि निवार्यते। किञ्च तस्मिन् वृक्षे विहगानां समागमः। ते विहगाः तेषां कलरवेण संध्यां सूचयिष्यन्ति तेषां कूजनेन च प्रभातकालस्यापि सूचना उद्घोषिता भविष्यति। एतदर्थं केनापि वङ्गीयकविना उच्यते यथार्थेण–

'वयं पक्षिकूजनेन सुप्ताःपक्षिकूजनेन च भवामो जागरिताः।'
मोरा पाखिर डाके घुमिये पडि, उठि पाखिर डाके जेगे।[४]

पर्यावरणस्यास्य संरक्षणाय महाकवि–कालिदासोऽपि तदीयकाव्येषु प्राणिनां कृते समवेदनां प्रदर्श्य एकस्मिन् सुस्थपर्यावरणे मनुष्याः वृक्षलतादिभिः प्राणिभिश्च सह कथमेव सुखेन जीवितुं सक्षमः स्यादिति प्रतिपादितः। महाकवेः रचनापरिपाट्याम् प्रकृतेः विविधमनोज्ञवर्णना परिदृष्टा जायते। तत्र प्रकृतेः मनोविज्ञानं अत्यन्तसरल–सावलील–कोमलकान्तपदावलिभिः प्रयुक्तं महाकविना। तत्र न केवलं प्रकृतिः, प्रकृत्या सह जीवविज्ञानस्य सकलाभिव्यक्तिरपि महाकवेः काव्यनाटकादिषु लक्ष्यते। यत्र जीवानां मनोभावः प्रकृतिः गतिः प्रचेष्टादयश्च सम्यक्तया चित्रिताः सन्ति। प्राकृतिकविरसौ प्रकृतेः संरक्षणाय एव स्वकाव्यादौ मध्ये अन्तिमे च तां स्मरति। तद्रचितेषु काव्येषु मेघदूतं नाम गीतिकाव्यं प्रकृतिप्रेममुपजीव्य सर्वोत्कृष्टं निदर्शनम्। यस्य कथाऽऽसीत् कान्तप्रेमासक्तः स्वाधिकारप्रमत्तः यक्षः धनपतिकुबेरेणाभिशप्तः सन् वर्षमेकं यावत् रामगिर्याश्रमे निर्वासितोऽभूत्। तत्र अवस्थानकाले आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघालोके यक्षः आत्मनः मनोव्यथां मेघमाध्यमेन अलकावासिनीं पत्नीं निकषा प्रेरयामास इति हेतोः काव्यस्य नामकरणं मेघदूतम् इति जातम्। पूर्वमेघेन उत्तरमेघेन च द्विधा विभक्तमिदं सर्वा एव भौगोलिकवर्णना पूर्वमेघस्य विषयवस्तु अस्ति। एवमपि कुबेरस्य वासभूमिना सह अलकानगर्याः वैभवं कामिनीनां कमनीयं सौन्दर्यं चोत्तरमेघस्य विषयवस्तु भवति। वास्तवदृष्ट्या उत्तरमेघ एव कविकल्पनायाः अपरासृष्टिरस्ति। तत्रास्ति कामनायाः मोक्षधाम अलकापुरी। यत्रानन्तं सुखम् अनन्तमैश्वर्यम् अनन्तं यौवनञ्च वरीवर्त्ति सर्वेषां जनानाम्। यत्रास्ति नभश्चुम्बीप्रासादे ललितललनानाम् अपरूपपुष्पशोभा। तद्यथा केनापि वङ्गीयकवेर्भाषया –

'मुखे तार लोध्रारेणु, लीलापदम हाते,
कर्णमूले.....कुन्दकेलि कुरुवकमाथे।[५]

यत्र स्त्रियः सर्वर्तुभवैः कुसुमैः प्रसाधितगात्राः शोभन्ते। तथाच ताः करेण विलासाय शरदिजं कमलं दधते। माघभवं कुन्दकुसुमं शोभार्थम् अलकेषु निवेशयन्ति, प्रत्यग्रविकसितं कुरवकं वासन्तिकं प्रसूनं कवरीवीन्धेषु नियोजयन्ति, मनोहरैः निदाघजैः शिरीषैः कर्णावतंसं सम्पादयन्ति, वार्षिकैः स्थलकदम्बैः सीमन्तशोभां कुर्वन्ति। लोध्रपुष्पाणां परागैः मक्षित्वा कपोलस्य पाण्डुतां जनयन्ति च। सर्वेषामेव ऋतूणां तत्रालकायां समं सद्भावात् पुष्पसम्भाराः अनायासलभ्याः। तैश्च भूषणप्रियाः नार्यः स्वगात्रं विभूषयन्ति इति तात्पर्यम्। यत्रालकायां पुष्पवृक्षाः नियतमेव पुष्पभारैः अलंकृताः। तेषु पुष्पेषु निलीनानां भृङ्गानां विरुतैः वृक्षाः सदैव सशब्दाः। स्वच्छजलेषु वापीषु सर्वर्तुप्रस्फुटितेषु कमलेषु निषण्णानां हंसानां श्रेणीभिः नलिनीनां काञ्चीदामनिर्मितमिव भवति। मयूराः समुज्ज्वलानि बर्हाणि नित्यं बहन्तः मनोहराभिः केकाभिः भवनानि मुखरीकुर्वन्ति। कृष्णशुक्लभेदेन उभयोरेव पक्षयोः चन्द्रिकाप्रादुर्भावात् तमसो निरासेन निशामुखानि

मनोहराणि भवन्ति। तद्यथा कवेर्भाषया –

यत्रोन्मत्तभ्रममुखराः पादपा नित्यपुष्पाः
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्माः नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापाः
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ।।[६] इति।

अस्यैवानुरूपोक्तिः वङ्गीयभाषायां यथा –

'अनन्त वसन्ते येथा नित्यपुष्पवने,
नित्य चन्द्रालोके, इन्द्रनीलशैलमूले।
सुवर्णसरोजफुल सरोवरकूले,
मणिहर्म्ये असीम सम्पदे निमगणाः.... ।[७] इति।

अलकापुर्य्यां कुबेरभवनस्य उत्तरऽस्मिन् भागे यक्षस्य गृहं विद्यते तच्च अत्युतन्नतेन विचित्रोज्ज्वलवर्णेन इन्द्रचापप्रतिमेन बहिर्द्वारिण दूरादेव अभिज्ञातुं शक्यते। किञ्च तस्य गृहस्य प्रान्तदेशे एकः मन्दारवृक्षः अस्ति। सोऽपि यक्षपत्न्या स्वयं पुत्रस्नेहेन वर्धितः। बालत्वात् नातितुङ्गत्वात् च तस्य पुष्पगुच्छाः हस्तेनैव स्पष्टं शक्याः। पत्रपुष्पादिभारेण विनम्रशाखः सोऽतीव चित्तहारी भवति। कविना उक्तं यथा –

यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे।
हस्तप्राप्यस्तकवनमितो बालमन्दारवृक्षः ।।[८] इति।

श्लोकेऽस्मिन् हस्तप्राप्यस्तकवनमितो इति वाक्यांशादवबुध्यते यत् मन्दारतरुः यक्षकान्तायाः स्वहस्तलालिता आसीत्। पुनश्चात्र एतदपि लक्षणीयं यत् आभिजात्योऽपि धनसम्पदादिभिः यक्षपत्नी द्वारोपान्तस्थितमन्दारवृक्षस्य लालनादिकं समग्रं दायित्त्वजातं स्वयमेव सम्पादयति न तु भृत्यादिभिः। अनेन यक्षपत्न्याः निष्कपटपुत्रस्नेहस्य परिचयः सहजेनानुमेयः। रसिक–टीकाकार–पूर्णसरस्वत्याः भाषायां– प्रियया न तु तदीयचेरीजनेन....वात्सल्यात् स्वयमेव परिपोषितः। एवञ्च मन्दारतरुः बालोऽपि फलवान् भवति। विनीतपुत्रस्येव मन्दारवृक्षस्याचरणम्। अतोऽसौ विनम्रः नैव चोद्धतः।[९] वृक्षमपत्यस्नेहेन पालनस्य वर्णनाबाहुल्यं कालिदाससाहित्ये नैव दुर्लभम्। तद्यथा –

''अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेम कुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।।''[१०]

एवमन्यत्रापि –

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान् घटस्तनप्रस्त्रवनैर्व्यवर्धयत्।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति।।[११]

एवम् अभिज्ञानशकुन्तलस्य चतुर्थाङ्केऽपि अनुरूपश्लोकस्योल्लेखः कविना विहितः। तद्यथा –

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ।।[१२] इति।

अलकायां यक्षगृहे अतिरमणीया एका दीर्घिका वर्त्तते। तस्याः दीर्घिकायाः सोपानश्रेणयः मरकतमणिभिः रचिताः। तत्र सुवर्णमयानि विकसितानि पद्मानि सन्ति। तेषां पद्मानां नालानि तु वैदुर्यमणिघटितानि शष्पप्रभाणि अतिमसृणत्वात् नयनहारीणि। किञ्च तस्याः वाण्याः जलानि विमलत्वात् स्फटिकोपमानि प्रावृषि अपि कालुष्यं न भजन्ते। अतः तत्र स्थिताः हंसाः जलदकालमनुप्राप्तं विलोक्यापि अनुद्विग्नास्तत्रैव तिष्ठन्ति। सन्निहितमपि ते हंसाः मानसरोवरं गन्तुं नेहन्ते। अनेन यक्षगृहे दीर्घिका अतीव परिष्कृता आसीदिति स्पष्टमनुमेयम्। महाकविकालिदासस्य तदानीन्तनकालस्य शुद्धपर्यावरणचिन्तनधारा आधुनिकस्वच्छताऽभियानस्य पूर्णं स्वरूपमस्ति। एवञ्च तस्याः वाण्याः तटप्रदेशे एकः क्रीडाशैलः विद्यते। तस्य शृङ्गाणि मनोहरैः इन्द्रनीलमणिभिः निर्मितानि। हेमकदलीभिः परिवृत्तत्वात् तस्य शैलस्य शोभा अतीव हारिणी लोकलोचनानि आकर्षति। स शैलः यक्षपत्न्याः अतीव प्रियः अस्ति। अत्र वाण्याः तटप्रदेशे क्रीडाशैलस्य कारणं स्पष्टीकर्तुं पूर्णसरस्वतीनां व्याख्यातम् यत्–"तरलतरङ्गसंघातगीतलीलागुरोः मनककमलपरिमलमिलनदुर्ललितस्य रतिखेदनोदिनस्तदीयवायोरूपसेवनाय मधुरकूजितोत्तेजितमदन्तानां मधुमयचपलानां हंससारसकादम्बकोकलोलम्बप्रभृतीनां विहगानां विहारविलोकनविनोदनाय च तत्तटनिकटे निवेशितः।"[१३] तस्मिन् क्रीडाशैले माधवीमण्डपः कश्चिद् अस्ति। कुरकपुष्पवृक्षैः तस्य समन्तात् वेष्टनं निर्मितम्। तस्य मण्डपस्य सन्निकृष्टे प्रदेशे एकः मनोहरः वकुलवृक्षः लोहितपल्लवगुच्छैरूप–शोभमानः वायुना आनर्त्तितप्रवालः अशोकतरुश्चापरः वर्त्तते। तयोर्मध्ये एकः अशोकः पुष्पोद्गमार्थं तव सख्याः पादताडनरूपं दोहदं मुखसीधुसेकरूपं अपरो वकुलः अभिलषतः। तयोः अशोकवकुलयोः मध्ये सुवर्णनिर्म्मितो मनोहरः आलम्बदण्डः कश्चित् विद्यते। तस्य मूलप्रदेशः तरुणवंशाङ्कुरवत्पलाशद्युतिभिः गारुडमणिभिः बद्धः। स च सौवर्णदण्डः अमलस्फटिकखण्डस्योपरि निहितः। दिवसात्यये मेघालोकनकुतुली मयूरः गृहपालितः तं हेमदण्डमधिष्ठाय उपविशति। यक्षप्रिया च करकिसलयतालैः क्वणत्कङ्कणमनोहरैः तं सादरं नर्त्तयते। तद्यथा कवेर्भाषया –

"तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि–
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे।
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः।।"[१४] इति।

परिशेषे विरहव्यथितः यक्षः प्रकृतिषु एव स्वप्रियायाः सादृश्यमनुभवन् आह –

"श्यामास्वङ्गं चकितहरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति।।"[१५] इति।

अर्थात् त्वद्विरहेण अशरणः अहं तव किञ्चिदनुकारिषु वस्तुषु आत्मनः दृष्टिं विलोभयामि। तथाहि प्रियङ्गुलतासु तव कोमलगात्रस्य, सन्त्रस्तानां हरिणानां चञ्चलेषु नेत्रेषु तव अधीरनयनस्य चन्द्रबिम्बे तव

आननकान्तेः, मयूराणां कलापेषु तव कुसुमैः प्रसाधितस्य केशपाशस्य अल्पाल्पेषु च नदीतरङ्गेषु तव आरोचितभ्रुनर्त्तनस्य सादृश्यम् अवलोकयामि। किन्तु एकस्मिन्नेव आधारे तव समग्रसादृश्यलाभः न भवति। अयमेव मे महान् खेदः। तथात्वे विरहव्यथा अपनुद्यते।

एवं महाकविकालिदासः स्वरचिते उत्तरमेघे प्रकृतिं महुर्मुहुः संस्मृत्य प्राचीनकालादेव अवक्षयमुखी प्रकृतेः हिताय संरक्षणाय च स्वकाव्यनाटकादिषु बहुशो यतते। तेषां दिङ्मात्रमुदाहरणमत्र मया प्रदर्शितम्। वस्तुतः कालिदासः स्वकीयकाव्यानां प्रारम्भादारभ्य अन्तिमं यावत् प्रकृतिं स्तौति। तस्य रचनासु नैवं विधं पद्यमस्ति यत्र प्रकृतिः नास्ति। मेघदूतस्य प्रारम्भे तेनोक्तम् –

''यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।।''[१६]

एवञ्च उत्तरमेघस्यान्तिमे तेनापि प्रकृतिप्रसङ्गे उक्तमेवं यत् –

इष्टान् देशान् जलद विचर प्रावृषा सम्भृतश्री
र्माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।।[१७]

एवं प्रकृतेः मनोज्ञवर्णनं कालिदासेन स्वरचितशकुन्तलादिष्वपि कृतम् इति ।

पादटीका

१. शब्दकल्पद्रुमः, पृ. ३८२
२. ऋग्वेदः, १०.१२१.१, वेदसंकलनम् (वांला), पृ. २२३
३. श्रीमद्भगवद्गीता, ९.७, पृ. ५५
४. द्विजेन्द्रगीतिः (वंगीय), प. भट्टाचार्य, पृ. ११
५. मेघदूत परिचयः, पृ. ११ (पार्वतीचरण भट्टाचार्यः)
६. मेघदूतम् उत्तरमेघे- ६, पृ. २५३
७. मेघदूतपरिचय, पृ. १३ (पार्वतीचरण भट्टाचार्य)
८. उत्तरमेघे- १४, पृ. २७२
९. मेघदूत ओ सौदामनी, उत्तरमेघः, पृ. २७४ (श्लोक संख्या-१४)
१०. रघुवंशम्, २.३६, पृ. १०७
११. कुमारसम्भवम्, ५.९, पृ. ३५२
१२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४.९, पृ. ३२५
१३. मेघदूत औ सौदामनी, पृ. २७७
१४. मेघदूतम् (उत्तर)- १८, पृ. २८०
१५. मेघदूतम् (उत्तर)- ४३, पृ. ३२९
१६. मेघदूतम् (पूर्वः)- १, पृ. ९०
१७. मेघदूतम् (उत्तर)- ५४, पृ. ३५०

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

प्रबोधचन्द्रोदयनाटके जीवनदर्शनविमर्शः

सौरभः गोस्वामी (Sourav Goswami)*
असितकुमारसाउ (Asit Kumar Sau)**

विषयसंक्षेपः

प्रबोधचन्द्रोदयनाटके वैष्णववेदान्तस्य प्रचारेवासीत् कृष्णमिश्रस्य अभीष्टम्। मायावादः अद्वैतवादस्य च उल्लेखोऽस्ति अस्मिन् नाटके परन्तु भक्तिमूलकम् इदम्। अत्र विष्णुब्राह्मणोः अभिन्नत्वं स्वीकृतम्- यत्तु परवर्तिवैष्णवीय भक्तिवादतः पृथगेव यतोऽसौ द्वैतवादी एव कृष्णमिश्रमतेन- दृश्यं जगदिदं मिथ्या, एकः विष्णुरेव सत्यम्। मायामयमिदं विश्वम् इति नाटकस्य प्रथमे भागे समुद्घाटितम्। अन्तिमे अङ्के सर्वे मतं खण्डितम्। परिशेषे परमसत्यस्वरूपस्य विष्णोर्वन्दना विहिता। परिदृश्यमानं जगत् प्रपञ्चात्मकं भेदवैचित्र्यं प्रातिभासिकं सत्यं परमार्थस्तु सर्व खल्विदं ब्रह्म। वेदान्तदर्शने उक्तं – ''**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीव ब्रह्मैव नापरः**।'' अत्र जगति सर्वमेव नश्वरं क्षणिकञ्च। देहात्मबुद्धिसम्पन्ना जना मोहासक्ताः सन् कर्मानुष्ठानेन बद्धा भवन्ति। विष्णुभक्तिद्वारेणैव जीवनयापनेन पवित्रा भवितुं शक्नुमः वयम्। सनातनप्रवृत्तिजागरणेन भगवत् सान्निध्यं लभ्यते, जीवनञ्च सार्थकं भवति तदा। अतो जीवः यदा भगवन्मुखी सन् तत् सेवापरायणो भवति, तदैव तदानन्दमनुभवति। मायामोहग्रस्ताः कलियुगस्थजीवाः इन्द्रियतृप्तिविधानेन सुखलाभाय भ्रान्तं चेष्टन्ते। कलियुगे वयम् चार्वाकसम्मतं सुखवादं '**यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्**' अनुसराम। तेन तु आत्मज्ञानं नैव लभ्यते। अतोऽस्माकं कर्त्तव्यं यत् जीवनकलिं विष्णुसेवायां नियोजितव्यः।

संस्कृतसाहित्यस्य विविधशाखासु दर्शनशाखा नितरां सुसमृद्धा। दर्शनशब्दस्य आक्षरिकोऽर्थः '**सत्यानुसन्धानमिति।**' विशेषोऽर्थः जगज्जीवनयोः तत्त्वोपलब्धिरिति। जीवनजिज्ञासातः दर्शन-शास्त्रस्योत्पत्तिः। 'दृश्' धातोः करणवाच्ये ल्युटि 'दर्शन' इति शब्दो निष्पद्यते, तत्त्वदर्शनमिति तस्यार्थः।

संस्कृतसाहित्ये रूपकधर्मिनाटकेषु कृष्णमिश्रस्य 'प्रबोधचन्द्रोदयः' अन्यतमः। गवेषकेषु श्रेष्ठत्वपदवीमारुढं नाटकमिदम्। अमूर्तभाव-गुण-मानसिकावस्थोपरि मानवधर्मारोपेण सजीवचरित्ररुपेण पात्राः उपस्थाप्यते एवम्विधेषु नाट्यग्रन्थेषु।

नाटकस्यास्य प्रस्तावनातः ज्ञायते यत् कीर्तिवर्मणा नृपेण चेदिराजस्य कर्णस्य पराजयमुपलक्ष्य कस्यचित् गोपालस्यादेशेन 'प्रबोधचन्द्रोदयः' रचितोऽविनीतश्चाभवत्। विष्णुभक्तिसमन्वित-वेदान्तसम्मत-मोक्षलाभोपाय वर्णितोऽस्मिन् तथा धर्मताश्चापरा उपहसिताः।

'प्रबोध' शब्दस्य आध्यात्मिकोपलब्धिरित्यर्थः, यद्वा Spiritual Realization इति भाषा। विद्यया

* स्टेट एडेड कॉलेज अध्यापकः, संस्कृतविभागः, बाजकुलमिलनीमहाविद्यालयः, पूर्वमेदिनीपुरम्, पश्चिमबङ्गः
** अध्यापकः, संस्कृतविभागः, हिजलिकॉलेज, पश्चिममेदिनीपुरम्, पश्चिमबङ्गः

स्वरूपज्ञाने सति पुरुषः परमात्मना सह आत्मनोऽभिन्नत्वम् अनुभवितुं पारयति। ग्रन्थकारस्यायमेवाभिप्राय इति मन्यते यद् प्रबोधचन्द्रस्य उदयः यद्वा प्रबोधरूपचन्द्रस्य उदय इति। एतच्च 'कामनामक चरित्रस्य उक्त्या परिस्फुटितम्' – ''सा खलु विवेकेनोपनिषद्देव्यां प्रबोधचन्द्रेण भ्राता समं जनयितव्या।''[१]

प्रबोधचन्द्रोदये दार्शनिकं तत्त्वम्

वैष्णववेदान्तस्य प्रचारेवासीत् कृष्णमिश्रस्याभीष्टम्। मायावादः अद्वैतवादस्य च उल्लेखोऽस्ति अस्मिन् नाटके परन्तु भक्तिमूलकमिदम्। अत्र विष्णुब्राह्मणोः अभिन्नत्वं स्वीकृतम्–यत्तु परवर्तिवैष्णवीय–भक्तिवादतः पृथगेव यतोऽसौ द्वैतवादी एव कृष्णमिश्रमतेन–दृश्यं जगदिदं मिथ्या, एकः विष्णुरेव सत्यम्। प्रकृतज्ञानोदये तु दृश्यं जगत् अवलुप्येत, मायाच्छादनं नापसृतं चेत् ज्ञानमिदं नैव जायते।

मायामयमिदं विश्वम् इति नाटकस्य प्रथमभागे समुद्घाटितम् –

''मध्याह्नार्कमरीचिकास्विव पयःपुरो यदज्ञानतः
खं वायुर्ज्वलनो जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति।
यत्तत्वं विदुषां निमीलति पुनः स्रम्भोगिभोगोपमं
सान्द्रानन्दमुपास्महे तदमलं स्वात्मावबोधं महः।।''[२]

अस्मिन् श्लोके वेदान्तदर्शनस्य मायावादं वर्णितम्। अत्र प्रथमोदाहरणं संसारविषयं द्वितीयन्तु मुक्तं विषयम्। अत्र मध्याह्नार्कमरीचिकासु पयःपूर इव यदज्ञानतो लोकोऽयमुन्मीलति तिष्ठति निमीलति चेत्युक्त्या जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूपं तटस्थलक्षणं ''**यतो वै इमानि भूतानि**'' इत्यादि श्रुत्यक्तं '**सान्द्रानन्दम्**' इति च सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वरूपलक्षणं ब्राह्मणो निवेशितमवगन्तव्यम्।

विवेकस्य कण्ठेनापि अनुरूपः श्लोकः समुत्थापितः लक्ष्यते –

''अम्भः शीतकरान्तरिक्षनगरस्वपेन्द्रजालादिवत्
कार्यं मेयमसत्यमेतदुदयध्वं सादियुक्तं जगत्।
शुक्तौ रूप्यमिव स्रजीवभुजगः स्वात्माववोधे हरा–
वज्ञाते प्रभवत्यथास्तमयते तत्त्वाववोधोदयात्।।''[३]

श्लोकोद्वयेनोपस्थापितम् – मायावरणं यदि नापसृतं स्यात् तर्हि यथार्थज्ञानं नोत्पद्यते। यथाऽन्धकारः सूर्यतिरोभावयति – स्वरूपाच्युतावपि प्रच्छन्नतेजसं विदधाति, तथैवाविद्यापि परमेश्वरस्य स्वरूपमविपाद्यापि वाह्यं प्रकाशं तिरोभावयतीति। सदाधैर्यधारी महान् शान्तिमत्तया प्रथितः प्राप्तप्रकामसमृद्धिः समभ्यस्तनीतिशास्त्रो निर्मलान्तःकरणोऽपि लोको ललनावञ्चितचित्ततया व्याक्षिप्तमाणः सन् स्वभावसिद्धमपि धीरत्वं मुञ्चति, अन्यस्य का कथा परमेश्वरस्याप्यविद्यासम्बन्धेवशादेव परिच्छिन्नप्रमातृतया पुमानिति या प्रसिद्धिस्तत्रापि ललनाभूताऽविद्यैव कारणमिति इत्यत्र मायायाः प्रभावः प्रसङ्गेन नृपेनोक्तम्।

''सततधृतिरप्युच्चैः शान्तोऽप्यवाप्तमहोदयो–
ऽप्यधिगतनयोऽप्यन्तः स्वच्छोऽप्युदीरितधीरपि।
त्यजति सहजं धैर्यं स्त्रीभिः प्रतारितमानसः
स्वयमपि यतो मायासङ्गात् पुमानिति विश्रुतः।''[४]

केषुचित् श्लोकेषु विष्णरेव सत्यमिति ख्यापितम्। मायावरणं यदि नापसृतं स्यात् तर्हि यथार्थ ज्ञानं नोत्पद्यते।

नाटकेऽस्मिन् मायाच्छन्नो मानवः 'पुरुष' इत्याभिहितः। नाट्यकारेण अत्र वेदान्तस्य अद्वैतवादः वैष्णवानां भक्तिवादश्च सुकौशलं मिश्रीकृतः। विविधसम्प्रदायानां मतमुद्धृत्य उपहसितम् वैष्णवमतस्य श्रेष्ठत्वं च प्रतिपादितम्।

द्वितीयाङ्के चार्वाकदर्शनस्य सिद्धान्ता उपस्थापिता महामोहस्य कथनेन – "सर्वथा लोकायतमेव शास्त्रं यत्र प्रत्यक्षमेव ग्रामीणं, पृथिव्यप्तेजावायवस्तत्वानि, अर्थकामौ पुरुषार्थौ भूतान्येवचेतयन्ते। नासस्त परलोकः मृत्युरेवापवर्गः।"[५]

एकेन उपमाद्वारेण वेदस्य वैदिकयज्ञादीनां च निष्फलत्वं प्रदर्शितम् –

"निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्य दीष्यते।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते।।"[६]

अस्मिन् श्लोके वर्णयति यदि पशुर्हतो स्वर्ग गच्छति तर्हि यजमानः स्वर्ग–प्रापयितुं स्वं पितरमपि तत्रैव हन्तु, तावतैवाल्पेन प्रयत्नेन तत् पिता स्वर्गं यास्यति, कृतं तत्सर्गप्राप्तये प्रयत्नान्तरानुष्ठानेत्यर्थः। अनेन देवयज्ञप्रतिपादकं शास्त्रं दूषितम्। यदि मृतस्यापि जन्तोः श्राद्धेन तृप्तिर्जायते तदा निर्वाणे दीपे न्यस्तं तैलं तदीयामपि शिखां समेधयितुं शक्नुयान्न च शक्नोति, तत् पुत्रकृतेन श्राद्धेन मृतस्य पितुरपि तृप्तिर्न भवितुं शक्नोति।

"मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्।।"[७]

मतमिदम् चार्वाकसम्प्रदायस्य यत् सर्वदर्शनसंग्रहे प्रदर्शितम्।

"मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।।"[८]

तृतीयाङ्के जैन–बौद्ध–शैवानां प्रतिनिधिरूपेण दिगम्बर–भिक्षु–कापालिका उपस्थापिताः। सर्वदर्शनानां गुरुत्वपूर्णसिद्धान्ता उपस्थापिताः। जैनमतप्रसङ्गेनोक्तं नवद्वारशोभितपुरे आत्मा दीप इव दीप्यमानः –

"नवद्वार पुरीमध्ये आत्मा दीप इव ज्वलति।
एष जिनवरभाषिताः परमार्थोऽयं मोक्षसुखदः।।"[९]

जैनदर्शने गुरुत्वपूर्णसिद्धान्तरत्रोपस्थापिताः। यस्मिन् द्रव्ये चैतन्यं न वर्त्तते तद् द्रव्यमजीव उच्यते। पुद्गलश्चान्यतमोऽजीवद्रव्यम्। साधारणतो यद् भूतमाह जैनास्त्वं पुद्गलं वदन्ति। तन्मते भौतिकं द्रव्यं नाम पुद्गलः। "**स्पर्शरसवर्णवन्तः पुद्गलाः।**"[१०] यस्य संयोजनं संश्लेषो वा तथा विभाजनं विश्लेषो वा भवितुं शक्यते इति व्युत्पत्तौ जैनमतानुरोधेन स पुद्गल उच्यते। जैनशास्त्रे '**पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः**' इति व्युत्पत्तिः प्रदत्ता। जैनाः बौद्धकापालिकैः विध्वस्त इति अत्र नाट्यकारः परिवेशयति। बौद्धदर्शने सर्वस्यानित्यत्वं क्षणिकवादनाम्ना वर्ण्यते। अस्य नामान्तरं क्षणभङ्गवादः। क्षणिकवादानुसारेण जगतः प्रत्येकं वस्तु न केवलमनित्यमपि तु क्षणभङ्गुरमेव भवति। तेषान्मते एकदा एकस्माद्वस्तुन एकं कार्यं निष्पद्यते,

अन्यास्मिंस्तु अन्यत् कार्यं उत्पद्यते चेत् तदा प्रथमस्य वस्तुनोऽस्तित्वं क्षणमात्रं तिष्ठति। यतो द्वितीयवस्तुन उत्पादनकाले प्रथमस्य विनाशो जायते।

बौद्धेस्त आत्मनोऽस्तित्वं स्थायित्वं वा न स्वीकृतम् –

''सर्वे क्षणक्षयिण एव निरात्मकाश्च
यत्रार्पिता वहिरिव प्रतिभ्रान्ति भावाः।
सैवाधुना विगलिताखिलवासनत्वा
द्वीसन्ततिः स्फुरति निर्विषयोपरागा।।''[११]

अस्मिन् अङ्के शैवमतम् उपस्थापितम्। तेषान्मते सम्यग् वर्तमानेन वैषयिकसुखसमुदाया परित्यागेऽपि तास्ता अनिमादयोऽष्टौ सिद्धयः प्राप्यन्ते यासां महान्ति फलानि समीपतरवर्तीनि भवन्ति, प्राकृतसिद्धिषु वशीकरणादिषु तु विदुषाञ्चास्था तासां योगप्रतिबन्धकत्वात्। अत्र जैनाः बौद्धाश्च शैवैः पराभूता इति लक्ष्यते –

''दृष्टं क्वापि सुखं विना न विषयैरानन्दबोधोज्झिता
जीवस्य स्थितिरेव मुक्तिरूपलावस्था कथं प्रार्थ्यते।
पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो
मुक्तः क्रीडति चन्द्रचूड़वपुरित्यचे मूड़ानीपतिः।।[१२]

चतुर्थे अङ्के अनादिभावरूपाज्ञविजृम्भितमिमं संसारतरुमुत्पाटयितुं तत्त्वज्ञानमेव प्रभवति, अज्ञानस्य ज्ञानैकनिवर्त्यत्वात्, तच्च तत्त्वज्ञानं विश्वेश्वराधनमन्तरा न सम्भवति इति प्रकाशयति।

पञ्चमाङ्के सांख्य–न्याय–वैशेषिक–सम्प्रदायैः नास्तिकाः पराभूताः, शेषतश्च परमज्योतिर्विषये यदुक्तं तत्र क्वचित्–ब्रह्मा–बिष्णु–महेश्वररूपेन वासौ वन्द्यते –

''ज्योतिः शान्तमनन्तमद्वयमजं तत्त्वद् गुणोन्मीलना–
द्ब्रह्मेत्यच्युत इत्युमापतिरिति प्रस्तुयतेऽनेकधा।
तैस्तैरेव सदागमैः श्रुतिमुखैर्नानापथप्रस्थितै–
र्गम्योऽसौ जगदीश्वरो जलनिधिर्वारां प्रवाहैरिव।।''[१३]

परिदृश्यमानं जगत् प्रपञ्चात्मकं भेदवैचित्र्यं प्रातिभासिकं सत्यं परमार्थस्तु सर्व खल्विदं ब्रह्म। शङ्करचार्येनोक्तम् – **''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। जीवब्रह्मैव नापरः।''**[१४] अत्र अद्वैतवादस्य मूलगताः सिद्धान्ता आलोचिताः –

''एकमेव सदा ब्रह्म सत्यमन्यद्विकल्पितम्।
को मोहस्तत्र कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।''[१५]

अन्तिमेऽङ्के तु सांख्य–न्याय–वैशेषिकानां मतं खण्डितम्। परिशेषे परमसत्यस्वरूपस्य विष्णोर्वन्दना विहिता –

''कन्येयं सहसा समं परिकरैर्मोहं ग्रसन्ती भज।
त्यन्तर्धानमुपैति चैकपुरुषं श्रीमान् प्रबोधोदयः।।''[१६]

भगवद्गीतायामुक्तं- भगवान् विष्णुरेव आनन्दाधारः, वयमपि सर्वे आनन्दाभिलाषिणः। भगवानपि सदानन्दमयः। अतो जीवः यदा भगवन्मुखी सन् तत् सेवापरायणो भवति, तदैव तदानन्दमनुभवति।

मानवानां जीवनदर्शनम्

कृष्णमिश्रकृतात् नाटकादस्मात् कानिचन दार्शनिकतत्त्वानि उपलभ्यन्ते-यानि परमपाथेय रुपेण परिगण्यन्ते। केचित् मानवाः धर्मकर्मपरायणाः परन्तु बृहदंशः आदर्शहीनाः स्वार्थपरायणाः षड्रिपुवशीभूता लक्ष्यन्ते। भोग्यविषयासक्तास्ते जनाः आत्मज्ञानलाभात् दूरमपसृताः अन्धकारलोकान् अभिगच्छन्ति। यत्तु अस्मत् कृते निर्धारितम् तेनैव सन्तुष्टो भवितुमुचितम्।

अत्र जगति सर्वमेव नश्वरं क्षणिकञ्च। कियत् क्षणं यावत् तेषां प्रकाशं भवति। परतश्च अदृश्या भवन्ति ते। एतान् अतीत्य विद्यते किलान्यत् किञ्चित् शाश्वतं सनातनञ्च। देहात्मबुद्धिसम्पन्ना जना मोहासक्ताः सन् कर्मानुष्ठानेन बद्धा भवन्ति। विष्णुभक्तिद्वारेणैव जीवनयापनेन पवित्रा भवितुं शक्नुमः वयम्। सनातनप्रवृत्तिजागरणेन भवगत् सान्निध्यं लभ्यते, जीवनञ्च सार्थकं भवति तदा। अतः तत् सान्निध्यलाभे सदैव सचेष्टा भवितुमुचितमस्माकम्।

भवगद्गीतायामुक्तं-भगवान् विष्णुरेव आनन्दाधारः, वयमपि सर्वे आनन्दाभिलाषिणः। भगवानपि सदानन्दमयः। अतो जीवः यदा भगवन्मुखी सन् तत् सेवापरायणो भवति, तदैव तदानन्दमनुभवति। कामपरायणाः वयं तु विष्णुसेवां विहाय विविध देवान् पूजायाम् -

''कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।''[१७]

त्वयम् अल्पायुर्विशिष्टाः, अतोऽस्माकं कर्त्तव्यं यत् जीवनकलिं भगवत् सेवायां नियोजितव्यः। तत्रायं पन्थाः -

''श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्।।''

परमात्मरूपेण भगवान् सर्वहृदयेषु विराजमानः ये खलु महात्मानः वहिरन्तश्च ईश्वरं द्रष्टुं शक्नुवन्ति ते एव केवलं परमानन्दम् अनुभवन्ति -

''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषां।।[१८]

मायामोहग्रस्ताः कलियुगस्थजीवाः इन्द्रियतृप्तिविधानेन सुखलाभाय भ्रान्त चेष्टन्ते। आत्मेन्द्रिय प्रीतिविधानं विहाय विष्णुप्रीतिरेव तैः विधेया। मायामुग्धाः मानवाः मन्यन्ते यद् विष्णुभक्तिविहीनाः ते भिन्ना परन्तु कदापि न भिन्नाः।

आत्मज्ञानलाभाय मनसा सह इन्द्रियाणां संयमः कर्त्तव्य। कलियुगे वयं चार्वाकसम्मतं सुखवादम् अनुसराम- **''यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।।''**[१९] तेन तु आत्मज्ञानं नैवलभ्यते।

अतो योगाङ्गानाम् अनुशीलनं कर्त्तव्यम् –

''यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि।।''[२०]

विषवत् परित्यज्यमेतत् सर्वम्। यदि कश्चित् एतेषां विधीनम् अनुशीलनं कर्तुं पारयित, तर्हि अमृततत्त्वं तेन लभ्यते। जीवनञ्च भोगयोग्यं भवति तस्य –

''ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सम्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशेऽजितजितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्।।''[२१]

तथ्यसूत्रम्

१. प्रबोधचन्द्रोदयम्, Ist Act.
२. तदेव, १.१
३. तदेव, ६.२२
४. तदेव, १.२५
५. तदेव – IInd Act.
६. तदेव, २–२०
७. तदेव, २.२१
८. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. २
९. प्रबोधचन्द्रोदयम्, IIIrd Act.
१०. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. ११
११. प्रबोधचन्द्रोदयम्, ३.८
१२. तदेव, ३.१६
१३. तदेव, ५.९
१४. भारतीयदर्शन, वेदान्त दर्शन।
१५. प्रबोधचन्द्रोदयम्, ५.१५
१६. तदेव, ६.२८
१७. श्रीमद्भगवदगीता, ७.२०
१८. कठोपनिषद्, २.२.१३
१९. चार्वाकदर्शन–दक्षिणारञ्जन शास्त्री, पृ. १५०
२०. योगसूत्र, २.२७
२१. भागवत्, १०.१४.३

ग्रन्थपञ्जीः

- Basu, Anilchandra, Prabodhcandrodayam, Calcutta, 1979.
- Belvalkar, S. K. & Ranade, R.D. History of Indian Philosophy, Poona :

1927. (Vol-I)

- Bhattacharya, Srimohan & Bhattacharya, Dineshchandra, Bharatiya Darsan Kosa, Calcutta: Calcutta Sanskrit College, 1978.
- Chakraborti, Tapan Kr. Darsana- Samiksa, Kolkata: Sanskrit Pustak Bhandar, 2021.
- Chattopadhyay, Chinmoyee. Bhaktiraser Vivartan, Calcutta : Sanskrit College.1972
- Das, Swami Ramsukha, Gita Darsana, Gita Press, Gorakhpur. 1992 (1st Ed.)
- Joshi, K. L. and Bimali, O. N and Trived: Bindiya. 112 UPANISADS. Delhi: Parimal Publications, 2013 (4th Revised)
- Mukhopadhyay, Gopendu, Sanskrita Sahityer Itibritta, Kolkata: United Book Agency, 2012.
- Sastri, Gaurinath, Sanskrita Sahitya Sambhar (Vol.- VI) Kolkata, Navapatra Prakasan, 15th December, 1983.
- Sri, Aurovindo, Gita Nibandha, Aurovinda Ashrama, Pondicherry (Now Puducherry), 1994 (4th Ed.)
- Swami Vasudevananda, Srimadbhagavadgita, Kolkata: Udbodhan Karjalaya, August, 2014

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

नागेशभट्टमते प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा इति सूत्रस्य संक्षिप्तो विचारः

विवेकानन्द लक्ष्मणः*

विभक्तीनाम् अर्थनिरूपणावसरे वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां महावैयाकरणेन भट्टोजिदीक्षितेन कारकप्रकरणे प्रथमतया तावत् **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा**[१] इति सूत्रं सन्निवेशितम्। सूत्रमिदम् अष्टाध्याय्यां द्वितीयाध्याये तृतीयपादे षट्चत्वारिंशत्तमम्। प्रथमाविधायकस्य सूत्रद्वयस्य इदं प्रमुखं सूत्रम्। अन्यच्च सम्बोधने च इति।

पदद्वयात्मकम् इदं सूत्रम्। तत्र **प्रातिपदाकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे** इति सप्तम्यन्तं पदम्। प्रथमा इति प्रथमान्तं पदम्। प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गञ्च परिमाणं च वचनं च प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनम् इति समाहारद्वन्द्वः। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे इति पदे कर्मधारयतत्पुरुषसमासः। मयूरव्यंसादयश्च[२] इति सूत्रेण नित्यसमासोऽत्र विधीयते। प्रातिपदिकार्थलिङ्ग-परिमाणवचनान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रम् इति अस्वपदविग्रहः। इयं सप्तमी विषयसप्तमी एव। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकसमभिसम्बध्यते इति नियमात् मात्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेन प्रातिपदिकमात्रे लिङ्गमात्रे वचनमात्रे परिमाणमात्रे च प्रथमा इत्यर्थः पर्यवसन्नो भवति। प्रातिपदिकस्य अर्थः प्रातिपदिकार्थः इति षष्ठीतत्पुरुषसमासः।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीस्थस्य अस्य सूत्रस्य व्याख्यावसरे भगवता नागेशेन लघुशब्देन्दुशेखरे कश्च प्रातिपदिकार्थः, लिङ्गादिग्रहणं किमर्थं, परिमाणग्रहणस्य किं प्रयोजनं तदुदाहरणं च, वचनग्रहणस्य सार्थकता, मात्रग्रहणस्य स्वीकारे प्रत्याख्याने वा दोषादयः, सूत्रेऽस्मिन् प्रत्ययनियमपक्षोऽर्थनियमपक्षो वा इति भाष्यप्रमाणेन नातिविस्तृतग्रन्थेन दीक्षितमतप्रदर्शनपुरःसरं स्वमतं निरूपितम्। तदधुना प्रस्तूयते।

ननु किं नाम प्रातिपदिकं कश्च तदर्थ इति इदानीं विचार्यते। **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**[३] इति सूत्रेण प्रातिपदिकस्य स्वरूपं विचारितम्। एतत्सूत्रं विहायापि **कृत्तद्धितसमासाश्च**[४] इति सूत्रमपि प्रातिपदिकसंज्ञाविधायकम्। तस्यात्र प्राधान्याभावात् तद्विवरणं न प्रस्तूयते। धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यादिति अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् इति सूत्रस्य अर्थः। अभिधेयवचनः अयमर्थशब्दः। तच्चाभिधेयं चतुर्धा जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन। प्रातिपदिकस्य अर्थोऽपि जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन चतुर्धा सम्भवति। तत्र को नाम प्रातिपदिकार्थ इत्युक्ते कौण्डभट्टेन वैयाकरणभूषणसारे उक्तम् –

एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पञ्चकं तथा।
नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः।।[५] इति।

---

* शोधच्छात्रः, व्याकरणविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः।

तत्र एकं नामार्थ इत्यस्य जाति एव गृह्यते। लाघवेन तस्या एव वाच्यत्वौचित्यात्, अनेकव्यतीनां वाच्यत्वे गौरवात्। द्विकम् इत्यस्य जातिव्यक्ती इत्यर्थः। त्रिकमिति जातिव्यक्तिलिङ्गानीत्यर्थः। जातिव्यक्तिलिङ्गसंख्याः इति चतुष्कं नाम। पञ्चकं नाम जातिव्यक्तिलिङ्गसंख्याकारकानि इति। त्रिकादिषु पक्षेषु अर्थात् येषु पक्षेषु लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थता अस्ति तेषु पक्षेषु प्रातिपदिकार्थेनैव लिङ्गत्वस्य ग्रहणसम्भवात् तथा येषु पक्षेषु संख्या अपि प्रातिपदिकार्थत्वेन गृह्यते तेषु पक्षेषु प्रातिपदिकत्वेन संख्याया ग्रहणात् सूत्रे लिङ्गग्रहणं तथा संख्याग्रहणं च व्यर्थम् स्यादिति धिया वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां प्रातिपदिकार्थ इत्यस्य नियतोपस्थितिकत्वम् इत्यर्थः स्वीकृतः। यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्य अर्थस्य नियमेन उपस्थितिर्भवति स नियतोपस्थितिकोऽर्थः। स एवात्र ग्राह्यः। अत इदानीं प्रातिपदिकेन लिङ्गसंख्यादीनां ग्रहणाभावात् लिङ्गवचनग्रहणं सार्थकमिति तन्मतम्।

अनेन सूत्रेण प्रथमा विभक्तिर्विधीयते। **कारके**[६] इति सूत्राधिकारे अस्य पाठाभावात् इयं प्रथमा कारकविभक्तिर्भवति न वेति प्रश्नः सुतरां समुदेति। कारकोपपदभेदेन विभक्तिर्द्विधा। **कारके** इत्यधिकारे विधानाभावात् अस्य कारकविभक्तित्वं नास्तीति दीक्षितादयः। परन्तु नागेशमते इदमपि सूत्रं क्रियायोगे एव प्रवर्तते। **अन्ततोऽस्तिक्रियायाः सर्वत्र सत्त्वात्**[७] इति वचनेन अस्य कारकविभक्तित्वमुद्घोषितम्। उपपदविभक्तिलक्षणस्य अत्र समन्वयाभावात् तथा च अस्तिक्रियायाः सर्वत्र सत्त्वात् अस्य कारकविभक्तित्वं युज्यते एव। यतः आख्यातार्थकर्त्रादिना प्रथमाविभक्तेः अभेदान्वयो भवति तेन साक्षात्क्रियायोगाभावेऽपि आख्यातार्थद्वारकः क्रियायोगोऽत्र बोध्यः। तथा च महाभाष्येऽपि गाः स्वामी व्रजति इति वाक्ये स्वामी इति प्रथमान्तपदस्य कारकत्वेन व्यवहारः कृतः। तथाहि **सहयुक्तेऽप्रधाने**[८] इति सूत्रे सहयुक्तेऽप्रधानवचनमनर्थकम्। किं कारणम्। उपपदविभक्तेः कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वात्। अन्यत्रापि कारकविभक्तिः बलीयसीति प्रथमा भवति। क्वान्यत्र। गाः स्वामी व्रजति इत्युक्तम्। अस्मिन् भाष्ये प्रथमायाः कारकविभक्तित्वेन व्यवहारात् प्रथमाविभक्तिः कारकविभक्तिरेव।

इदानीं प्रातिपदिकार्थपदविचारः संक्षेपेण प्रस्तूयते। भट्टोजिदीक्षितस्य मतेन नियतोपस्थितिकत्वं प्रातिपदिकार्थत्वम्। कस्यापि शब्दस्य उच्चारणेन यस्य अर्थस्य नियमेनोपस्थितिर्भवति स प्रातिपदिकार्थः इति तदर्थः। नियतोपस्थितिकस्य प्रातिपदिकत्वाङ्गीकारे सिंहसदृशवीरत्ववान् मानवक इत्यर्थके प्रयुज्यमाने सिंहो माणवकः इति वाक्ये अन्वयानुपपत्तिर्भवति। तथाहि माणवकः सिंहो न भवतीति माणवकस्य सिंहेन सह अन्वयानुपपत्तेः सिंहपदादत्र प्रथमा न युज्यते। तेनेदं मतं न समीचीनम् इति न शङ्कनीया। अत्र समाधानरूपेण उक्तं **यत् अन्वयानुपपत्तिपूर्विका लक्षणा पदे एव। प्रत्ययोत्पत्तिः सर्वत्र शक्यार्थे एव**[९] इति। अस्य अर्थस्तावत् कस्यापि प्रातिपदिकस्य पदानुत्पत्तिदशायां लक्षणा एव भवितुं नार्हति। तेन पदमेव लक्षणायोग्यो भवतीति हेतोः शक्यार्थे एव प्रत्यया भवन्ति। ततः पदत्वे सिद्धे एव अन्वयानुपपत्तौ जातायां लक्षणया अर्थः स्वीकरणीय भवति। तेन प्रत्ययानुपपत्तिदशायां शक्यार्थे अर्थात् सिंहत्वरूपशक्यार्थे सिंहसदृशवीरत्ववान् इत्यर्थाभावेऽपि प्रथमा सिध्यति एव। ततः वाक्ये अन्वयस्य असम्भवात् लक्षणया अन्वयः सम्पादितः। शक्यतावच्छेदकारोप एव च लक्षणेति न लक्ष्यासंग्रहो दोषः।

नियतोपस्थितिकत्वं प्रातिपदिकत्वम् इति भट्टोजिदीक्षितस्य मतम् इति स्फुटम्। किन्तु नागेशः अत्र विप्रतिपद्यते। अत्र सूत्रे प्रातिपदिकार्थशब्देन प्रातिपदिकजन्योपस्थितिविषयस्य ग्रहणं नास्ति। तन्मते प्रातिपदिकत्वं नाम प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयश्च। वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारत्वं

प्रवृत्तिनिमित्तम्। तदाश्रय नाम प्रवृत्तिनिमित्ताश्रयः। प्रातिपदिकस्य ईदृशार्थस्वीकारे कारणं तावत् मुख्यस्य इव आरोपितं यत् प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयस्यापि प्रथमासिद्ध्यर्थम्। तेन गोपी इत्यादौ प्रथमासिद्धिः। **तथाहि गां पाति इति विग्रहे गौ इति उपपदपूर्वकात् पा रक्षणे**[१०] इति धातोः **आतोऽनुपसर्गे कः**[११] इति सूत्रेण कप्रत्यये गोप इति शब्दो निष्पन्नः। गोपस्य स्त्री इति विग्रहे पुंयोगद्धेतोः प्रवृत्तिनिमित्तारोपेण स्त्रियां वर्तमानात् पुंबोधकात् शब्दात् पुंयोगादाख्यायाम्[१२] इति सूत्रेण ङीष्प्रत्ययो विधीयते। पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते इति हेतोः तस्य मुख्यवृत्तित्वं नास्ति। गोपत्वस्य सामान्यतः पुंधर्मतया तज्जायायां गोरक्षणाभावेऽपि तद्भार्यात्वात् तत्रापि गोपत्वेन व्यपदेशः। तस्य नियतोपस्थितिकत्वाभावात् दीक्षितमते प्रातिपदिकत्वाभावात् प्रथमा न सिध्यतीति प्रवृत्तिनिमित्तस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वमङ्गीकरणीयम्।

लिङ्गमात्रे प्रथमा विधीयते इति सूत्रांशस्य अर्थ इदानीं प्रस्तूयते। लिङ्गमात्रे प्रथमाविधानेऽपि नागेशदीक्षितयोः मतविरोधोऽस्ति। लिङ्गमात्रे इत्यस्य लिङ्गमात्राधिक्ये इत्यर्थः। तदुक्तं वृत्तौ लिङ्गमात्राद्याधिक्ये इति। अत्र आदिपदेन वचनाधिक्ये परिमाणाधिक्ये इत्यनयोर्ग्रहणम्। ननु लिङ्गं कुत्र अधिकतया भासते इति चेत् द्विलिङ्गकेषु शब्देषु अथवा त्रिलिङ्गकेषु शब्देषु अर्थात् यत्र शब्दो नियतलिङ्गको न भवति तत्र प्रत्ययोत्पत्तेरनन्तरमेव लिङ्गबोधो भवतीति हेतोः लिङ्गस्य तत्र अधिकतया भानात् द्विलिङ्गकात् त्रिलिङ्गकात् च शब्दात् लिङ्गमात्रे प्रथमा विधीयते। यथा तटः तटी तटम् इति। अत्र तट इति प्रातिपदिकम्। कृष्णादिप्रातिपदिकादेव यथा पुंलिङ्गस्य ज्ञानं भवति न तथा तटादिप्रातिपदिकादपि इति कारणात् तटादिद्विलिङ्गकेभ्य त्रिलिङ्गकेभ्यः वा शब्देभ्यः लिङ्गमात्रे प्रथमा विधीयते। किन्तु नागेशमतानुसारं प्रादिपदिकशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रय इत्यर्थस्वीकारे केवलं द्विलिङ्गकाः त्रिलिङ्गकाश्च वा शब्दा लिङ्गमात्रस्य उदाहरणं न, अपि तु अलिङ्गान् लिङ्गप्रवृत्तिनिमित्तकान् विहाय सर्वे अपि लिङ्गमात्राधिक्यस्य उदाहरणानि भवन्ति। यदि प्रातिपदिकस्य निरुक्तार्थः न स्वीक्रियते तदा लिङ्गग्रहणं व्यर्थं स्यात्। तथाहि लिङ्गं भवति प्रातिपदिकजन्यविषयः। प्रतिपदिकशब्दस्य नियतोपस्थितिकत्वाङ्गीकारे लिङ्गस्यापि नियतोपस्थितिकत्वात् लिङ्गग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः प्रातिपदिकस्य प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयत्वमङ्गीकार्यम्। तथात्वाङ्गीकारे लिङ्गग्रहणस्य सार्थकता। तथाहि दीक्षितानुसारं प्रातिपदिकार्थपदेन नियतोपस्थितिकस्य ग्रहणं क्रियते चेत्प्रातिपदिकेनैव लिङ्गस्यापि ग्रहणं भवति। तेन नियतोपस्थितिकत्वं प्रातिपदिकत्वमित्यङ्गीकारे प्रातिपदिकार्थसूत्रे लिङ्गग्रहणं व्यर्थम्। अत एव नागेशेन प्रातिपदिकार्थपदेन प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयश्च गृहीतम् (न तु लिङ्गम्)। तेन लिङ्गस्य बोधनाय प्रातिपदिकार्थसूत्रे पृथक्तया लिङ्गग्रहणं कर्तव्यमिति लिङ्गग्रहणस्य सार्थकता। लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थत्वे किं प्रमाणं, तदुच्यत– **स्वमोर्नपुंसकात्**[१३] इत्यादिशास्त्रप्रामाण्येन लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थतया तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव इति ग्रन्थेन। यतः क्लीबादङ्गात् स्वमोर्लुक् स्यात्[१४] इत्यर्थके स्वमोर्नपुंसकात् इति सूत्रे लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थता अस्तीति स्पष्टमुक्तमस्ति। लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थत्वमस्तीति हेतोः स्त्रीप्रत्ययेन अपूर्वतया स्त्रीत्वं न विधीयते, अपि तु स्त्रीप्रत्ययैः स्त्रीत्वं द्योत्यते।

परिमाणमात्रे प्रथमा विधीयते। सिद्धान्तकौमुद्यां हि द्रोणो व्रीहिः इति उदाहरणम्। धर्मधर्मिणोर्भेदात् कथं द्रोणव्रीह्योरभेदान्वय इति चेत् द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति वाक्यार्थः। अभेदान्वयस्य बाधादेव द्रोणपरिमाणस्य व्रीहिव्यक्तेश्च परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन अन्वयाभ्युपगमात् उक्तोऽर्थः सङ्गच्छते। अत्र द्रोण इति प्रातिपदिकात् प्रातिपदिकार्थे वा लिङ्गमात्राधिक्ये वा प्रथमायां सिद्धायां परिमाणग्रहणं

व्यर्थमिति न शङ्कनीयम् यतोऽत्र द्रोणशब्दस्य परिमाणवाचिनो द्रोणशब्दात् परिमाणत्वसामान्यरूपेण द्रोणपरिमाणे विवक्षिते प्रथमा विभक्तिर्विधीयते। द्रोणादिशब्दानां द्रोणत्वं, द्रोण, परिमाणत्वेन परिमाणं चार्थः। लिङ्गवत् परिमाणं द्रोणादौ विशेषणमेव। लिङ्गस्य भेदसम्बन्धेन परिमाणस्य त्वभेदेन द्रोणादावन्वय इति विशेषः। तेन द्रोणत्वमेव द्रोणपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। ततः कस्य क्वान्वय इत्याकाङ्क्षायां प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषममिति विवेकः इत्युक्तम्। द्रोणो व्रीहिरित्यादिवाक्येषु द्रोणत्वादिरूपप्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रयापेक्षया परिमाणत्वस्याधिकतया भानात् तस्य च प्रादिपदिकार्थत्वाभावात् सूत्रे अधिकतया परिमाणग्रहणस्य सार्थकता।

सूत्रस्थस्य परिमाणग्रहणस्य यथा सार्थकता तथा यच्च उदाहरणं प्रदर्शितं दीक्षितेन तन्न युक्तमिति नागेशभट्टस्याशयः। उक्तरीत्या परिमाणग्रहणस्य सार्थक्याङ्गीकारे द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नं व्रीहिमानय इत्यर्थे वक्तव्ये द्रोणो व्रीहिमानय इति वाक्यस्य साधुत्वापत्तिः, अबाधितत्वात्। तथाहि प्रकृतसूत्रेण प्रथमा परिमाणमात्रे विधीयते। परिमाणरूपप्रत्ययार्थे द्रोणादेरन्वयो भवति, द्रोणस्य च व्रीहौ अन्वयो भवति। तेन द्रोणपद-व्रीहिपदयोः सामानाधिकरण्याभावेन व्रीहिपदार्थस्य आनयनक्रियायां कर्मत्वविवक्षायां द्रोणो व्रीहिम् आनय इति वाक्यस्य साधुत्वं निर्बाधम्। अतः निरुक्तवाक्यस्य साधुत्वबाधनाय प्रातिपदिकार्थशब्देन प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रययोः ग्रहणात् द्रोण इत्यादौ तदपेक्षया अधिकस्य परिमाणस्य बोधात् प्रातिपदिकार्थे प्रथमा न सिध्यतीति सूत्रे परिमाणग्रहणं कृतम्। परिमाणत्वे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् प्रथमा। परिमाणाभिन्नो यो द्रोणः तत्परिच्छिन्नो ब्रीहिरिति बोधः। तेन परिमाणमात्रे प्रथमाया द्रोण इत्येव उदाहरणम्। द्रोण व्रीहिरितिःवाक्ये सिंहो माणवक इतिवल्लक्षणया द्रोणपरिमाणं व्रीहिरिति बोध्यम् इति नागेशाशयः।

सिद्धान्तकौमुद्यां प्रदत्तम् उदारहणमप्यसङ्गतमित्यपि नागेशभट्टस्य मतम्। तथाहि तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा इति वार्तिकम्। तेन वार्तिकेन यत्र तिङन्तार्थेन सामानाधिकरण्यं तत्र प्रथमा विधीयते। नीलो घट इत्युदाहरणम्। नीलाभिन्नो घट इति शाब्दबोधः। प्रकृते द्रोणो व्रीहिरिति वाक्ये नीलो घट इतिवदभेदान्वयाभावात् उदाहरणं न सङ्गतम्। अतः भाष्यमनुसृत्य महामतिना नागेशेन द्रोणः, खारी, आढकम् इत्यादिकमुदाहरणं प्रदर्शितम्। परिमाणाभिन्नो द्रोण इति बोधः। पदस्यैव लक्षणा इति सिद्धान्तात् द्रोणो व्रीहिरिति वाक्ये सिंहो माणवक इतिवल्लक्षणा साधु।

सूत्रस्थस्य परिमाणपदस्य परिमीयते अयमिति कर्मव्युत्पत्त्या कैयटेन प्रदीपे परिमाणग्रहणं प्रमेयार्थकमिति यत् प्रतिपादितं तदप्यसङ्गतम्। तथाहि मानमेयसम्बन्धात् व्रीह्यादेः तत्परिच्छिन्ने लक्षणा। द्रोणादिभिः परिच्छिन्नस्य व्रीह्यादेः अनेकत्वेन नियतोपस्थितिकत्वाभावेन प्रातिपदिकार्थत्वाभावात् प्रथमासिद्ध्यर्थं सूत्रे परिमाणग्रहणं कार्यम् इति कैयटाशयः। अत्र भगवतः नागेशस्य आशयोऽयमस्ति यत् यथा सिंहो माणवक इति वाक्ये लक्षणया साधुता तथैव द्रोणो व्रीहिरिति वाक्येऽपि बोध्यम्।

प्रकृतसूत्रे वचनग्रहणं तावत् संख्यानां प्रथमासिद्ध्यर्थं कृतम्। अत्र सूत्रे वचनशब्दः संख्यापरः। ननु संख्यावाचकानां शब्दानां प्रातिपदिकार्थत्वादेव प्रथमायाः सिद्धेः सूत्रे पृथक्तया वचनग्रहणं किमर्थमिति चेत् सिद्धान्तकौमुद्यामुक्तम् इह उक्तार्थत्वादप्राप्तौ वचनम् इति। तथाहि अपदं न प्रयुञ्जीत इति भाष्यवचनात् सुप्तिङन्तयोश्च पदत्वात् सुपा विना प्रयुज्यमानानां संख्यानामपदत्वापत्तिरिति तन्निरासाय वचनग्रहणम्। ननु उक्तार्थानामप्रयोग इति न्यायेन एकत्वादिसंख्याबोधकेभ्य एकादिशब्देभ्यो नियमेन एकवचनादीनामेव प्रवृत्त्या तस्याः संख्याया एकादिशब्देभ्य उक्तत्वात् पुनस्तेभ्यः प्रथमा न स्यादिति प्रथमासम्पादनाय वचनग्रहणं

कृतम्। अत्र एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते इति न्यायेन एकादिशब्देभ्यो यथा प्रथमापत्तिस्तथैव द्वादिशब्देभ्योऽपि प्रथमापत्तिरिति चेन्नद्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति न्यायेन अथवा अयोग्यान्वयापेक्षया द्विरुक्तिरेव वरमिति धिया अत्र द्विशब्दात् द्विवचनस्य एव साधुत्वम्।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा इत्यस्मिन् सूत्रे अनभिहिते इत्यस्याधिकारो विद्यते। किन्तु सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत् इति न्यायेन सूत्रेऽस्मिन् अनभिहिते इत्यधिकारो न युज्यते। तथाहि प्रकृतसूत्रे प्रातिपदिकार्थस्य अन्येन अभिधानाभावेन प्रातिपदिकार्थे अनभिहितत्वस्यासम्भवमेव अनन्वये बीजम्। अनभिहिताधिकारात् **बहुषु बहुवचनम्**[१५] इत्यादिना अस्य प्रकरणस्य एकवाक्यत्वं भवेत्। एकादिभिः शब्दैः एकत्वादीनामभिहितत्वात् अनभिहिताधिकारस्य प्रत्याख्यानं कर्तुं शक्यम्। तेन प्रत्याख्यानेन एकवाक्यताभावात् उक्तार्थत्वाद्वा प्रथमा न स्यादिति वचनग्रहणेन सिद्ध्यति। अत्र च सूत्रेऽनभिहिताधिकारो नास्तीति नागेशस्य आशयः।

प्रत्ययनियमपक्ष अर्थनियमपक्ष इति पक्षद्वययोः अत्र सूत्रे तावत् प्रत्ययनियमपक्षः अस्तीति सूत्रे मात्रग्रहणं कृतम्। यदि प्रत्ययनियमपक्षो नाङ्गीक्रियत तर्हि प्रातिपदिकार्थ एव प्रथमा इति नियमस्य सत्त्वात् निरर्थकेषु अव्ययादिषु प्रथमा सिद्ध्येत्।

एवंरीत्या नागेशभट्टेन अस्य सूत्रस्यार्थः लघुशब्देन्दुशेखरे वर्णितः अस्ति।

सन्दर्भाः

१. अष्टाध्यायी २.३.४६
२. अष्टाध्यायी २.१.७२
३. अष्टाध्यायी १.२.४५
४. अष्टाध्यायी १.२.४६
५. वैयाकरणभूषणसारः।
६. अष्टाध्यायी १.४.२३
७. लघुशब्देन्दुशेखरः।
८. अष्टाध्यायी २.३.१९
९. लघुशब्देन्दुशेखरः।
१०. पाणिनीयधातुपाठः २.५१
११. अष्टाध्यायी ३.२.३
१२. अष्टाध्यायी ४.१.४८
१३. अष्टाध्यायी ७.१.२३
१४. सिद्धान्तकौमुदी, नपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।
१५. अष्टाध्यायी १.४.२१

परिशीलितग्रन्थसूची

- भट्टोजिदीक्षितः, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (प्रथमभागः), गिरिधरशर्मा, परमेश्वरानन्दशर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण २०१०
- नागेशभट्टः, लघुशब्देन्दुशेखरः (कारकप्रकरणम्), हरेकृष्णशतपथी, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति, २००७
- महर्षिपाणिनिः, अष्टाध्यायी, गोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन, वाराणसी, २०११
- महर्षिपतञ्जलिः, व्याकरणमहाभाष्यम् (विधिशेषप्रकरणम्), चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रण १९८८
- नागेशभट्टः, वैयाकरणलघुमञ्जुषा, चौखम्बासंस्कृतसीरीज्, वाराणसी, १९२५

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

चातुर्मास्यप्रयोग इति हस्तलिखितग्रन्थस्य सविमर्शसम्पादनम्, अत्र वैश्वदेवपर्व

नब कुमार दाश*

वैदिका धर्मपरायणमासन्। तत्र को धर्मः? तदुक्तं मीमांसापरिभाषाकारैः "तत्र वेदवोधितेष्टसाधनताको धर्मः। यथा यागादि।" अतः यागादयः श्रौतकर्माणि एव श्रुतेः मुख्यः प्रतिपाद्यः। तैत्तिरीयब्राह्मणे यज्ञस्य पञ्चविधत्वमाम्नातम्।[१] तेषु श्रौतयज्ञेषु एको विशिष्टो यज्ञः चातुर्मास्ययागः। ऐतरेयब्राह्मणे, तैत्तिरीयब्राह्मणे, शतपथे, गोपथब्राह्मणे च यागस्य अस्य विस्तृतं विवरणमाम्नातम्। आश्वलायन-बौधायनादिश्रौतसूत्रेऽपि चातुर्मास्यस्य महदालोचनं विद्यते। अर्वाचीनकाले ऋत्विजां सहायार्थं याग-प्रयोगसाहित्यानि रचितानि। तत्र केवलं यागस्येकस्य विवरणं निर्दिष्टम्। अतः यज्ञकाले प्रयोगग्रन्थाः जनप्रियं जातम्। प्रमाणमस्य *New Catalogus Catalogorum* ग्रन्थे विद्यते। *New Catalogus Catalogorum* इत्यस्य सप्तमे खण्डे 'चातुर्मास्यप्रयोगः' इत्यस्य त्रिंशताधिकायाः मातृकायाः उल्लेखः परिदृश्यते। तासु तिस्रो मातृकान् अवलम्ब्य चातुर्मास्यप्रयोग इति ग्रन्थस्य सविमर्शसम्पादनं मया कृतम्। मातृकात्रयं बौधायनश्रौतसूत्रानुसारम्। अतः केवलमाध्वर्यवकर्म, प्रतिप्रस्थातृ कर्म एव अत्र विधृतम्। ग्रन्थस्य कर्ता ग्रन्थकारो वा अज्ञातः परं लिपिकारः, ग्रन्थकालः स्पष्टरूपेण पुष्पिकायां लिखितम्। अत्र तिसृणां मातृकाणां विवरणं प्रदीयते।

क	ख	ग
चातुर्मास्यप्रयोगः, G १०६३४	चातुर्मास्यप्रयोगः, G २४८	चातुर्मास्यप्रयोगः, (J०००१)
ग्रन्थस्य नाम-चातुर्मास्यप्रयोगः	ग्रन्थस्य नाम-चातुर्मास्यप्रयोगः	ग्रन्थस्य नाम-चातुर्मास्यप्रयोगः
ग्रन्थकारः-अज्ञातः	ग्रन्थकारः-अज्ञातः	ग्रन्थकारः-अज्ञातः
विषयः-वैदिकः	विषयः-वैदिकः	विषयः-वैदिकः
शाखा-तैत्तिरीयसंहिता	शाखा-तैत्तिरीयसंहिता	शाखा-तैत्तिरीयसंहिता
(बौधायनश्रौतसूत्रम्)	(बौधायनश्रौतसूत्रम्)	(बौधायनश्रौतसूत्रम्)
भाषा-संस्कृतम्	भाषा-संस्कृतम्	भाषा-संस्कृतम्
लिपिः-देवनागरी	लिपिः-देवनागरी	लिपिः-देवनागरी
सम्पूर्णम्/असम्पूर्णम्-सम्पूर्णम्।	सम्पूर्णम्/असम्पूर्णम्-सम्पूर्णम्।	सम्पूर्णम्/असम्पूर्णम्-सम्पूर्णम्।
कालः-सम् १७७४	कालः-आनुः अष्टादशशतकम्	कालः-शक १७३४

* सहकारी अध्यापकः, सीतानन्दकॉलेज्, नन्दीग्रामः, पश्चिमवङ्गः एवं गवेषकः, रवीन्द्रभारतीविश्वविद्यालयः, कोलकाता, पश्चिमवङ्गः।

(१७१८ A.D.)		(१८१२ A.D.)
उपकरणम्–हस्तनिर्मितं पत्रम् (Handmade Paper)	उपकरणम्–हस्तनिर्मितं पत्रम् (Handmade Paper)	उपकरणम्–हस्तनिर्मितं पत्रम् (Handmade Paper)
हस्ताक्षरः–उत्तमः	हस्ताक्षरः–सहनीयः	हस्ताक्षरः–उत्तमः
पत्रसंख्या (Folio) –३४)	पत्रसंख्या (Folio) –३०	पत्रसंख्या (Folio) – ६६
प्रतिपत्रे वाक्यसंख्या–१०	प्रतिपत्रे वाक्यसंख्या–१३	प्रतिपत्रे वाक्यसंख्या–७
अवस्था–उत्तमः	अवस्था –उत्तमः	अवस्था –उत्तमः
परिमाणः–२२×९.५ से.मि.	परिमाणः–२३.५×१०.५ से.मि.	परिमाणः–२१.८२×९.२५ से.मि.

चातुर्मास्ययागः संवत्सरसाध्यः अथवा पञ्चदिवससाध्यः अथवा एकदिवससाध्यः। अस्मिन् श्रौतकर्मणि चत्वारि पर्वाणि विद्यन्ते । पर्वणां मध्ये मासचतुष्टयस्य व्यवधानं परिदृश्यते। अतः इदं श्रौतकर्म चातुर्मास्ययाग इति कथ्यते । पर्वणि अर्थात् पूर्णिमातिथौ अस्य अनुष्ठानं भवति। चत्वारि पर्वाणि एवम् – वैश्वदेवः वरूणप्रघासः साकमेधः शुनासीरीय इति। अत्र समीक्षात्मकसम्पादने चातुर्मास्यप्रयोग इति हस्तलिखितग्रन्थस्य तिस्रः मातृकाः प्रतोल्य संशुध्य विविच्य च शुद्धपाठं तथा ग्रन्थकर्तुः पाठं प्रयसनीयम्। अथ सविमर्शसम्पादनान्ते चातुर्मास्यप्रयोग इत्यस्य वैश्वदेवपर्वणः मूलमत्र (Text) प्रदर्शितम्।

तदानीमेव यजमानो **वैश्वदेवं हविर्भिर्यक्ष्ये** इति संकल्प्य देवतासंकल्पं कुर्यात्। अग्नीषोमावाज्यभागौ, आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः, सौम्यश्चरुः,[२] सावित्रो द्वादशकपालः पुरोडाशः, सारस्वतश्चरुः, पौष्णश्चरुः, मारुतः सप्तकपालः[३] पुरोडाशः, वैश्वदेव्यामिक्षा, द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशः। देवा आज्यपा इत्यादि नवप्रयाजाः। नवानुयाजाः। अग्न्यादय[४] सर्वा उच्चैः। सविता द्यावापृथिवी इत्युपांशुः। एवमात्मकेन श्वः सद्यो यक्ष्ये[५] इति। अध्वर्युः इडादेवहूः इत्यादि अग्नीन् विहृत्यान्वाधाय[६] मन्त्रवच्छाखाहरणादि बर्हिःसंभरणे नवप्ररूढदर्भमयं प्रस्तरं पृथक्बध्वा त्रींस्त्रीन्मुष्टीनेकीकृत्य तूष्णीं बध्वेन मुष्टित्रयेण सह मन्त्रवता शुल्वेन[७] संनह्येत्। इध्मसंभरणे कार्ष्मर्यमयाः परिधयः। ततस्ता त्रयोविंशतिधा इति। सायं दोह **इह वो विश्वेदेवा रमयन्तु गावः कामधुक्षः**[८] **प्रणो ब्रूहि विश्वेभ्यो देवेभ्यो हविः**[९] **बहुदुग्धि विश्वेभ्यो देवेभ्यो**[१०] **हव्यम्। सोमेन त्वातनच्मि विश्वेभ्यो देवेभ्यो दधि** इति विशेषः। प्रातर्हुतेऽग्निहोत्रे गार्हपत्ये स्मार्तवदाज्यं संस्कृत्य स्रुचि चतुर्गृहीतं[११] गृहीत्वा पञ्च होतारं मनसानुद्रुत्याहवनीये जुहोत्यन्वारब्धे यजमाने अग्निर्होता। अश्विनावध्वर्यु।[१२] त्वष्टाग्नीत्। मित्र उपवक्ता। सोमः सोमस्य पुरोगाः। शुक्र शुक्रस्य पुरोगाः। श्रातास्त इन्द्रं सोमाः। वातापेर्हवनश्रुतः स्वाहा। वाचस्पतये ब्रह्मण।[१३] इदं कुष्माण्डहोमः।

उपस्थानवरदानान्तः सारस्वतहोमश्च। पाणिसंमर्शनादिपात्रासादने[१४] अष्टाविंशतिकपालैः सह चतस्रः[१५] स्थालीः। उपभृता सह पृषदाज्यग्रहणीं[१६] मेक्षणेन सह चत्वार्यन्यानि मेक्षणानि। आज्यस्थाल्या सह दधिस्थालीमपूर्वाज्यस्थालीं[१७] दारुपात्र्या सहाशयपात्रामिक्षाव्युद्धरणपात्रीं[१८] धृष्ट्यासहोपवेषम्।

निर्वापे[२०] अग्नये जुष्टं निर्वपामि, सोमाय जुष्टं निर्वपामि, सवित्रे जुष्टं निर्वपामि, सरस्वत्यै जुष्टं निर्वपामि, पूष्णै जुष्टं निर्वपामि, मरुद्भ्यो जुष्टं निर्वपामि, द्यावापृथिवीभ्यां जुष्टं निर्वपामि। प्रोक्षणे[२१] अग्नये वो जुष्टं प्रोक्षामि। सोमाय, सवित्रे, सरस्वत्यै, पूष्णे, मरुद्भ्यो, द्यावापृथिवीभ्यां प्रातर्दोहः सायंदोहवत्। आतञ्चनादि[२२] नास्ति। अधिवपनात् प्राक् चरुपुरोडाशीयानां[२३] विभागः।

अधिवपने[२४] अग्नये जुष्टमधिवपामि। सवित्रे मरुद्भ्यो द्यावापृथिवीभ्यां पूष्णः पुरोडाशपक्षे अधिवपनादिसर्वं पुरोडाशवत्। गार्हपत्यस्य दक्षिणार्धे[२५] कपालोपधाने आग्नेयार्थमष्टौ कपालान्युपधाय तदुत्तरतः स्थाल्यां तिरःपवित्रं प्रणीताभ्य आनीय[२६] सोमाय चरुस्थालीं ध्रुवासीत्यधिश्रयेत्। तदुत्तरतः सावित्राय द्वादशकपालान्युपधाय[२७] तदुत्तरतः पूर्ववत् सरस्वत्यै चरुस्थालीं तदुत्तरतः पूष्णे चरुस्थालीं पूर्ववदधिश्रित्य तदुत्तरतो मारुताय सप्तकपालान्युपधाय तदुत्तरतस्तूष्णीमुपवेषेणाङ्गारान्निरूह्य स्थाल्यामुदगग्रं शाखापवित्रं निधाय प्रातर्दोहमानीय मेक्षणेनालोड्य श्रपयेत्। तदुत्तरतो द्यावापृथिवीयमेककपालमुपदधाति।[२८] यद्धर्मे कपाल., पूष्णस्तदपि.[२९] इति विशेषः। संवपने[३०] अग्नये जुष्टं संवपामि, सवित्रे मरुद्भ्यो द्यावापृथिवीभ्यां पिण्डवच्चरव्यानपि विभज्य यथादैवतमभिमृशति। अग्नये त्वा, सोमाय वः, सवित्रे त्वा, सरस्वत्यै वः, पूष्णे वः, मरुद्भ्यस्त्वा, द्यावापृथिवीभ्यां त्वा। आग्नेयं पुरोडाशमधिश्रित्य सोमाय स्थाल्यां[३१] तिरः पवित्रं सरस्वत्यै पूष्णे[३२] च तण्डुलान् निर्वपति।[३३] **घर्मास्थ विश्वायुष** इति सावित्रं पुरोडाशमधिश्रित्य तिरः पवित्रं सरस्वत्यै पूष्णे च तण्डुलान्निर्वपति।[३४] मारुतमधिश्रित्य प्रातर्दुग्धे तप्ते पयसि उदगग्रं शाखापवित्रं निधाय सायंदोहं दध्यानयति। सामिक्षातां कश्चित् कुशलः परीन्धेन[३५] श्रपयित्वा विभक्तवाजिनां[३६] कृत्वामिक्षा वाजिने सपवित्रे शीते[३७] निदध्यात्। द्यावापृथिव्यं[३८] पुरोडाशमधिश्रित्य तिरःपवित्रमाज्यस्थाल्यामाज्यं निरूप्य तथैव दधिस्थाल्यां तूष्णीं दध्यानयति। संप्रैषे[३९] प्रोक्षणीरासादये.[४०] ह्याज्येन च दध्ना चोदेहीति। स्रुक्-संमार्जने उपभृन्मन्त्रेणोपभृदनन्तरं[४१] पृषदाज्यग्रहण्याः सन्मार्गः। आज्यग्रहणे उपभृति चतुर्गृहीतं गृहीत्वा पृषदाज्यग्रहण्यामुपस्तृणीते महीनां पयोसि इत्येकम्। विश्वेषां देवानां तनू इति द्वितीयम्। बर्हिषी अन्तर्धाय दध्यानयति। ऋध्या समद्य पृषतीनां ग्रहं पृषतीनां ग्रहोसि। अपोद्धृत्य[४२] बर्हिषी अभिघारयति। विष्णोर्हृदयमसि इत्येकम्।[४३] एकमिषविष्णुस्त्वानुविचक्रम[४४] इति द्वितीयम्। यजमानः चरोस्त्वा इत्यादिचतुर्भि-रुपभृदाज्यग्रहणान्यनुमन्त्र्योत्तरैश्चतुर्भिः[४५] पृषदाज्यग्रहण्युपस्तरणा-भिघारणान्यनुमन्त्रयते। अध्वर्युर्वेद्यास्तरणे मुष्टित्रयनिर्मितमेकैकं मुष्टिमेकीकृत्य त्रिविधं बर्हिस्तृणानि स्रुगासादने उपभृन्मन्त्रेण तदनन्तरं पृषदाज्यग्रहण्यासादनम्।[४६] उद्वासने यथोहम्। उपस्तीर्णाभिघारि-तान्पुरोडाशानभिघारितांश्चरुंश्च मारुतां तानुद्वास्य[४७] चमसे तूष्णीमुपस्तीर्यामिक्षामग्नावधि-श्रित्याभिघार्योद्वास्योपस्तृते चमसे आमिक्षां व्युद्धृत्य तदुपरि किञ्चिद्वाजिनमानीयाभिघार्यालंकरोति। यस्त आत्मा पशुषु प्रविष्टो देवानां विष्ठामनु यो वितस्थे। आत्मन्वान्थेसाम घृतवान्हि भूत्वा देवान् गच्छ सुवर्विद यजमानाय[४८] मह्यम् इति।[४९] पात्रान्तरे पूर्ववदेककपालमुद्वास्य तस्मिन्बह्वाज्यमानीयावि:पृष्ठं[५०] कृत्वा सर्वाणि हवींष्यन्तर्वेदि सह यजमानेनासादयति। भूर्भुवः सुव इति स्रुवं ध्रुवायामानीय[५१] गार्हपत्यस्य पुरस्ताद् वाजिनमासादयति तूष्णीम्। अथाहवनीयसमीपे अधिमन्थनशकलमेकं लौकिकं प्रागायतं निदधाति। **अग्ने जनित्रमसि**। वृषणसंज्ञितौ द्वौ लौकिकौ शकलावधिमन्थनस्य पार्श्वयोः प्रागायतौ हस्ताभ्यां युगपन्निदधाति।[५२] वृषणौ स्थः दक्षिणेनोत्तरारणीं[५३] सव्येनाधरारणीमादत्ते।[५४] उर्वश्यस्या-युरसि पुरुरवाः। ते अपूर्वाज्यस्थाल्यां समनक्ति। घृतेनाक्ते वृषणं दधाथाम्। अधिमन्थनशकले अरणीं निधाय यजमानं वाचयति गायत्रं छन्दोऽनुप्र जायस्व, त्रैष्टुभं छन्दोऽनुप्र जायस्व, जागतं छन्दोऽनुप्रजाय स्व। मन्थन्नाह[५५] अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहि।[५६] जात आह जातायानुब्रू३हि। जातमग्निमाहवनीये प्रहरन्नाह प्रहियमाणायानुब्रू३हि। प्रहरति यजमानेन्वारब्धः[५७] भवतं नः समनसौ समोकसावरेपसौ[५८] मा यज्ञ हि सिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदस्यौ शिवौ भवतमद्य नः। अपूर्वाज्यं स्रुवेण जुहोति।[५९] अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः।

स्वाहाकृत्य ब्रह्मणा ते जुहोमि। मा देवानां मिथुया कर्भागधेयं स्वाहा। प्रविष्टायाग्नय[६०] इदं। अथेध्मात् समिधम् इत्यादि[६१] प्रकृतिवच्चतुरः[६२] प्रयाजानिष्ट्वा पञ्चमादीन्मध्ये जुहून्नष्टमे[६३] कृत्स्नमौपभृतं जुह्वामानयति। पञ्चमादीनां पञ्चमस्यैव याजमानमावर्तनीयम्। नव प्रयाजानिष्ट्वोद् उत्याक्रम्य जुह्वामुपस्तीर्याग्नेयस्य पूर्वार्धादवद्यन्नाह अग्नयेऽनुब्रू[३]हि इति याजमानं[६४] प्रकृतिवत्। अत्याक्रम्य सौम्यस्य चरोरपरार्द्धादवद्यन्नाह[६५] सोमायानुब्रू[३]हि।[६६] अपरार्द्धादवदाय पूर्वार्द्धादवत्यद्यत्यभिघारयति।[६७] प्रत्यनक्त्यत्याक्रम्याश्राव्य प्रत्याश्रावित आह[६८] सोमं यज इति। वषट्कृते जुहोति। एवं यथादैवतं सर्वाणि यजेत्। सवितुर्द्यावापृथिव्योश्चोपांशुत्वम्। आमिक्षैककपालयोरुपस्थानाभिमर्शनेन स्तः। द्यावापृथिवीयं[६९] सर्वं जुह्वामाधाय[७०] द्विरभिघार्य प्रतिष्ठितं सर्वं जुहोति। जैहवेन संस्रावेणाभिजुहोतीति विशेषः। यजमानः सोमस्याहं●, प्र प्रजया च पशुभिश्च जनिषीय,[७१] सुरेतारेतोधिषीय, सवितुरहंदेव स्वस्तिमान्पशुमान्भूयांस, सरस्वत्या अहं●,[७२] वाचमन्नाद्यं पुषेयम्, पूष्णो हं● पुष्टिमान्पशुमान् भूयासं मरुतामह●, प्राणैर्ऋध्यासं विश्वेषां देवानामह●[73], प्राणैः सायुज्यं गमेयम्, द्यावापृथिव्योरह●, भूमानं प्रतिष्ठां गमेयम्,[७४] योभयोर्लोकयोर्ऋध्यासम्। अध्वर्युः **मधुश्च स्वाहा, माधवश्च स्वाहा, शुक्रश्च स्वाहा, शुचिश्च स्वाहा** इति चतुर्भिर्मासनामभिराज्यस्थाल्यात्[75] स्रुवेणैककपालमभिजुहोति। मधव इदम्, माधवायेद●, शुक्रायेद●, शुचये[७६] इदम् इति याजमानं स्विष्टकृते वैश्वदेवतानामुत्तरार्धात्[७७] सकृत् सकृदवदायैककपालस्याशयादवद्यति। द्विरभिघार्य[७८] चर्वामिक्षामेक्षणान्यादायात्याक्रम्याश्राव्य प्रत्याश्रावित आह अग्निं[७९] स्विष्टकृतं यज इति। वषट्कृते उत्तरार्धे[८०] पूर्वार्धे अतिहाय पूर्वा आहुतिर्जुहोति।[८१] मेक्षणान्यनुप्रहरति। संस्रावेणाभिजुहोति। याजमानं[८२] प्रकृतिवत्। इडायामेककपालस्याशयादवद्यति। अन्वाहार्यमासाद्य प्रथमजं वत्सं ददाति। **रुद्राय गां ताभ्याम्** इति प्रतिग्रहमन्त्रः। हविरुच्छिष्टमुद्वास्याग्रेण गार्हपत्यं तृणेषु अनाज्यलिप्तं **चमसं कंसं वा**[८३] अग्निहोत्रहवणीं स्फ्यं च सादयित्वा[८४] परिभोजनीयदर्भांश्चासाद्य मन्त्रेण पवित्रे कृत्वा यजमान वाचं यच्छ इत्युक्ता वेषायत्वेत्यग्निहोत्रहवणीमादाय प्रत्युष्टमिति। गार्हपत्ये प्रतितप्य प्रोक्षणीः संस्कृत्य **शुन्धध्वम्** इति चमसादि प्रोक्ष्यमन्त्रेन स्फ्यमादाय[८५] वेदिं तृतीयदेशे[८६] स्तब्धां संप्रेष्यति। प्रोक्षणीरासादय चमससंमृड्ढीति। यो मा हृद इति स्फ्योद्वासनादि। आग्नीध्रश्च कंसं[८७] संपरिभोजनीय दर्भांश्चादाय गार्हपत्ये निष्टपति। प्रत्युष्टं रक्षः[८८] योऽग्नेर्वस्ते जिष्ठे निष्टपामि।[८९] संमार्ष्टि वाचं प्राणः,[९०] वाजिनं● समोर्ज्मि[९१] समार्ग दर्भान् गार्हपत्येनुप्रहरति दिवः शिल्पम् इति। अध्वर्युर्वाजिनं गार्हपत्येधिश्रित्याभिघार्यो हास्य पुनरभिघार्य यस्त आत्मा इत्यलंकृत्य वेद्या मासादयति। व्याहृतिभिर्यजमानोऽनुमन्त्रयते यन्मे अग्न इत्यादिः। अथाध्वर्युः संप्रैषमाह ब्रह्मन्प्रस्थास्याम[९२] इत्यादिः। एतदत्सु हुतं तव स्वाहा इत्येतदन्तं[९३] प्रकृतिवत्। पृषदाज्यं[९४] जुह्वामानीयात्याक्रम्याश्राव्य प्रत्याश्रावित आह देवान् यजेति, वषट्कृते जुहोति। एवं चतुर्थादिषु **यज यज** इति वदन्नष्टावनुयाजानिष्ट्वा[९५] नवमम्। सर्वान् संभिद्य यजेत्। यजमानः आद्यां स्त्रीन्प्रजावानिति। तदुपरितन्नास्त्रीमष्टमं[९६] च पशुमानिति सप्तमनवमवायुष्मानिति।[९७] अध्वर्युरुदङ्त्याक्रम्य यथायतनं स्रूचौ सादयित्वा स्रुग्व्यूहने उपभृदनन्तरं तन्मन्त्रेण पृषदाज्यग्रहणीं व्यूहेत्। प्रस्ताञ्जने उपभृदनन्तरं तन्मन्त्रेण पृषदाज्यग्रहण्याभ्यं जनं शाखापवित्रं[९८] प्रस्तरेण सह प्रहरेत्। उज्जितिवाचने[९९] यथादैवतमुज्जितीर्वाचयेत्। स्रुग्विमोके अग्ने वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामि। सुम्नाय सुम्निन्यः[१००] सुम्ने मा धत्तं धुरि धुर्यौपात। अथ संमृष्टं चमसमन्तवेदिं[१०१] निधाय बर्हिषि सर्वतः पातयं श्चचमसे वाजिनमान यन्नाह वाजिभ्योऽनुब्रू[३]हि इति। उपस्तरणाभिघारेण स्तः।

अत्याक्रम्याश्राव्य प्रत्याश्रावित आह[१०२] **वाजिनो यज** इति। वषट्कृते जुहोति। **वाजिभ्य स्वाहा**[१०३] इति। वाजिभ्य इदं वाजिनामहं देवयज्यया[१०४] रेतस्वीन्भूयासम् इति[१०५] जुहोति। यजमानः अग्नय इदं। अग्नेरहं देवयज्याया●[१०६] **युष्मान्यज्ञेन प्रतिष्ठां गमेयम्**।[१०७] अध्वर्युरुदङ्त्याक्रम्य चमसस्थं वाजिनशेषं[१०८] होतुर्हस्ते दध्यात्। यजमानः पञ्चमाः सर्वे समन्वारभ्य[१०९] स्वव्यतिरिक्तोपहवं कुर्युः। होता अध्वर्युः उपह्वयस्व ब्रह्मन्नुपह्वयस्व। अग्नीदुपह्वयस्व। यजमानोपह्वस्वेति। उपहूत इति प्रतिवचनम्। एवमध्वर्युर्ब्रह्माग्नीध्र यजमानाः[११०] क्रमेणोपाह्वानं कुर्युः। होतृप्रथमा[१११] ऋत्विजो मन्त्रेणावघ्राणेन[११२] भक्षयन्ति।[११३] यजमानाः प्रत्यक्षं यन्मे रेतः प्रसिच्यते यन्म आप्यायते यद्वा जायते पुनः। यद्वा मे प्रतितिष्ठति तेन मा वाजिनं कुरु तेन मा रेतस्विनं कुरु तेनमाशिव माविश तस्यते वाजिपीतस्य[११४] मधुमत[११५] उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि इति। निर्णिज्य पात्रं[११६] दध्युः। होतृब्रह्मणावाश्वलायनौ[११७] चेत्। यन्मेरेतः पसिच्यते यद्वा[११८] मे अपि गच्छति। यद्वा जायते पुनः तेन माशिव मा विश तेन मा वाजिनं कुरु। तस्य ते वाजिपीतस्योपहूतस्योपहूतौ[११९] भक्षयामि इति मन्त्रः। अध्वर्युर्होत्रेवेदं प्रदायेत्यादि प्राङेत्यधश्रुवामाप्याय्य[१२०] प्रकृतिवत् प्रायश्चित्तानि हुत्वा धातून्समनज्य[१२१] प्रहृत्य दक्षिणेन पदा वेदिमाक्रम्य तिष्ठन्ध्रुवाज्यास्रुवेणोपहत्य प्रथमं समिष्टयजुर्जुहोति। **यज्ञ यज्ञं गच्छ, यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।** पुनरादाय द्वितीयं जुहोति **एष ते यज्ञो यज्ञपते सह सूक्तवाकः सुवीरः स्वाहा।** स्रुवं निधाय ध्रुवामादाय[१२२] जुहोति। **देवा गातुविद** इत्यादि यज्ञायेदं यज्ञपतय इदं, **देवेभ्यो गातुविद** इति त्यागः। यज्ञविमोकान्ते यजमान उत्करे उपवेषस्य स्थूलप्रदेशमुपग्रहति। **यं देवा मनुष्येषूपवेषमधारयन्। ये अस्मदपचेतस स्तानस्मभ्यमिहा कुरु। उपवेषोपविड्ढि नः प्रजां पुष्टिमथो धनम्। द्विपदो नश्चतुष्पदो ध्रुवाननपगान्कुरु।**[१२३] ब्राह्मणतर्पणान्तं दर्शपूर्णमासवत्। अध्वर्युः[१२४] प्रत्यङ्मुखस्य[१२५] प्राङ्मुखस्य स्वायतनमुपविष्टस्य[१२६] यजमानस्य शिरसि केशान् प्रागादिदिक्-चतुष्टये[१२७] मध्ये चेति। त्रेण्या[१२८] शलल्या पञ्चधा विभजेत्।[१२९] **ऋतमेव परमेष्टि,**[१३०] **ऋतं नात्येति किञ्चन, ऋते समुद्र आहितः। ऋते भूमिरिय श्रिता, अग्निस्तिग्मेन शोचषा। तप आक्रान्तमुष्णिहा। शिरस्तपस्याहितम्, वैश्वानरस्य तेजसा, ऋतेनास्य निवर्तये। सत्येन परिवर्तये। तपसास्यनुवर्तते।**[१३१] **शिवेनास्योपवर्तये। शग्मेनास्याभिवर्तये। शीर्ष्णस्तहतन्तत्सत्यम्।**[१३२] तद्वतं तच्छकेयम्। तेन शकेयन्तेन राध्यासम् इति। प्रतिविभागं मन्त्रावृत्तिः। विभागक्रमेण लोहितायसस्य क्षुरेण[१३३] वपनमनेनैव मन्त्रेण प्रतिवपनं मन्त्रावृत्तिः। यजमानः स्नात्वा स्वायतनमुपविश्य संवत्सरीणाँ स्वस्ति माशास्ते[१३४] इति ब्रूयात्। एष मन्त्रो यजमानस्य याजुष[१३५] हौत्रे या जुष[१३६] सूक्तवाके होतैव वदेत्।

।। संतिष्ठते वैश्वदेवपर्व ।।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण ११.३.६.१-३

२. सो. — क

३. सप्तषु क. — क

४. 'इति' — ख मा अतिरिक्तः।

५. मा. श्वोयक्ष्ये — क, केन **द्यो वा यक्ष्य ख (*मसीलिप्तः)।

६. धानं — ग

७.	शू.	ग
८.	ग मा नास्ति।	
९.	रिन्द्रियं	ग
१०.	देवेभ्यो	ग मा. द्वित्वम्।
११.	चतु*हीतं	ख (*मसीलिप्तः)।
१२.	नाध्वर्यु	क, ग
१३.	स्पते	ग
१४.	पात्राणिसं.	ख
१५.	चरु	ग
१६.	षदा.	ग
१७.	दधिस्थालीं	ग
१८.	सहामिक्षा.	ग
१९.	इतराणि प्राकृतानि	ग मा. अतिरिक्तः।
२०.	देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनो बाहूभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्र.	ग मा. अतिरिक्तः।
२१.	क्षणी	ख, देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनो बाहूभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्र. ग मा.अतिरिक्तः। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनो बाहूभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये ग मा. अतिरिक्तः।
२२.	अतं.	ग
२३.	पुरो.	ख, .डाशीय ग
२४.	देवस्व त्वा म.	ग
२५.	द्यावा. दक्षिणार्धे	इति वाक्यांश ग मा. नास्ति।
२६.	पाआनी.	पा' अतिरिक्तः क मा.।
२७.	द्वायद्वा.	क
२८.	थिव्यमे.	ग
२९.	व्रत इन्द्र	ग मा. अतिरिक्तः।
३०.	संवपे	ग, देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनो बाहूभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये ग मा.अतिरिक्तः।
३१.	'सोमाय स्थाल्याम्'	ख मा. नास्ति।
३२.	क मा. नास्ति।	
३३.	निव.	क, तण्डुलानाव. ग

३४. घर्मा.पति' इति वाक्यं नास्ति ख मा.।
३५. परिधेनख, ग
३६. जिनं ग
३७. लदेशे ग
३८. थिवी ख
३९. सं ख (अस्पष्टः)
४०. दय क,ग
४१. न्त्रेण ग
४२. अपोधृत्य क, अपोध्तृत्य ग
४३. ग मा. नास्ति।
४४. क्रमे ग
४५. ग्रहाननुम. ग
४६. हरण्याः सा. ग
४७. चानु. ग
४८. मान क
४९. आत्मेति ग (मन्त्रः संक्षेपः)।
५०. विपृ. ख
५१. याम् ग
५२. पनिद. ख
५३. रणिं ग
५४. सव्येनोधा. ख
५५. मथ्ननाह ख
५६. ब्रूहि क
५७. मानेनन्वा. ग
५८. पसो क
५९. अपूर्वाज्येन सकृद्गृहीते न जुहोति ग मा. (स्रुवेण जुहोति) इत्यस्य स्थाने।
६०. ष्टायग्न ख
६१. समिधावाधत्तः ग
६२. वन्त्रीन्प्र० ग
६३. जुहूनष्टमे ख, जुह्वाद्ष्टमे ग

६४. यागो याज. ग

६५. चरोरवद्यं नाह ग

६६. सोमायानुब्रू[३]हि ग

६७. र्धादाव. ख, .द्यति। सोमाय अनुबशूहि। अभिघारयति ग

६८. अपः ख

६९. थिव्योश्चोपांशुत्वम्. वापृथिवी. ख मा. वाक्यमिदं नोपलभ्यते.।

७०. मवधाया ग

७१. ख मा. नास्ति।

७२. स्वत्या अ क

७३. नाम क

७४. 'भूमा. यम्' इति मन्त्रांशः ख मा. नास्ति।

७५. स्थाल्या क तथा ख, (सं. पा.)।

७६. इशुचय क

७७. देवाता. क

७८. घारयति ग

७९. आहाग्नि. क, अह अग्नि. ख

८०. रार्द्ध क तथा ख

८१. आहुतीर्जु. क तथा ख, आहुतिः जु. घ

८२. यज. ख

८३. कंसं वा ग मा. नोपलभ्यते।

८४. च सादयित्वा ग मा. नोपलभ्यत।

८५. स्फ्याहामा. ख

८६. देश ख

८७. चमसं ग

८८. प्रत्युष्टँ क (मन्त्रः संक्षेपः)।

८९. जिष्टे. मि क तथा ग (मन्त्रः संक्षेपः)।

९०. प्रा. क, प्राणं मा नि. ग (मन्त्रः संक्षेपः)।

९१. वाजिनं. र्ज्मि क, संमार्ज्मि ग (मन्त्रः संक्षेपः)।

९२. समिधमाधायाग्नीदग्नीन् सकृत् सकृत् संमृड्डि ग मा. अतिरिक्तः।

९३. हेत्यत. ख, .हेति ग

९४. दाज्ये	ख
९५. याजीनि.	ख
९६. स्त्रीनष्ट.	क
९७. .वमावा.	ख, मयुष्मा. ग
९८. सह	ग मा. अतिरिक्तः।
९९. वाजिने	ख
१००. सुमिन्य	ख
१०१. वेदि	क तथा ख
१०२. श्राव्य. आह	इति वाक्यांशः ग मा. नोपलभ्यते।
१०३. द्वितीयं	ग मा. अतिरिक्त।
१०४. म●	क, मह● ख(मन्त्रः संक्षेपः)।
१०५. तस्विन्भू.	ख
१०६. अग्नेरहं	क तथा ख (मन्त्रः संक्षेपः)।
१०७. ज्ञेन यं	क तथा ख (मन्त्रः संक्षेपः)।
१०८. नं शेषं	ख
१०९. रब्धः	ग
११०. एवं सर्वत्र	ग
१११. होता प्र.	ग
११२. वघ्रेण	क
११३. एवम्. भक्षयन्ति	इति वाक्यद्वयं ख मा. नोपलभ्यते।
११४. स्य तस्य	ख
११५. मंत	ख
११६. पात्राणि	ग
११७. ब्रह्मावा.	ग
११८. यद्व	ख
११९. तस्याप.	ख
१२०. यति	ग
१२१. संमृज्य	ग
१२२. स्रुवा.	ख
१२३. यं देवामनुष्येषू● न न पगान् कुरु	ग (मन्त्रः संक्षेपः)।

१२४. अथाध्व.	ग
१२५. ङ्मुखः	ख
१२६. मुविशति	ग
१२७. प्रागादिक्च.	ख
१२८. त्र्येण्या	ख
१२९. पञ्चधा विभजेत्	इति वाक्यांश ख मा. नास्ति।
१३०. मेष्ठी	ख
१३१. तपसास्यनुवर्तते।	मन्त्रोऽयं ख मा. नास्ति।
१३२. शीष्णः स्त.	ख
१३३. तायस्य मन्त्रक्षु.	ख, .तायास्य क्षु. ग
१३४. मासास्ते	ख
१३५. याजुषैव	ग
१३६. षे तु	ग

BIBLIOGRAPHY

- *A Vedic Concordance*. Ed. Maurice Bloomfield. New Delhi: D.K. Printworld, 2014. (rpt.; 1st ed. 1906, Harvard University). English.
- *Agniṣtoma Paddhati*. Ed. Bhagavat Prasada Sharma, Chowkhamba Sanskrit Series No. 479, Banaras City: Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1937. Sanskrit.
- *Aitareya Brāhmaṇa*. Ed. R. Anantakrishna Shastri. Vol. 1. Sanskrit Series No. 169, Trivandrum: University of Travancore, 1942. Sanskrit.
- Aithal, K. Paramesvara. *Veda-Lakṣaṇa Vedic Ancillary Literature, A Descriptive Bibliography*. Delhi: Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd, 1993. English.
- Anirvan. *Vaidika Sahitya (Veda Mīmānsā)*. Vol 1. Kolkata: Sanskrit Book Depot, 2006. 3 Vols. Bengali.
- Anirvan. *Vaidika Sahitya (Veda Mīmānsā)*. Vol 2. Kolkata: Sanskrit Book Depot, 1418 BY. 3 Vols. Bengali.
- *Āpastamba-Sāmānya-Sūtra or Yajñaparibhāṣā Sūtra*. Ed. Samiran Chandra Chakrabarti, with translation and exposition. Bibliotheca Indica Series No 328, Kolkata: The Asiatic Society, 2006. English.
- *Āśvalāyana-Śrautasūtra*. Ed. Amarkumar Chattopadhyay. Bibliotheca Indica Series No. 322, Kolkata: The Asiatic Sociaty, 2002. Bengali.

- Bandyopadhyaya, Shanti. *Vaidik Yuger Yāgyajña*. Sanskrit Pustak Bhandar, Kolkata, 1417 BY (2nd ed.; 1st ed. 1395 BY). Bengali.
- Basu, Ratna. *Methodology and Sanskritic Researches*. School of Vedic Studies Pamphlet Series 4, Kolkata: School of Vedic Studies, RBU, 2012(Revised ed.; 1st ed. 1998). English.
- *Baudhāyana Śrautasūtra*. Ed. C.G. Kashikar. Vols. 4. Kalāmūlaśāstra Series, New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, 2003. English.
- Bhide, V.V. *The Cāturmāsya Sacrifice, with special reference to Hiraṇyakeśi Śrautasūtra*. Pune: University of Poona, 1979. English.
- Chattopadhyay, Amarkumar. *Vaidik Yajña*. Kolkata: Sanskrit Pustak Bhandar, Bangabda 1424(1st ed. 1411). Bengali.
- Dange, S.S. *Sacrifice in India Concept and Evolution*. Aliigarh: Viveka Publications, 1987.English.
- *Darśapaurṇamāsapaddhati*. Ed. and trans. Yudhisthira Mimansaka. Sonipat: Ramlal Kapoor Trust, 2007. Hindi.
- Dharmadhikari, T.N. Ed. *Yajñāyudhāni*. Pune: Adarsha Sanskrit Shodha Samstha, 2013(2nd ed. 1st ed. 1989). English.
- *Gopatha Brāhmaṇa*: Ed. Taraknath Adhikari. Calcutta: Rabindra Bharati University, 1999. Bengali.
- *Krisṇa Yajur Veda Taittirīya Saṃhitā Mantrās*. Ed. R.L. Kashyap. Bangalore: Sri Aurobindo Kapali Sastry Institute of Vedic Culture, 2005. English.
- Sastri, Chinnaswami. *Yajñatattvaprakāśa*. Ed. Ramanatha Dikshita. Calcutta: University of Calcutta, 1951. Sanskrit.
- *Śatapatha-Brāhmaṇa*. Ed. & Trans. Shanti Banerjee. Vol. 1&2. Vedagranthamālā 13, Kolkata: Ramakrishna Mission Institute of Culture, 2016. Bengali.
- *Śivaśroṇa. Śrauta Prayogaklpti*. Ed. Braj Bihari Chaubey. Kṛtibodha Series 2, New Delhi: National Mission For Manuscripts and D.K. Printworld (P) Limited, 2011. English.
- *Taittirīya- Brāhmaṇa*. Ed. & Trans. Trishna Chatterjee. Vol. 1. Vedagranthamālā 14, Kolkata: Ramakrishna Mission Institute of Culture, 2016. 3 Vols. Bengali.

- *Taittirīya- Brāhmaṇa*. Ed. & Trans. Trishna Chatterjee. Vol. 2. Vedagranthamālā 14, Kolkata: Ramakrishna Mission Institute of Culture, 2017. 3 Vols. Bengali.
- *Taittirīya- Brāhmaṇa*. Ed. & Trans. Trishna Chatterjee. Vol. 3. Vedagranthamālā 14, Kolkata: Ramakrishna Mission Institute of Culture, 2018. 3 Vols. Bengali.
- Thite, Ganesh Umakant. *Cāturmāsya-Sacrifice: Researched*. Publications of the Centre of Advanced Study in Sanskrit no. 31, Poona: University of Poona, 1969. English.

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

प्रबोधचन्द्रोदये भारतीयाद्वैतदर्शनस्य प्रभावविमर्शः

डॉ. शिलादित्य सत्पथि*

काव्यरसास्वादनं हि ब्रह्मस्वादसहोदरं किमपि परमानन्दसन्दोहजनकं कार्यम्। संस्कृतसाहित्यगगने कालिदासः खलु उज्ज्वलज्योतिष्कम्। तथापि प्रतीकनाटकस्य रूपकाररूपेण श्रीकृष्णमिश्रस्यासनं सुप्रतिष्ठितमासीत्। यद्यपि श्रीकृष्णमिश्रस्येकमेव प्रबोधचन्द्रोदयाभिधानं रूपकं प्राप्यते तथापि इदं रूपकं प्रतीकेषु प्रथमत्वेन सरसरचनाशालित्वेन च प्रसिद्धम्। अमूर्ता भावा धर्मादयोऽत्र मूर्तप्राणिरूपतया कल्पिताः। इदमेव चास्य प्रतीकरूपकत्वम्। अस्येव सरसस्य सरलस्य च ग्रन्थरत्नस्यानुकरणे तेस्तैः कविपण्डितैः चैतन्यचन्द्रोदयविद्यापरिणयामृतोदयादीनिप्रतीकरूपकानि विरचितनीति संस्कृते प्रतीकरूपकप्रणयनपथि प्रदर्शकोऽयं मन्यते। अत्र प्रबोधचन्द्रोदये स्वशिष्यान्यतमस्य कस्यचन मन्दमतेः शिक्षायैः श्रीकृष्णमिश्रोऽमूर्तान्, धर्मादिभावान् मूर्तमानवभावेन परिकल्पसरसया शैल्या अद्वैतमतप्राधान्यं प्रदर्शितवान्।

वस्तुतः कृष्णमिश्रविरचितस्य प्रबोधचन्द्रोदयनाटकस्य अन्तर्निहितं तात्पर्य्यं तावत् वैष्णवधर्मानुसृत्य अद्वैतवेदान्ततत्त्वस्य प्रतिपादनम्। विष्णुभक्तेरपारा करुणा एव वद्धजीवस्य संसारमुक्तेः कारणम्। तस्यां करुणाधारायां विशोधिते जीवचित्ते औपनिषदिकज्ञानस्य यथार्थवोधे समुत्पन्ने जीवस्तस्य सच्चिदानन्दमयं स्वकीयं स्वरूपमुपलब्धो समर्थो भवति। अस्मिन् यथार्थज्ञानमार्गे विद्यन्ते विविधाः प्रतिबन्धकताः। तेष्वन्तरायेषु वेदविरोधिदार्शनिकमतानि विशिष्टतामवगाहन्ते। तदर्थं नाट्यकारेण कृष्णमिश्रेण नाटकस्य द्वितीयाङ्के महामोहस्य सहायकरूपेण उपस्थापितानि चार्वाकमतानि। तृतीयाङ्केऽपि समुपस्थापिताः जैन-बौद्ध कापालिकसिद्धान्तः।

चार्वाकदर्शनम्

अवेदमूलकेषु दर्शनेषु चार्वाकदर्शनं प्राचीनतमम्। चार्वाकदर्शनस्यास्य प्रवक्ता आचार्यो वृहस्पतिरासीत्। अत एवेदं दर्शनं बार्हस्पत्यदर्शनमित्यपि गीयते। लोकायतदर्शनमिति चास्ति तदीयं नामान्तरम्। लोकेषु आयतम् अर्थात् विस्तृतम् इत्यर्थम्। चिरन्तनात् कालात्- अयं संसार एव आत्मनः क्रीड़ास्थलम्। नास्ति परलोकः। इदं शरीरमेव आत्मा मरणामेव मुक्तिः। यावदस्मिन् देहे सन्ति प्राणास्तावत् सुखलाभाय प्रयत्नः कार्यः। न धर्म पुरुषार्थः। मानवजीवने काम एव पुरुषार्थः - इत्यादिकानां चार्वाकसिद्धान्तानां प्रचारेऽस्मिन् देशे दृष्टो भवति। चार्वाकदर्शने प्रत्यक्षमेव प्रमाणरूपेण स्वीकृतम्। पृथिव्यप्तेजोवायुरिति भूतचतुष्ट्यस्य अतिरिक्तं किमपि तत्त्वमस्मिन् दर्शने न स्वीकृतम्। चतुर्नाम् एतेषां समवायेन चैतन्यमुत्पद्यते। एतेषां विश्लेषणेन चैतन्यं विनश्यति। चैतन्यस्वरूपात् देहातिरिक्त आत्मा एतैर्न स्वीकृतः। चार्वाकानां मतानुसारेण अर्थकामावेव पुरुषार्थौ। एतैः न स्वीकृतः परलोकः दशनान्तरेषु स्वीकृता मुक्तिः। एतेषां मतेन मरणादतिरिक्तं न किमपि। प्रबोधचन्द्रोदयनाटकस्य द्वितीयाङ्के चार्वाकदर्शनस्य ईदृशं

* सहायकाध्यापकः, संस्कृतविभागः, चाकदह-कॉलेज, नदिया, पश्चिमबङ्गः

तत्त्वं मोहामोहस्य वक्तव्ये उल्लिख्यते – "**सर्वथा लोकायतमेव शास्त्रं यत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्, पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि, अर्थकामौ पुरुषार्थौ भूतान्येव चेतयन्ते। नास्ति परलोकः। मृत्युरेवापवर्गः।**" (द्र. संस्कृत-साहित्यसम्भारः (६), (प्र. उप. गौरीनाथशास्त्री, पृ. ३१३)

एतेषां मतानुसारेण दण्डनीतिः एकैव विद्या। त्रय्याः विद्यात्वं नाङ्गीकृतमेतैः। वेदस्यानुशासनं मिथ्याभूतमिति चार्वाकानां समीपे वेदास्तु धूर्तप्रलापाः यज्ञे पशुहत्या मृतानां पूर्वपुरुषाणां कृते श्राद्धाद्यनुष्ठानादिकञ्च अयौक्तिकमेव। तथोक्तं चार्वाकेन –

निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तियदीष्यते।

स्वपिता यजमानेन किं नु कस्मान्न हन्यते।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, २.२०)

चार्वाकाः शब्दप्रमाणमपि न स्वीकुर्वन्ति। अत्रापि तद्वत् कारणमस्ति शब्दप्रमाणरूपा वेदाः यान् सिद्धान्तान् प्रतिपादयन्ति तेऽपि प्रत्यक्षफलदायकाः न दरीदृश्यन्ते। यथा 'स्वर्गकामो यजेत्' इति वेदवाक्यम्। ये जनाः स्वर्गमिच्छन्ति तैः ज्योतिष्टोमाख्याः यज्ञः विधेयाः। परन्तुयज्ञाफलं स्वर्गं कदापि प्रत्यक्षप्रमाणद्वारा नानुभवपथमायाति। अतः यज्ञानां निरर्थकत्वं सिद्धति। एतदर्थं चार्वाकेन चोक्तमपि –

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।

निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, २.२१)

अपि च पारलौकिकक्रियानां विफलतां प्रतिपादयन् चार्वाकेनोक्तं –

स्वर्ग कर्तृक्रियाद्रव्यविनाशे यदि यज्वनाम्।

ततो दावाग्निदग्धानां फलं स्याद् भूरि भूरुहाम्।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, २.१९)

अतः कर्ता तावत् परलोके फलभोक्ता क्रिया च फलदायिका द्रव्यञ्च परलोके दीयमान्, सुवर्णादीनां नाशे यदि पारलौकिको भोगः स्वर्गः स्यात् तर्हि दावाग्निदग्धानां वृक्षाणां भूरिफलं स्यात्। तद् यथा न सम्भवेत् तथैव स्वर्गफलादिकं मीमांसावचनं श्रुतिवचनं वा व्यर्थमिति भावः।

जागतिकं सुखमेव परस्य सेव्यमिति मन्यन्ते चार्वाकाः। एतेषां मतेन अग्निहोत्राद्यनुष्टानं वेदवाक्यं दण्डधारणं भस्मधारणञ्च प्रज्ञापौरुषहीनानां जनानां जीविकार्थं मिथ्याजल्पनारूपानि। ज्योतिष्टोमादीनां ज्ञानां विफलतां प्रतिपादयन् वृहस्पतिवचनमाश्रित्य चार्वाकेन शिष्यमुद्दिश्य तथोक्तं –

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुन्ठनम्।

प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, २.२६)

चार्वाकवादिनः ईश्वरस्यास्तित्वं नाङ्गीकुर्वन्ति। यतो हि ईश्वरज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणेन न सिद्धयति। एतेषां मते परलोकास्तित्वमपि नास्ति प्रमाणाभावात्। अतः बुद्धिमज्जनाः अधिकाधिकसुखप्राप्त्यर्थं सर्वदा प्रयत्नशीलाः भवन्तु। यद्यपि सुखं दुःखसम्पृक्तं भवति तथापि सुखत्यागः न करणीयः। सुखप्राप्ति एव मोक्षप्राप्तिः। वस्तुतः अङ्गनालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। दुःखभयात् अनुकूलवेदनीयं सुखं हेयकोटिं न याति, अपि तु ग्राह्यकोटिमेव। कन्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः। अतएव– "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।" (इति श्रीमत्सायणनमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे) इत्यस्य दर्शनस्याधारभूतो सिद्धान्तः। प्रबोधचन्द्रोदयस्य द्वितीयाङ्केऽपि चार्वाकस्य वक्तव्ये अनुरूपमतं प्रतिध्वनितम् –

त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मुर्खविचारनैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, २.२३)

चार्वाकानां मते भौतिकप्रपञ्चस्य ज्ञानं प्रत्यक्षद्वारा एव समुपलभ्यते। जड़पदार्थाः चतुर्विधभूततत्त्वानां मेलनं उत्पन्नाः। आत्मतत्त्वस्यास्तित्वे किमपि प्रमाणं न दरीदृश्यते। प्राणिनां देहेषु चैतन्यो तु तथैव जायते यथा दधिगोमयसंयोगात् वृश्चिकानामुत्पत्तिः भवति। अस्य मते जीवशरीरयोः न कोऽपि वर्णभेदोऽस्ति– 'अहं स्थूलः, अहं रुग्न' – इत्यादयः विविधप्रयोगा इदं प्रमाणीकुर्वन्ति। विषयेऽस्मिन् महामोहस्य वक्तव्यं यथार्थम्–

तुल्यत्वे वपुषा मुखाद्यवयवैर्वर्णक्रमः कीदृशो।
योषेहं वसु चापरस्य तमुदं भेदं न विद्मो वयम्। (प्रबोधचन्द्रोदयः, २.१८)

वस्तुतः शरीरात्मनोः अभेदोऽस्ति। यदा भौतिकतत्त्वानां विशेषसम्मेलनं भवति तदेव शरीरस्य निर्माणं भवति। शरीरे चैतन्येऽपि सह एवायति। यथा ताम्वुलचर्वणेन रसेन साकं रक्तवर्णोऽपि समुत्पद्यते तत्वत् चैतनस्य उत्पत्तिः भवति।

जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते
तामूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्। (लोकायतिकपक्षप्रकरणम्, ७)

देहनाशे चैतन्योऽपि विनाशं प्राप्नोति। तथोक्तं महामोहेन –

आत्मास्ति देहव्यतरिक्तमूर्तिर्भोक्ता स लोकान्तरितः फलानाम्।
आशेयमाकाशतरोः प्रसूनात् प्रथीयसः स्वादुफलप्रसूतौ।।
(प्रबोधचन्द्रोदयः, २.१६)

इदं च स्वकल्पनाविनिर्मितपदार्थावष्टम्भेन जगदेवं दुर्विदग्धेर्वञ्च्यते। तथाहि –

यन्नास्त्येव तदस्ति वस्त्विति मृषा जल्पद्भिरेवास्तिकै–
र्वाचालैर्वहुभिस्तु सत्यवचसो निन्द्याः कृता नास्तिकाः।
हंहो पश्यत तत्त्वतो यदि पुनश्चिन्नादितो वर्ष्मणो
दृष्टः किं परिणामरूपितचितेर्जीवः पृथक्कैरपि।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, २.१७)

चार्वाकमते स्वर्गनरकादिविषयिकी कल्पना मिथ्याभूता। मीमांसादयः कथयन्ति यत् मानवजीवनस्य परमलक्ष्यत्वेन सन्ति स्वर्गादयः पुण्यलोकाः। स्वर्गादिषु लोकेषु महानानन्दाः प्राप्नुवन्ति जनाः। चार्वाकाः उत्तरयन्ति परलोकसुखादयानामस्तित्वं केवलं विश्वासावलम्वितमस्ति। परलोकस्तित्वे किमपि प्रमाणं नावगम्यते। अतः चावाकैरुक्तम् –

न स्वर्गो नापवर्गो नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।।

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भष्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः।।

(इति श्रीमत्सायनमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे)

एवं चार्वाकदर्शनस्य सारमुपस्थापितं नाट्यकारेण श्रीकृष्णेण।

जैनदर्शनम्

जैनदर्शनं प्राधान्येन आचारविचाराणां प्रतिपादकं परिपोषकञ्च दर्शनमस्ति। दर्शनमिदं प्राक् 'निगन्ठ' इत्यनेन व्यवह्रियते स्म। निगन्ठशब्दो ग्रन्थान्निगर्तो निर्गन्थ इति संस्कृतशब्दस्य पालिभाषायां रूपान्तरम्। दर्शनेऽप्र सिद्धपुरुषाः 'अर्हत' शब्देनाभिधीयन्ते। अत एवेदं दर्शनमर्हतदर्शनमुच्यते। महावीरेण रागादिरिपवो जिता इत्यसौ जिनशब्देनोक्तस्तदीयतया दर्शनमिदं जैनदर्शननाम्नाप्यभिहितम्।

जैनदर्शनं पुरातनतरं दर्शनमस्ति। एतदीयानां सिद्धान्तानां प्रवर्तक ऋषभदेव आसीत्। जैनदर्शनस्य प्रवर्तकत्वेन प्रख्याताः तीर्थङ्करशब्दवाच्याः चतुर्विंशतिसंख्याकाः महापुरुषाः अभूवन्। तत्र वर्धमानो महावीर एव जैनानामन्तिमः तीर्थङ्कर आसीत् इति निश्चितो वर्तते। जैनसमाजे ब्रह्मचर्यादिनियमानां पालनं दृढ़ढतया क्रियते। किन्तु विषयेऽस्मिन् दलद्वयमभूत्। एके जैना दिगम्बरा अभूवन् अन्य च श्वेतम्बराः।

प्रबोधचन्द्रोदयनाटके दिगम्बरचरित्रनाम्ना जैनसिद्धान्तम् उपस्थाप्यते। पुनश्च एवेदं क्षपणक इत्यनेनाभिधीयते। यद्यपि क्षपणक इत्यनेन नितरां बौद्धभिक्षुकमुच्यते तथाप्यत्र नाट्यकारेण श्रीकृष्णेण जैनमतं दिगम्बरक्षपणकनाम्ना उपस्थाप्यते। वस्तुतः प्रबोधनाटके जैनधर्मस्य दार्शनिकतत्त्वमतं पूर्णाङ्गतया नोपस्थाप्यते। कविनात्र स्वकीयमतवादप्रतिष्ठाकल्पेविभिन्ननास्तिकदर्शनस्य मूलमतं लघुरूपेण प्रसङ्गक्रमेण उपस्थाप्यते। यथा तृतीयाङ्के जैनदिगम्बरस्य प्रवेशकाले तस्य वक्तव्ये जैनधर्मस्य मूलमतादर्शं परिस्फुटितम्–

"ॐ नमोऽर्हभ्यः। नवद्वारपुरीमध्ये आत्मा दीप इव ज्वलति। एष जिनवरभाषितः परमार्थोऽयं मोक्षसुखदः। अरेरे श्रावकाः, शृणुध्वम् –

मलमयपुङ्गलपिण्डे सकलजलैरपि कीदृशी शुद्धिः।
आत्मा विमलस्वभावः ऋषिपरिचरणैर्ज्ञातव्यः।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.५)

Prostrations to Arhata. The self shines like a lamp in the middle of the town of nine gates (the body). This is the truth uttered by the great Jina. This is the giver of happiness in the form of liberation. (Walks) (In the air) Listen, oh Disciples!

With all the waters how can the lump of impure matter (body) be purified? The self which is of pure nature is to be known through the service of sages.

(Prabodhacandrodaya of Kṛṣṇa Miśra: Dr. Sita K. Nambiar, 3rd Act. Page- 67)

प्रकृतया तस्य दैहिकविवरणं युगपत् हास्यं भवञ्च जनयति। उत्पादितकेशस्य परित्यक्तवसनस्य जैनसिद्धान्तस्य सर्वाङ्गं मललिप्तं पूतिगन्धमयञ्च। दर्शनमात्रेणानुमीयते यत् सहसा कोऽपि नारकी नरकात् समुत्थित इव। नाट्यकारः तस्योक्तौ जैनदर्शनस्य सिद्धान्तं प्रकाशितवान्। जैननये आत्मा नित्यः अपरिणामी

च। बौद्धानामिव एतेऽपि आत्मनः क्षणभङ्गवादे विश्वसन्ति। तथोक्तं क्षपणकेन बौद्धभिक्षुकं प्रति – 'भण तावत् क्षणविनाशिना त्वया कस्य कृते इदं व्रतं धार्य्यते?' (द्र. संस्कृत–साहित्यसम्भारः (६), (प्र. उप. गौरीनाथशास्त्री, पृ. ३२४)

जैनक्षपणकाः अहमस्य सर्वज्ञत्वं स्वीकुर्वन्ति। ग्रहणक्षत्रादीनां गतिः, सूर्यचन्द्रयोः ग्रहणम्, अपहृतद्रव्यानां प्राप्तिरित्यादेः सर्वविधसा ज्ञानस्य आधारभूतो जैनधर्मप्रवर्तकः अर्हत् सर्वज्ञः। आत्मनः स्वरूपपरिज्ञानार्थं ऋषिपरिचर्या नितरामपेक्षते। अस्या ऋषिपरिचर्यायाः प्रकारविषये क्षपणकस्य वक्तव्यमिदम् –

दूरे चरणप्रणामः कृतसत्कारं च भोजनं मिष्टम्।
ईर्ष्यामलं न कार्यमृषीनां दारान् रममाणानाम्।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, ३/६)

जैनदर्शनं त्रीणि मोक्षसाधनानि प्रतिपादयति–

(१) सम्यक्दर्शनम् (Right Faith)

(२) सम्यग्ज्ञानम् (Right Knowledge)

(३) सम्यक् चरित्रम् (Right Character)

दर्शनमित्येतत् पदं श्रद्धावाचकम्। तीर्थङ्करप्रतिपादितेषु शास्त्रेषु अगाधानवच्छिन्ना श्रद्धापेक्ष्यते। श्रद्धा साध्यप्राप्तौ साधकं भृशमुपकरोति। अतः सापेक्ष्यते। साध्यलाभाय शास्त्रवर्णितसिद्धान्ततत्त्वानाञ्च गम्भीरानुभूतेरपेक्षास्ति। अतः सम्यग् ज्ञानमस्ति सम्यग्दर्शनमिवोपादेयम्। सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य च चरितार्थता सम्यक् चारित्रेणैव सम्पन्ना भवति तस्मात् तदपि ग्राह्यम्। एतानि त्रीणि साधनानि जैनदर्शने रत्नत्रयमित्येतेन नाम्ना प्रथितानि सन्ति। विषयेऽस्मिन् नाट्यकारस्याभिमतं यथा– एतानि मोक्षसाधनानि अधुना विलुप्तानि। यतः शैवकापालिकद्वारेण जैनसिद्धान्तं विध्वस्तम्। नाट्यकारेण नाटकीयभावेन तदत्र उन्मोच्यते। बौद्धभिक्षुराह –

''आः पाप, स्वयं नष्टः परानपि नाशयितुमिच्छसि।
म्वाराज्यं प्राज्यमुतसृज्य लोके निन्द्यामनिन्दितः
अभिवाञ्छति को नाम भवानिव पिशाचताम्।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.१०)
अपि च, आर्हतमपि धर्मवेदनं कः श्रद्धधाति।''

(द्र. संस्कृत–साहित्यसम्भारः (६), (प्र. उप. गौरीनाथशास्त्री, पृ. ३२५)

जीवो यद्यपि निसर्गतो मुक्तः परं वासनाजन्यकर्मणि तदीयशुद्धं रूपमावृत्य तिष्टन्ति। अपि च जैनदर्शनं इन्द्रियजयस्योपरि गुरुत्वं प्रदर्शयति। नाट्यकारेण जैनधर्मस्य अवलुप्तिप्रदर्शनार्थं जैनदिगम्बरवक्तव्यमाध्यमेनोक्तम्–

अयि पीनघनस्तनशोभने परित्रस्तकुरङ्गविलोचने।
यदि रमसे कापालिनीभावैः श्रावकाः किं करिष्यन्तीति ।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.१९)

''अहो कापालिकदर्शनमेवैकं सौख्यमोक्षसाधनम्। भो कापालिक, अहं तव साम्प्रतं दासः संवृत्तः। मामपि महाभैरवानुशासने दीक्षय।'' (द्र. संस्कृत–साहित्यसम्भारः (६), (प्र. उप. गौरीनाथशास्त्री), पृ. ३२८)

बौद्धदर्शनम्

जैनदर्शनमिव बौद्धदर्शनमाचारशास्त्रमेव वर्तते। कालानुसारतः बौद्धदर्शनं जैनदर्शनादुत्तरकाले प्रचारितमभवत्। धर्मस्यास्य प्रवर्तक आसीत् गौतमबुद्धः। वाल्यकालेऽयं सिद्धार्थ इत्यनेन नामधेयेन प्रथितो वभूव। युवावस्थायामेव सः प्राव्राजीत्। स प्राप्ते सति पूर्वज्ञाने स्वबुद्ध्यां प्रकाशितस्य प्रकाशस्य प्रमारं संसारे सर्वत्र चकार। परवर्तीकाले तस्य प्रियशिष्यत्रयमाध्यमेन पालीभाषायामुपदेशसमूहाः निबन्धाः। ते हि ग्रन्थाधिपिटकाख्यया सन्ति प्रख्याताः। ते सन्ति त्रयः - (१) विनयपिटकः (२) सुत्तपिटकः (३) अभिधम्मपिटकः। सदाचारविषयकानियमा विनयपिटके, सदृष्टान्तोपदेशाः सुत्तपिटके, अभिधम्मपिटके च दार्शनिकाविषयाः सन्ति संकलिताः।

बौद्धदर्शनस्य प्रधानविषयाः खलु रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारनामकस्कन्धपञ्चकमेवात्मा न तदन्यः। सोहयं बौद्धानां नेरात्म्यवादो मिलिन्दप्रश्ने साधु निरूपितः। बौद्धानां मते जीवो जगच्चेत्युभयमपि अनित्यं प्रतिक्षणपरिणामशालि च। यथा दीपशिखाऽनुपलं परिणमन्तो अपि एकैव प्रतीयते तथैव जीवा जगच्च परिणमति। प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावाः। समानेनैव प्रकारेण नाट्यकारेण उपस्थापितं बौद्धदार्शनिकानामीदृशं मतम्। बौद्धभिक्षुरस्य दर्शनस्य प्रतीकरूपेण मञ्चे समुपस्थापितः। तस्य मतानुसारेण सर्वे भावविषयाः क्षणभङ्गुराः निराकाराश्च, सर्वे संस्काराः क्षणस्थायिनः, आत्मा नास्तीति। अतो दारासक्तान् भिक्षुजनान् प्रति ईर्ष्याभावपोषणमनुचितम्। यतः ईर्ष्या हि चित्तस्य मलस्वरूपा। तथोक्तं भिक्षुकेन -

सर्वे क्षणक्षयिण एव निरात्मकाश्च यत्रापिर्ता वहिरिव प्रतिभान्ति भावाः।
सैवाधुना विगलिताखिलवासनत्वाद्धीसन्ततिः स्फुरति निर्विषयोपरागाः।।

(प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.८)

अत्र बौद्धभिक्षुकमाध्यमेन बौद्धदर्शनस्यानित्यवादं प्रकाश्यते। अपि च नाट्यकारेण दिगम्बरेण सह भिक्षोः कथोपकथनमाध्यमेन क्षणिकवादस्य सारता सूचिता -

"क्षपणकः - भण तावत्क्षणविनाशिना त्वया कस्य कृते इदं व्रतं धार्यते।

भिक्षुः - अरे श्रुयताम्। अस्मत्सन्ततिपतितः कश्चिद्विज्ञानलक्षणः समुच्छिन्नवासनो मोक्ष्यते।

क्षपणकः - अरे मूर्ख, कस्मिन्नपि मन्वन्तरे कोऽपि मुक्तो भविष्यति। ततस्ते साम्प्रतं नष्टस्य कीदृशमुपकारं करिष्यति अन्यच्च पृच्छामि। केन ते ईदृशो धर्म उपदिष्टः।" (द्र. संस्कृत-साहित्यसम्भारः (६), (प्र. उप. गौरीनाथशास्त्री, पृ. ३२४)

बौद्धमतमवलम्ब्य असारसंसारवासनायाः विमुक्ते सति यथार्थज्ञानस्य उदयो भवति। वौद्धभिक्षुजैन-क्षपणकयोर्विवादावसरे भिक्षुः बौद्धदर्शनस्य सारं उद्घोषयति -

ज्ञातुं वपुः परिमितः क्षमते त्रिलोकीं
जीवः कथं कथय सङ्गतिमन्तरेण।
शक्नोति कुम्भनिहितः सुशिखोऽपि दीपो
भावान् प्रकाशयितुमप्युदरे गृहस्य ।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.८)

वस्तुतः ज्ञानोदयात् अस्मात् मुक्तिः सम्भवति। मतानुसारेणानेन इहलोकविरुद्धात् परलोकविरुद्धाः

अर्हत्मतात् बौद्धमत एव श्रेयः।

बौद्धदर्शनस्यानुसारेण दुःखनिरोधायाष्टाङ्गमार्गस्य अनुसरणमनिवार्यो भवति। बौद्धधर्मस्य सारोऽयम्। तदर्थञ्च साधकैः निम्नांकितानां नियमानां पालनं कर्तव्यम्। ते च नियमाः सन्ति इमे –

(१) सम्यक् दृष्टिः (२) सम्यक् संकल्पः

(३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्मान्तः

(५) सम्यक् जीवः (६) सम्यग् व्यायामः

(७) सम्यक् स्मृतिः (८) सम्यक् समाधिः च।

अष्टाङ्गिकमार्गेषु चतुर्थं हि सम्यक् कर्मान्तः। सम्यक् संकल्पस्य कर्मणि परिणमनमहिंसाऽस्तेयेन्द्रिय-संयमानामनुष्ठानं च 'सम्यक् कर्मान्तः' इत्युच्यते। प्रबोधचन्द्रोदयस्य नाटकस्य तृतीयाङ्के कापालिकं प्रति बौद्धभिक्षोरुक्तिमाध्यमेन बौद्धधर्मस्याष्टाङ्गमार्गस्य क्षीणाभासं प्राप्यते – "महाभाग, अश्रद्धेयमेतदवीतरागस्य मुक्तिरिति।" (द्र. संस्कृत-साहित्यसम्भारः (६), (प्र. उप. गौरीनाथशास्त्री, पृ. ३२७)।

अतोऽत्र कविना बौद्धदर्शनस्य मौलिकतत्त्वमत्यन्तं नाटकीयशैल्या परिसूच्यते। अपि चाभीष्वसिद्धिकल्पे बौद्धधर्मस्य विलुप्तिरपि प्रकाश्यते नाट्यकारेण – "भिक्षुः – आचार्य, महाश्चर्यमेतद् दर्शनम्। यत्राक्लेशमभिमतार्थसिद्धयः सम्पद्यन्ते।" (द्र. संस्कृत-साहित्यसम्भारः (६), (प्र. उप. गौरीनाथशास्त्री), पृ.३२९)।

कापालिकसम्प्रदायः

वैष्णवीयभक्तिसमन्वितवैदान्तिकाद्वैतवादप्रतिष्ठाकल्पे कापालिकसम्प्रदायस्य बहुलतथ्यं नाट्यकारेण श्रीकृष्णेण प्रकाश्यते। नाटकस्य तृतीयाङ्के मञ्चे समुपस्थापितः कापालिकसम्प्रदायस्य सोमसिद्धान्तः। 'जगन्मिथौ भिन्नमभिन्नमीश्चरात्' कापालिकस्य उक्तावस्यामव गम्यते यत् कापालिकसम्प्रदायः भेदाभेदस्योपरि प्रतिष्ठिते अद्वैतवादे आस्थावानिति। सुखमन्तरेण मोक्षो नाभीष्ट इत्येतेषामभिमतम्। मोक्षलाभार्थं सुरापानमावश्यकम्। मुक्तः पुरुष इन्द्रियभोग्यं विषयं प्रति आसक्तोऽपि विभवस्य अष्टमहासिद्धेश्च अधिकारी भवति। कापालिक आह–

"नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः श्मशानवासी नृकपालभोजनः।
पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात्।।"

(प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.१२)

प्रसङ्गेऽस्मिन् प्रकाशटीका सुन्दरतयालोचिता– "कीदृशं जगत्? मिथोहन्योन्यं भिन्नं पुनरीश्वरादभिन्नं यथा मुद्रिकाकङ्कणादेः परस्परभेदेऽपि सुवर्णादभिन्नता तथेत्यर्थः।" (द्र. प्रबोधचन्द्रोदयः, (सम्पा. डॉ. अनिलचन्द्रवसु, पृ. १०२)

नाटकेऽस्मिन् कापालिनी श्रद्धापि समुल्लिखिता। श्रद्धेयं राजसी। सा बौद्धभिक्षुं जैनक्षपणकं च समालिक्ष्य तावुभावेव सुरापाने प्रवृत्तौ चकार। तथोक्तं कापालिकेन –

दृष्टं क्वापि मुखं विना न विषयैरानन्दवोधोज्झिता
जीवस्य स्थितिरेव मुक्तिरूपलावस्था कथं प्रार्थ्यते।

पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो
मुक्तः क्रीडन्ति चन्द्रचूड़वपुरित्यूचे मृड़ानीपतिः।।

(प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.१६)

Nowhere is happiness seen without objects of pleasure. If liberation is a stage of the self without the experience of pleasure, how can a state equal to that of a stone be desired? Mṛḍānīpati (Śiva) has said that the liberated one having a body (equal to that of Śiva whose body is decorated) with the crest-ornament of the moon, enjoys the pleasant embrace of his beloved who is an image of Pārvatī.

(Prabodhacandrodaya of Kṛṣṇa Miśra: Dr. Sita K. Nambiar, 3rd Act. Page- 79)

तदनन्तरं कापालिकः तस्य धर्मस्य महिमाप्रचारावसरे ईश्वरस्य वहुत्ववादं व्यक्तम्। तथोक्तं कापालिकेन–

''दर्शयामस्तर्हि धर्मस्यास्य महिमानम्।
हरिहरसुरज्येष्टश्रेष्ठान्सुरानहमाहरे
वियति वहतां नक्षत्राणां रुणध्मिगतीरपि।
सनगनगरीमम्भः पूर्णां विधाय महीमिमाम्
कलय सकलं भूयस्तोयं क्षणेन पिवामि तत्।।'' (प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.१४)

वस्तुतः नाट्यकारेणात्र कापालिकसम्प्रदायस्य व्यभिचारस्य चित्रं निगद्यते। उपदेशतया कापालिकस्य माध्यमे कवैवार्ता खलु –

इदं पवित्रममृतं पीयतां भवभेषजम्।
पशुपाशसमुच्छेदकारणं भैरवोदितम्।। (प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.२०)

अवश्यमेव कापालिकस्य मतानुसारतः –

अत्रानुज्झितचक्षुरादिविषयासङ्गेऽपि सिध्यन्त्यमू–
रत्यासन्नमहोदयाः प्रणयिनाप्यष्टौ महासिद्धयः।
वश्याकर्षविमोहनप्रशमनप्रक्षोभणोच्चाटन–
प्रायाः प्रातसिद्धयस्तु विदुषां योगान्तरायाः परम् ।।

(प्रबोधचन्द्रोदयः, ३.२२)

एवं नाट्यकारेण कृष्णमिश्रेण, अद्वैतवेदान्ततत्त्वप्रतिष्ठाव्यापारे अन्तरायस्वरूपानाम् एतेषां वेदविरोधिदार्शनिकसम्प्रदायानां मूलतत्त्वानि। संश्लिष्टदर्शने विश्वासिनां नाटकीयपात्राणामुक्तिद्वारेनैव समुपस्थापितानि।

Bibliography

- Bandyopadhyay, Dhirendranath, *Saṁskṛta Sāhityera Itihāsa,* Paścimabaṁga Rājya

Pustaka Parṣada, Kolkātā, October, 2000/b.

- Bhattacharjee, Amit. *Chārvāka Darśana,* Saṁskṛt Pustaka Bhāndāra, Kalikātā, 2006.
- Chakraborty, Niradbaran. *Bhāratīya Darśana*, Datta Pābliśārs, Kolkātā, 2010.
- Dasgupta, Surendranath. *A History of Indian Philosophy.* Motilāl Banārsidās, Delhi, 1975.
- Kṛṣṇamiśra, *Prabodhacanndrodaya*, Ed. Dr. Anil Chandra Basu, Saṁskṛta Pustaka Bhāndāra, Kalikātā, 2013.
- Kṛṣṇamiśra, *Prabodhacanndrodaya*, Ed. F. A. Brock haus, Lipsiae, 1845.
- Kṛṣṇamiśra, *Prabodhacanndrodaya*, Ed. Tripathishastri Ramnatha, With Kalyani Sanskrit Hindi commentaries, 1977.
- Kṛṣṇamiśra, *Prabodhacanndrodaya*, Ed. Sri Ramchandra Mishra, Chaukhāmbā Vidyā Bhawan, Banaras, 1955.
- Kṛṣṇamiśra, *Prabodhacanndrodaya*, with commentaries Candrikā and Prakāśa Ed. Basudeva Sharma, Bombay Pāndurangajāmany, 1935.
- Chattopadhyay, Deviprasad. *Lokāyata Darśana.* New Age Publishers PVT LTD, Kolkātā, 1956.
- Mishra, Jagadishchandra. *Bhāratīya Darśana.* Chaukhāmbā Surbhāratī Prakāshana, Vārānasī, 2015.
- Nambiar, Sitakrishana, *Prabodhacanndrodaya of* Kṛṣṇa Miśra, *(Sanskrit Text with English Translation, a critical introduction and Index*). Motilāl Banārsidās, Delhi, 1971.
- Sastri, Dakshinaranjan. *Chārvāka Darśana.* Paścimabaṁga Rājya Pustaka Parṣada, Kolkātā, 1982.
- Sastri, Gaurinatha (Chief Ed.). *Saṁskṛta Sāhitya Saṁbhāra* (Vol-6), Nabapatra Prakāśana, Kolikātā, 1979.
- Sastri, Panchanan, *Chārvāka -Darśanam,* Saṁskṛta Pustaka Bhāndāra, Kalikātā, 1394.
- Taylor, J. *Prabodh Chandrodaya, or The Moon of Intellect: An Allegorical Drama and Atma Bodh, or The Knowledge of Spirit.* B. L. Doss, 1811.

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

उपसर्गार्थचन्द्रिकानुसारं परापूर्वक-मृश-आमर्शने-धातोः प्रयोगविमर्शः

नित्यानन्दमान्ना*

१. उपोद्घातः

व्याकरणपरम्परासु पाणिनीयव्याकरणपरम्परा सुप्रसिद्धा विद्यते। पतञ्जलिमहर्षिणा माहाभाष्ये पश्पशाह्निके प्रतिपादितम् प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्। पाणिनिमहर्षिकृताष्टाध्यायां सूत्रम् विद्यते भूवादयो धातवः (पा.सू .१.३.१)। धातुपाठे भू -आदिशब्दाः धातुसंज्ञकाः भवन्ति। धातुपाठे धातवः तेषाम् अर्थाः निरूपिता विद्यते। उपसर्गयोगेन पुनः धातुनाम् अर्थः भिद्यते। तथाहि -

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्।।

२. ग्रन्थपरिचयः

व्याकरणवाङ्मये सुप्रसिद्धेन वैयाकरणेन श्रीचारुदेवशास्त्रिणा प्रणीता उपसर्गार्थचन्द्रिका इति कश्चन सुप्रसिद्धः अभूतपूर्वः शोधमूलकग्रन्थः। अस्मिन् ग्रन्थे उपसर्गयोगेन एकस्यैव धातोः एकेनैवोपसर्गयोगेन बहवः अर्थाः सम्भवन्ति इत्यत्र समग्रसंस्कृतवाङ्मयतः प्रयोगाः दर्शिताः। तेषामर्थश्च निरूपितः।

३. ग्रन्थकर्तृपरिचयः

वाक्यपदीयस्य संस्कर्त्रा श्रीगान्धिचरितम्, अनुवादकला, प्रस्तावतरङ्गिणी, शब्दापशब्दविवेकः, वाक्यमुक्तावली, व्याकरणचन्द्रोदयः, वाग्व्यवहारादर्शः इत्यादीनाम् अनेकेषां ग्रन्थानां निर्मात्रा व्याकरणमहाभाष्यस्य विवरित्रा श्रीरामकृष्णतनुजनुषा श्रीचारुदेवशास्त्रिणा प्रणीता उपसर्गार्थचन्द्रिका। ग्रन्थकारस्य १८९६ ईशवीयाब्दे जन्म, स्वर्गप्राप्तिः च १९८७ ईशवीयाब्दे अभवत्।

५. शोधकार्यस्य प्रयोजनम्

उपसर्गयोगेन धातोः अर्थभेदे जाते तस्य धातोः कस्मिन् अर्थगणे पाठः स्यात् इति विषये अयं शोधः। एतेन तेषां सोपसर्गाणां धातूनां कारकाङ्क्षाया निर्णये अपि सौकर्यं स्याद् इति वयं मन्यामहे। अस्मद्दृष्टेषु ग्रन्थेषु कुत्रचिदपि उपसृष्टधातूनाम् अर्थगणनिरूपणं न लक्षितम्। तस्मादेव विषयेऽस्मिन् शोधकार्यं चिकीर्षते। शोधप्रबन्धेऽस्मिन् आर्थिकदृष्ट्या उपसृष्टधातूनां अर्थगणः निरूप्यते।

६. परापूर्वक-मृश-आमर्शने-धातोः विविधप्रयोगविमर्शः

ग्रन्थकारैः परापूर्वक-मृश-आमर्शने-धातोः ये प्रयोगाः दर्शिताः। अर्थगणानुसारम् ते क्रमशः

* गवेषकः, रामकृष्णमिशन्-विवेकानन्दशैक्षणिकशोधसंस्थानम् बेलुड मठ, हावडा, पश्चिमबङ्गः

आलोच्यन्ते।

६.१. अनादरार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम्- तपःपरामर्शविवृद्धमन्युः (कु. ३.७१) इति। ग्रन्थकारैः परामृशत् पदस्यार्थः लिखितः - तपःपरामर्शः तपस आस्कन्दनम्, तपश्चर्याया धर्षणम्। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः आस्कन्दनम्, अर्थगणश्च अनादरार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

६.२. ग्रहणार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम्- याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत (भा. वन.१४१.४)। इति। सम्पूर्णः श्लोकः तावत् -

तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम्।
याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत।। (भा. वन.१४१.४)

ग्रन्थकारैः परामृशत् पदस्यार्थः लिखितः - परामर्शः केशेषु ग्रहणम् इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः केशग्रहणम्। अर्थगणश्च ग्रहणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम्- परामृशन् हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् (रघु. ३.६८)। इति। गदामाशु परामृशत् (भा. द्रोण. १७७.४३)। इति। सम्पूर्णश्लोकद्वयं तावत् -

तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः।
परामृशन् हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम्।। (रघु. ३.६८)
तद्दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रस्य घोरं कर्म भयावहम्।
भीमसेनः प्रहृष्टात्मा गदामाशु परामृशत्।। (भा. द्रोण. १७७.४३)

ग्रन्थकारैः परामृशत् पदस्यार्थः लिखितः - परामृशत् अगृह्णात् इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ग्रहणम् अर्थगणश्च ग्रहणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम्- अथ शक्तिं परामृशत् (भा. द्रोण. १४०.६५)। इति। सम्पूर्णः श्लोकः तावत्-

स विधन्वा महाबाहुरथ शक्तिं परामृशत्।
तां व्यवासृजदाविध्य क्रुद्धः कर्णरथं प्रति।। (भा. द्रोण. १४०.६५)

ग्रन्थकारैः परामृशत् पदस्यार्थः लिखितः - अगृह्णादित्यर्थः। केशपरामर्शः कचग्रहः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ग्रहणम् अर्थगणश्च ग्रहणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम्- अश्वं च तं परामृश्य विषयान्ते विषोपमाः (भा.अश्व.७७.३)। इति। सम्पूर्णः श्लोकस्तावत् -

अश्वं च तं परामृश्य विषयान्ते विषोपमाः।
न भयं चक्रिरे पार्थाद्भीमसेनादनन्तरात्।। (भा. अश्व. ७७.३)

ग्रन्थकारैः परामृश्य पदस्यार्थः लिखितः - परामृश्य गृहीत्वा। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ग्रहणम् अर्थगणश्च ग्रहणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः मालविकाग्निमित्रात् उदाहरणं प्रदत्तम् – मदनव्याधिना परामृष्टोऽसि। इति। परामृष्टः पदस्यार्थः लिखितः– परामृष्टः स्पृष्टः गृहीतः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ग्रहणम् अर्थगणश्च ग्रहणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् – मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा (भा.वि. ३३.१२) इति। सम्पूर्णः श्लोकः तावत् –

मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा।

तं मोक्षय महाबाहो न गच्छेद्द्विषतां वशम्।। (भा. वि. ३३.१२)

ग्रन्थकारैः परामृष्टपदस्यार्थः लिखितः– परामृष्टो गृहीतः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ग्रहणम् अर्थगणश्च ग्रहणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् –

स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः।

आक्षिप्य केशान्वेगेन बारुोर्जग्राह पाण्डवम्।। (भा. वि. २२.५२)

ग्रन्थकारः परामृष्टः पदस्यार्थः लिखति– उक्तोऽर्थः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ग्रहणम् अर्थगणश्च ग्रहणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् –

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्।

धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप।। (रा. १.७६.१७)

परामर्शपदस्यार्थः लिखति – परामर्शो ग्रहणाकर्षणादि। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ग्रहणार्थकः ग्रहणम् अथवा आकर्षणम् इति वक्तुं शक्यते।

६.३ ज्ञानार्थकः

ग्रन्थकारैः तर्कसंग्रहात् उदाहरणं प्रदत्तम् – लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। इति। परामर्शः इति पदस्यार्थः लिखितः – परामर्शो ज्ञानम्। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ज्ञानम् अर्थगणश्च ज्ञानार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः ब्रह्मसूत्रस्य शाङ्करभाष्यात् उदाहरणं प्रदत्तम् – तदित्यनेन प्रकृतं ब्रह्म परामृश्यते। इति। परामृश्यते इति पदस्यार्थः लिखितः – परामृश्यते बुद्धिस्थं क्रियते। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः बुद्धिस्थकरणम् अर्थगणश्च ज्ञानार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

६.४ ध्यानार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् – ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति (का.प्र.१)। इति। परामृशति इति पदस्यार्थः लिखितः– मनसा ध्यायति चिन्तयतीत्यर्थः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ध्यानम् अथवा चिन्तनम् इति अर्थगणश्च ध्यानार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

६.५ निन्दार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् – इदमा प्रकान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतदद:शब्दाभ्यां वा परामर्शो युक्तो न तच्छशब्देन (सा. द.)। इति। कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान् परामृशेत् (रा. ३.५०.६)। इति।

सम्पूर्णः श्लोकः तावत् -

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान् परामृशेत्।

रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबल।। (रा. ३.५०.६)

ग्रन्थकारैः परामृशेत् इति पदस्यार्थः लिखितः - दूषयेदित्यर्थः। तेन उपसृष्टधात्वर्थः दूषणम् इति, अर्थगणश्च निन्दार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः दशकुमारचरितस्य अष्टमोच्छासात् उदाहरणं प्रदत्तम् - प्रमत्त एष राजा कलत्राणि नः परामृशति। परामृतशति इति पदस्यार्थः लिखितः- तेषु सहसा प्रवर्तते, तानि दूषयतीत्यर्थः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः दूषणम् इति, अर्थगणश्च निन्दार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

६.६ बन्धार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् - न भीतो न परामृष्टो नापयातो न वर्जितः। नाशस्त्रोऽप्यवमन्तव्यः... (तन्त्रा. ३.१३)। इति। सम्पूर्णः श्लोकः तावत् -

न भीतो न परामृष्टो नापयातो न वर्जितः।

नाशस्त्रोऽप्यवमन्तव्यो नैको वेति नयाधिकैः।। (तन्त्रा. ३.१३)

ग्रन्थकारैः परामृष्टः इति पदस्यार्थः लिखितः - परामृष्टः गृहीतः गृह्यकः बन्दिः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः ग्रहणम् इति, अर्थगणश्च बन्धार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

६.७ मन्थनार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् - हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् (भा. वन. ६८.१५)। इति। सम्पूर्णः श्लोकः तावत् -

विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहंगमाम्।

हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम्।। (भा. वन. ६८.१५)

ग्रन्थकारैः परामृष्टामिति पदस्यार्थः लिखितः - परामृष्टां विलोडिताम्। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः विलोडनम् इति अर्थगणश्च मन्थनार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

६.८ सङ्घातार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् - परस्परपरामर्शात्कुन्ताद्यायुधपङ्क्तयः (यो. वा. ६(२).१०८.४४)। इति। परामर्शः इति पदस्यार्थः लिखितः - परामर्शः सङ्घर्षः सङ्घट्टः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः सङ्घर्षः इति अर्थगणश्च सङ्घातार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् -

ईदृशे तु परामर्शे वर्तमानस्य माधव।

त्वदन्यो हि रणे गोप्ता विजयस्य न विद्यते। (भा. द्रो.११०.५४)। इति।

परामर्शः इति पदस्यार्थः लिखितः - उक्तोऽर्थः। विजयोर्जुनः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः सङ्घर्षः इति अर्थगणश्च सङ्घातार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

६.९ स्पर्शार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् – तात चूतकदम्बाग्रपरामर्शसुगन्धयः (यो. वा. ६.(२)।११४.२९)। इति। सम्पूर्णः श्लोकः तावत् –

तात चूतकदम्बाग्रपरामर्शसुगन्धयः।

वलयन्त्यब्धिकल्लोलान्गन्धमादनवायवः।। (यो. वा. ६.(२)।११४.२९) इति।

ग्रन्थकारैः परामर्शः इति पदस्यार्थः लिखितः – परामर्शः स्पर्शः। तेन उपसृष्टधात्वर्थः स्पर्शः इति अर्थगणश्च स्पर्शार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् – क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (योग. सू. १.२४) इति। अपरामृष्टः इति पदस्यार्थः लिखितः – अपरामृष्टः अस्पृष्टः अनास्कन्नः। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः स्पर्शः इति अर्थगणश्च स्पर्शार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

६.१० स्मरणार्थकः

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् – अतः प्रजारक्षणदक्षिणोऽसौ शस्त्रं शास्त्रं च परामर्मश (अवदा.जा. ८.१)। इति। सम्पूर्णः श्लोकः तावत् –

दुःखं सुखं वा यदभूत्प्रजानां तस्यापि राज्ञस्तदभूत्तथैव।

अतः प्रजारक्षणदक्षिणोऽसौ शस्त्रं च शास्त्रं च परामर्मश।। (अवदा. जा. ८.१)

ग्रन्थकारैः परामर्मश इति पदस्यार्थः लिखितः – परामर्मश जग्राह, चिन्तयामास। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः चिन्तनम् इति अर्थगणश्च स्मरणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् – किं भवितेति सशङ्कं पङ्कजनयना परामृशति (भामिनी. २.५३)। इति। परामृशति इति पदस्यार्थः लिखितः – परामृशति चिन्तयति। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः चिन्तनम् इति अर्थगणश्च स्मरणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

ग्रन्थकारैः उदाहरणं प्रदत्तम् –

क्व दृष्टा त्यागिता भिक्षोः कुतो वा तस्य सम्पदः।

परामर्मश नैवेति गतानुगतिको जनः। (राजत. ८.७९७)। इति।

परामर्मश इति पदस्यार्थः लिखितः – परामर्मश चिन्तयामास। इति। तेन उपसृष्टधात्वर्थः चिन्तनम् इति अर्थगणश्च स्मरणार्थकः इति वक्तुं शक्यते।

७. उपसंहारः

परापूर्वक–मृश–आमर्शने–धातोः ये अर्थाः उक्ताः ते तावत्– आस्कन्दनम्, केशग्रहणम्, ग्रहणम्, आकर्षणम्, चिन्तनम्, ज्ञानम्, दूषणम्, ध्यानम्, बुद्धिस्थकरणम्, विलोडनम्, सङ्घर्षः, स्पर्शः इत्यादयः। अस्मिन् शोधकार्ये उपसृष्टधातुनाम् अर्थगणनिर्धारणकाले धातूनामर्थगणनिरूपणम् इत्ययं शोधप्रबन्धः समाश्रितः। शोधप्रबन्धोऽयं २०१७ ईशवीयाब्दे रामकृष्णमिशन्–विवेकानन्दशैक्षणिकशोधसंस्थानस्य गवेषकैः विद्वद्भिः जयदेवदिण्डामहाभागैः विनिर्मितः। उपसर्गार्थचन्द्रिका इत्येनं ग्रन्थमाश्रित्य शोधकार्यं कर्तुं महत्सौभाग्यमवाप्तम्। अत्यद्भूतः अभूतपूर्वः उत्तमशोधपूर्णोऽयं ग्रन्थः। प्रकृतशोधकार्यस्य महदवसरः

प्राप्तः कार्यकरणेन स्वयं गौरवान्वितो समृद्धः सञ्जातः। एनं ग्रन्थमाश्रित्य बहूनि श्रेष्ठानि शोकार्याणि अपेक्षितानि सन्ति। उपसर्गार्थचन्द्रिकामाश्रित्य इतोऽपि बहूनां शोधकार्याणां महती अपेक्षा विद्यते।

।। इति शिवम् ।।

सङ्केताक्षर-सूची

१. अवदा. जा. - अवदानजातकमाला (आर्यशूरकृता)।
२. का. प्र. - काव्यप्रकाशः।
३. कु. - कुमारसम्भवम्।
४. तन्त्रा. - तन्त्राख्यायिका।
५. पा. सू. - पाणिनीयसूत्रम्।
६. ब्र. सू. शां. भा. - ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्।
७. भा. अश्व. - महाभारतम् (अश्वमेधपर्व)।
८. भा. द्रो. - महाभारतम् (द्रोणपर्व)।
९. भा. वन. - महाभारतम् (वनपर्व)।
१०. भा. वि. - महाभारतम् (विराटपर्व)।
११. भामिनी. - भामिनीविलासः।
१२. यो. वा. - योगवासिष्ठम्।
१३. योग. सू .- योगसूत्राणि।
१४. रघु. - रघुवंशम्।
१५. रा. - रामायणम्।
१६. राजत. - राजतरङ्गिणी।

परिशिलित-ग्रन्थसूची

- अमरसिंहः। २०१३। अमरकोषः (सुधाव्याख्यासमेतः)। पणशीकरः, वासुदेवलक्ष्मणशास्त्री (सम्पा.)। दिल्ली : चौखम्बा-संस्कृत-प्रतिष्ठान।
- पाणिनिः। २०१६। अष्टाध्यायी। पाण्डेयः, गोपालदत्तः (सम्पा.)। वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
- भट्टः, कौण्डः। २०१३। वैयाकरणभूषणसारः। द्विवेदी, चन्द्रिकाप्रसादः (सम्पा.)। दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
- भट्टः, नागेशः। २०१३। परमलघुमञ्जुषा। दाहाल, लोकमणि (सम्पा.)। वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
- भट्टः, नागेशः। २०१३। लघुशब्देन्दुशेखरः (प्रथमभागः)। बालशास्त्री (सम्पा.)। वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
- शास्त्री, चारुदेवः। १९९७। उपसर्गार्थचन्द्रिका (प्रथमभागः)। वाराणसी : भारतीय-विद्या-प्रकाशनम्।

परिशिलित-अन्तर्जालसूची

- **https://sa.wikisource.org.**
- **https://spokensanskrit.org.**
- **https://www.wisdomlib.org.**

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

प्रो. भागीरथिनन्दस्य जीवनपरिचयः कृतित्वश्च

सुनीलकाजलः*

संस्कृतभाषा विश्वस्य प्राचीनतमा वैज्ञानिकीभाषा वर्तते। संस्कृतभाषायाः साहित्यं विशालतमः कोशभण्डारोऽस्ति। साहित्येऽस्मिन् वेद-वेदाङ्गोपनिषद्-दर्शन-काव्यमीमांसा-ज्योतिषशास्त्रादीनां ग्रन्थानां वर्णनं विस्तारपूर्वकं प्रतिपादितम्। संस्कृतसाहित्ये काव्यस्य सुदीर्घपरम्परायाः ज्ञानं मानवजातेः सामाजिकं, धार्मिकं तथा वैज्ञानिकं महत्त्वं प्रतिपादयति। मुख्यतया अस्याः भाषायाः ज्ञानपरम्परा गद्य-पद्य-चम्पूकाव्येषु विभक्ता। अस्याः स्वरूपं प्राचीनसंस्कृतं, मध्यकालीनसंस्कृतं आधुनिकसंस्कृतं च सिद्धम्। आधुनिकसंस्कृतभाषायां वेदवेदाङ्गसम्मतं काव्यसम्मतं चाधुनिकग्रन्थानां लेखनं अबाधगत्या प्रचलति।

लौकिकसंस्कृतसाहित्यम् - लौकिकसंस्कृतसाहित्यं संस्कृतस्य द्वितीयं महत्त्वपूर्णभागं वर्तते। लौकिकसंस्कृतसाहित्यस्य प्रारम्भम् आदिमहाकाव्याद् भवति। एकदा तमसानद्यास्तटे महर्षिः वाल्मीकिः प्रातःकाले स्नानार्थं गतवान्। तदा अकस्मात् एकं क्रौञ्चं रक्तयुक्तं धरायामपतत्। सः निषाधस्य बाणेन हतः। तं क्रौञ्चं दृष्ट्वा वाल्मीकिमुखात् सरस्वत्याः विशेषकृपया अकस्मात् श्लोकोऽयं प्रस्फुटीतः -

''मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समा।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम्।।''[१]

अर्थात् हे दुष्ट निषाध! त्वं स्वजीवने कदापि प्रतिष्ठां न प्राप्तुं करिष्यसि। यतोहि काममोहितं क्रौञ्चयुगलयोः एकं खगं मारितवान्। अस्मात् कारणात् लैकिकसंस्कृतसाहित्यस्य श्लोकोऽयं आदिश्लोको मन्यते। वाल्मीकिना विरचितं रामायणमेव आदिमहाकाव्यं वर्तते। विदुषां मते लौकिकसंस्कृतसाहित्यं दृश्यं, श्रव्यं द्विधा प्रकारेण विभाजितम्। दृश्यकाव्ये रूपक-उपरूपकाणां गणना भवति।

श्रव्यकाव्ये गद्यं, पद्यं, चम्पूकाव्यानां च गणना भवति। तत्रापि गद्येषु कथा-आख्यायिकानां च पद्येषु महाकाव्यं, खण्डकाव्यं, मुक्तकाव्यानां च परिगणना क्रियते। अनेन प्रकारेण लौकिकसंस्कृतसाहित्य विकासोऽभवत्।

आधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्य स्वरूपस्य - लौकिकसंस्कृतसाहित्ये कवीनां, लेखकानां, काव्यशास्त्रिणां च विकासोऽभवत् । विकासेऽस्मिन् आधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्य जन्मोऽभवत्। यत्र संस्कृतसाहित्यस्य काव्यलेखनपरम्परा तीव्रज्ञानप्रवाहेण सर्वत्र प्रचलिता जाता। अस्याः परम्परायाः समयनिर्धारणे मतभेदाः स्वीक्रियते। परञ्च प्रायः आधुनिकसंस्कृतकाव्यपरम्परायाः समयः १७०० ईश्वीतः २००० ई. पर्यन्तं विद्वांसो मन्यते। वर्तमान एषा आधुनिकज्ञानपरम्परा स्वविकासोन्मुखीचर्मोत्कर्षे वर्तते। अस्मिन् संदर्भे श्रीकेश्वमुसलगाँवकरेण लिखितं पुस्तकम् **''आधुनिक संस्कृत काव्य परम्परा''** सर्वाधिकं प्रामाणिकं मन्यते। यत्र स्पष्टरूपेण विपुलसंस्कृतसाहित्यहस्तलिखितग्रन्थानां सूची उपलभ्यते।[२] अस्यां

---

* शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, केन्द्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नव देहली।

परम्परायां कवीनां, लेखकानां, काव्यशास्त्रिणां, साहित्यमर्मज्ञानां च सुदीर्घा सूचिः प्राप्यते। यत्र साहित्यशास्त्रस्य विविधासु विधासु मर्मज्ञाः सन्ति। तेषां नाममात्रेण वर्णनमत्र दीयते।

आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये प्रमुखमाचार्याणां नामानि - आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये कवीनां, काव्यशास्त्रिणां, लेखकानां साहित्यशास्त्रिणां च यद्यपि सुदीर्घपरम्परा वर्तते। येषां योगदानं आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये पदे-पदे ज्ञानप्रकाशस्यानुभवमनुभूयते। अतः कतिपयानां सुप्रसिद्धानां साहित्यकाराणां, लेखकानां, कवीनाञ्च नाममात्रेण वर्णनमत्र प्रस्तूयते- प्रो. रामजी उपाध्यायः, प्रो. जगन्नाथपाठकः, प्रो. रामकरण शर्मा, डॉ. वी. राघवन्, प्रो. रेवा प्रसाद द्विवेदी, पं. बच्चूलाल अवस्थी, प्रो. भास्कराचार्य त्रिपाठी, प्रो. रमेशकुमारपाण्डेयः, प्रो. इच्छाराम द्विवेदी, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्रः, प्रो. सत्यव्रत शास्त्री, प्रो. रमाकान्त पाण्डेयः, प्रो. भागीरथि नन्दरित्यादयः ।

आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये भागीरथिनन्दस्य योगदानं विविधसाहित्यिकग्रन्थेषु स्पष्टरूपेण दृश्यते। कविनन्देन मौलिकग्रन्थानाम् अनूदितग्रन्थानां च बालानां कृते सरलसंस्कृतादिपुस्तकानां लेखनं सरलसंस्कृतमाध्यमेन कृतम्। कविवरः आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये विविधमौलिकशोधपत्राणां सम्पादनं, प्रकाशनञ्च कृतवान् । कविनन्दस्य मौलिककथाकवितादि अपि लेखनकार्येषु महत् योगदानं वर्तते।

जीवनपरिचयः - आधुनिककविवरभागीरथिनन्दस्य जन्मः १३ अप्रैल १९६६ तमे वर्षे भारतदेशस्य ओडिसाराज्यस्य केउँझरमण्डलान्तर्गते मरुआ नामके ग्रामेऽभवत्। एतेषां पितुर्नाम श्रीवाईधरनन्दः एवं मातुश्च नाम श्रीमतीहेमलता देवी अस्ति। एते स्वकीयपित्रोः मध्यमः पुत्रः वर्तते। एतेषां प्रारम्भिकशिक्षा वी.सी. उच्चविद्यालयः वाहारिपुरनगरे सम्पन्ना जाता। एतेषामुच्चशिक्षा प्राक्शास्त्रीतः आचार्यपर्यन्तं श्रीसदाशिवपरिसरे ओडिशाराज्ये एव जाता। श्रीहरिगौरसिंहविश्वविद्यालयसागरतः एते विद्यावारिधिः इति उपाधिं प्राप्तवन्तः।

वर्तमानसमये भागीरथिनन्दमहोदयः भारतदेशस्य राजधानीदेहल्याम् अवस्थितं श्रीलालबहादुरराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालये प्राध्यापकरूपेण संस्कृतसाहित्यं, नाटकं, काव्यञ्च पाठयन्ति। भागीरथिनन्दमहोदयस्य शैक्षिणिकमनुभवं त्रयोविंशतिर्वर्षादधिकमपि वर्तते। महोदयः शास्त्रीकक्षासु, आचार्यकक्षासु, आचार्योत्तरकक्षासु च पाठयन्ति। महोदयस्य अन्तर्गतं अनेकं शोधच्छात्राः शोधकार्यं सम्पूर्णमकुर्वन्। अनेकाः शोधच्छात्राः साम्प्रतं शोधकार्यं कुर्वन्ति।

प्रकाशनम् - भागीरथिनन्दमहोदयस्य आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये महनीयो योगदानं वर्तते। नन्दमहोदयः साहित्यप्रकाशने विविधकार्याणां सम्पादनं कृतवान्। तस्य सङ्केतमात्रवर्णनमत्र दीयते।

१. षोडशात् अधिकानि पुस्तकानि।

२. चत्वारिंशत् शोधपत्राणि।

३. त्रिंशत् समालोचनात्मकाः लेखाः वर्तन्ते। शोधसमालोचनात्मकाः लेखाः हिन्दी-संस्कृत-आङ्गल-उडियाभाषासु च प्रकाशिताः सन्ति।

पुरस्कार/सम्मानाश्च - आधुनिककविवरभागीरथिनन्दमहोदयस्य साहित्यसमाजेऽन्यतमो योगदानं वर्तते। अतो महोदयः संस्कृतभाषायां संस्कृतसाहित्ये च (२०१२) तमे वर्षे 'अनुवादपुरस्कारेण' सम्मानितोऽस्ति। नन्दमहोदयेन संस्कृतभाषायां विशिष्टकार्यं करणार्थं विविधपुरस्काराणां सम्मानं प्राप्तवन्तः।

तस्य वर्णनमत्र दीयते।

१. व्यासश्रीः – वेदव्यास अनुसंधान संस्थानम्, राऊरकेला।

२. भुवा विपश्चितः – श्रीलालबहादुराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयं, नवदेहलीम्।

३. संस्कृतभूषणम् – अखिलभारतीयसंस्कृतसम्मेलनम्, नवदेहलीम्।

विभागाध्यक्ष – भागीरथिनन्दमहोदयेन श्रीलालबहादुरराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालये विभिन्नविभागेषु विभागाध्यक्षरूपेण कार्यं कृतवान्। तस्य वर्णनमत्र दीयते।

१. साहित्यविभागाध्यक्षः।

२. पुराणविभागाध्यक्षः।

३. प्राकृतविभागाध्यक्षः।

अनेन प्रकारेण एतेषु विभागेषु शैक्षिककार्योत्थानेषु श्रीभागीरथिनन्दस्य महनीयं योगदानं वर्तते।

प्रो. भागीरथिनन्दस्य कृतीनां परिचयः – आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये कविवरः भागीरथिनन्दस्यान्यतमो योगदानं वर्तते। कविवरेण संस्कृतसाहित्यस्य आधुनिकविषयाणामाधारेण षोडशादधिकग्रन्थानां लेखनं कृतवान्। आधुनिकसाहित्ये एतेषां ग्रन्थानां महत्त्वपूर्ण भूमिका वर्तते। नन्दमहोदयेन विरचितानां ग्रन्थानां वर्णनमत्र प्रस्तूयते।

मौलिककाव्यशास्त्रीयग्रन्थानां विमर्शात्मकपरिचयः – आधुनिकसाहित्ये कविवरेण भगीरथिनन्देन मौलिककाव्यशास्त्रीयविमर्शात्मकग्रन्थानां लेखनं कृतम्। अस्मिन् क्रमे ग्रन्थद्वयं सुप्रसिद्धम् साहित्यरत्नाकरमीमांसायाः, गुरुभक्तिकुसुमाञ्जलेश्च गणना भवति। साहित्यरत्नाकरमीमांसायाः सामान्यं परिचयमत्र दीयते।

साहित्यरत्नाकरमीमांसायाः परिचयः – साहित्यरत्नाकरमीमांसा भागीरथिनन्दस्य लाक्षणिको ग्रन्थो वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन् कविवरः संस्कृतसाहित्यस्य काव्यशास्त्रीयसिद्धान्तानां प्रतिपादनं करोति। ग्रन्थेऽस्मिन् साहित्यशास्त्रीयविषयाणां दशतरङ्गेषु विभाजनं वर्तते। अस्मिन् ग्रन्थे सर्वप्रथमं भूमिकायां लिखितमस्ति यत् – अस्मिन् संसारस्य सर्वेषु भूतेषु व्यापकत्वं तत्त्वं वर्तते रसः। रसः संस्कृतसाहित्यस्य षट् सम्प्रदायेषु प्रमुखोऽङ्गम्। रसेनैव काव्यशास्त्रस्य लेखनं भवति। अत्र साहित्यरत्नाकरस्य प्रणेता श्रीमद्धर्मसूरेः रसाभिव्यक्तिसिद्धान्तस्य वर्णनं करोति। ग्रन्थस्यास्य दशतरङ्गेषु साहित्यिकविषयेषु सर्वप्रथमो ग्रन्थकारस्य परिचयः, नायकवाचकप्रकरणं, लक्षणाया व्यञ्जनायाः वर्णनं, गुणानां स्वरूपम्, अलङ्काराणां विवेचनं, दोषानां निरूपणम्, काव्यस्य ध्वनिभेदाश्च रसस्य विवेचनं प्रतिपादितम्। अस्मिन् क्रमे एव शब्दस्य शक्तीनां विवेचनं च अलङ्कारेषु शब्दालङ्काराणाम्, अर्थालङ्काराणां च विवेचनं विस्तारपूर्वकं वर्णितम्। अत्रैव काव्यध्वनिविवेचनं रसानां च वर्णनं परिलक्षितम्।

गुरुभक्तिकुसुमाञ्जिलशतकं ग्रन्थस्य परिचयः – ग्रन्थोऽयं भागीरथिनन्दस्य अमरकृतिरूपेण प्रसिद्धः। ग्रन्थेऽस्मिन् गुरुभक्तिविषये हृदयस्पर्शीशतश्लोकानां सारसहितं विरचितम्। ग्रन्थेऽस्मिन् मुख्यतया जगदध्यात्म–गुरुश्चेति त्रयाणां विषयाणां विषये सारगर्भितरूपेण प्रकाशितम्। ग्रन्थेऽस्मिन् गुरुभक्तिविषये शतश्लोकानां माध्यमेन व्याख्या प्रतिपादिता। ग्रन्थस्य प्रारम्भे एव लिखितम् –

भवदीयपदाम्भोजाश्रयमिच्छन्ति सेवकाः।

त्वमेव शरणं तेषां त्वमेव परमा गतिः।।

अर्थात् हे सद्गुर! सेवकजनाः केवलं भवतः चरणकमलानामाश्रयमिच्छन्ति। यतोहि त्वमेव शरणं आगत्य परमा गतिर्वर्तते।[३]

यथा –

चातकोऽहं कृपावारि प्राप्तुमुत्कण्ठितस्तव।
किमियमिह मे काक्षां नैव जन्मनि जन्मनि।।

अर्थात् हे गुरुदेव ! अहं चातकोऽस्मि। भवतः कृपया जलं पातुमुत्कण्ठोऽस्मि। गुरुदेवः चातकखगस्य मे कामना न केवनं अस्मिन् जन्मनि अपितु जन्म-जन्मान्तरे एवास्ति।[४] अन्यदपि लिखितम् –

गुरुर्दाता गुरुर्माता गुरुर्भ्राता गुरुः पिता।
गुरुः कर्ता गुरुर्हर्ता तादृशस्त्वं गुरुर्मम।।''

अस्मिन् श्लोके कविः कथयति यत्- गुरुः दाता, गुरुः माता, गुरुर्भ्राता भवति। अस्माकं जीवने गुरुरेव कर्ता भवति। गुरुरेव समस्तदुःखानां हर्ताश्च भवति। अतः भवान् ममैव गुरुः।[५] अनेन प्रकारेण एव अन्यस्मिन् श्लोके लिखितम् –

जानामि श्रीगुरुः साक्षाद् ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरः।
तथाप्यनन्यभावेन मनो मे कुरुते रतिम्।।

हे गुरुदेव ! अहं भवतः स्वरूपं जानामि, गुरुः स्वरूपं साक्षात् ब्रह्मा, विष्णुः, महेश्वरश्चास्ति। तथापि मे मनः त्वयि अन्यभावेन रतिं करोति।[६] अनेन प्रकारेण सम्पूर्णग्रन्थे गुरुभक्तेः अमृतधारासदृशं वर्णनं विद्यते। स्वजीवने अस्य ग्रन्थस्य अध्ययनं अवश्यमेव करणीयम्। अनेन प्रकरेण स्पष्टं भवति यत्- मौलिककाव्यशास्त्रीयग्रन्थेषु भागीरथिनन्देन महत्त्वपूर्णं योगदानं प्रदत्तम्।

अनूदितग्रन्थानां परिचयः – आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये कविवरभागीरथिनन्दस्य संस्कृतसाहित्यस्य विविधप्रसिद्धग्रन्थेषु अनुवादकार्ये महती योगदानं वर्तते। तेषां ग्रन्थानाम् अध्ययनेन भागीरथिनन्दस्य अनुवादकौशलस्य वैशिष्ट्यं सरलतया परिलक्ष्यते। अनुवादकार्ये येषां महत्त्वपूर्णबिन्दवानां प्रयोगं भवति। तेषां सर्वेषां वर्णनं नन्दस्य अनूदितग्रन्थेषु पदे-पदे परिलक्ष्यते। कविवरः भागीरथिनन्देन अनूदितानां ग्रन्थानां नामानि अत्र दीयते।

१. याज्ञसेनी। २. भारतवर्षम्।
३. सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्। ४. उल्लङ्घनम्।
५. गुरुभागवतम् (प्रथम खण्डः)।

अनेन प्रकारेण उपयुक्तेषु ग्रन्थेषु अनुवादकौशलस्य सिद्धान्तानां प्रत्यक्षं सरलतया दृश्यते।

याज्ञसेनी – डॉ. प्रतिभारायविरचितोऽयं 'याज्ञसेनी' ग्रन्थोत्कलभाषानिबद्धो वर्तते। अयं ग्रन्थकारो 'ज्ञानपीठमूर्तिदेवी' पुरस्कारेण प्रतिष्ठितो वर्तते। अस्य ग्रन्थस्य संस्कृतानुवादकः कविवरः भागीरथिनन्दः अस्ति। ग्रन्थोऽयं केन्द्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः नवदेहलीम् (२००६) तमे वर्षे प्रकाशितोऽस्ति। ग्रन्थेऽस्मिन् याज्ञसेनी नाम्ना नारीविषकं चिन्तनस्य वर्णनं मौलिकचिन्तनसहितं प्रतिपादितम्। अत्र याज्ञसेन्या द्रौपद्या वर्णनं

कृतम्। उपन्यासेऽस्मिन् द्रौपदी श्रीकृष्णस्य समक्षे स्वव्यथायाः वर्णनं करोति। अत्र प्रतिभाराय कालानुसारेण नारीविषयकचिन्तनस्य वर्णनं करोति। अस्मात् कारणात् एव ग्रन्थोऽयं ज्ञानपीठपुरस्कारेण पुरस्कृतः। अस्य ग्रन्थस्य भागीरथिनन्देन संस्कृतभाषायां सरलतया अनुवादं कृतवान्।

भारतवर्षम् - ग्रन्थोऽयम् उत्कलभाषायाः मूलरचनाकारः डॉ. सीताकान्तमहापात्रेण विरचितः। अस्मिन् ग्रन्थे भारतवर्षस्य ह्नन्मजूषायां लघुः स्वप्नः कोऽपि इति संदर्भे उत्कलभाषायां वर्णनं कृतम्। अस्य ग्रन्थस्य संस्कृतानुवादकः डॉ. भागीरथिनन्दो वर्तते। अस्मिन् ग्रन्थे नवसर्गाणां विवेचनं प्रतिपादितम्। यथाक्रमेण –

प्रथमः सर्गः – मङ्गलाचरणस्य वर्णनम्।

द्वितीयः सर्गः – यात्रायाः वर्णनम्।

तृतीयः सर्गः – नूतनं रासलीलायाः वर्णनम्।

चतुर्थः सर्गः – देवीपूजायाः वर्णनम्।

पञ्चमः सर्गः – अपरेऽपि च ये नचिकेता सः इत्यस्य वर्णनम्।

षष्ठः सर्गः – वैश्वानराय आहूतेः वर्णनम्।

सप्तमः सर्गः – कृतं वृद्धमवीक्ष्यापि कियद् रुरुदिम वयम् इत्यस्य वर्णनम्।

अष्टमः सर्गः – कं वा पृच्छेम? इत्यस्य वर्णनम्।

नवमः सर्गः – स्वप्नायनम् : सूदीर्घा सरण्याः वर्णनम्।

अनेन प्रकारेण सर्वाणां सर्गाणां विवेचनं प्रथमम् उत्कलभाषायां लिखितं तदनन्तरं संस्कृतभाषायां सरलीकृतमनुवादस्य विवेचनं विद्यते।

सृष्टितत्त्वानुचिन्तम् - अस्य ग्रन्थस्य मूलरचनाकारः चन्द्रभानुशतपथी महाभागाः वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन् सृष्टितत्त्वानुविषयकगम्भीरविषयाणां वर्णनं विद्यते। अस्य ग्रन्थस्य संस्कृतानुवादकः कविवरः भागीरथिनन्दः महोदयाः सन्ति। ग्रन्थेऽस्मिन् चतुःत्रिंशत्विषयेषु सृष्टेः सन्दर्भे मौलिकविषयाणां वर्णनं प्रतिपादितम्। तेषां विषयाणां सामान्यवर्णनमत्र दीयते – अनन्तपुरुषः, हिरण्यगर्भः, शून्यब्रह्मतत्त्वम्, विश्वमहायज्ञः, आदितत्त्वम्, आकाशगङ्गा, प्रलयतत्त्वम्, सूत्रधारः, नवसृष्टिः, पञ्चकृत्यम्, आदित्यतत्त्वम्, गणपतिततत्त्वम्, कलातत्त्वम्, रुद्रतत्त्वम्, सप्तकिरणात्मकं जगत्, सप्तात्मकं जगत्, प्राणतत्त्वम्, अखण्डमण्डलाकाररूपम्, स्वरतत्त्वम्, महातत्त्वम्, महाशक्तिः, मातृकागणः, नादतत्त्वम्, सृष्टिकालविज्ञानम्, कालतत्त्वम्, ऋषितत्त्वम्, सोमतत्त्वम्, प्रतीकब्रह्म, नारायणतत्त्वम्, नारदतत्त्वम्, अवतारतत्त्वम्, गुरुतत्त्वम्, पुरुषप्रकाराः च अन्तिमप्रार्थना। अतः ग्रन्थेऽस्मिन्सृष्टितत्त्वानां विषये गम्भीरविश्लेषणं विद्यते।

उल्लङ्घनम् - अस्य ग्रन्थस्य लेखकः प्रतिभारायोऽस्ति। ग्रन्थोऽयं मूलरूपेण उत्कलभाषायां विरचितः। ग्रन्थोऽयं साहित्याकादमीपुरस्कृतः उत्कलभाषायाः प्रसिद्धकथासंग्रहः वर्तते। अस्य ग्रन्थस्य संस्कृतानुवादकः प्रो. भागीरथिनन्दोऽस्ति। ग्रन्थेऽस्मिन् एकोनविंशतिविषयेषु कथानां वर्णनं विद्यते। तेषां विषयाणां सामान्यवर्णनमत्र दीयते। यथाक्रमेण– उल्लङ्घनम्, एण्टिक्, गान्धी उवाच, निरुत्तरः, रुद्धावतारः, पादुकापूजा, व्याघ्रः, घुणः, भोजनोत्सवः, दुहिता, कपटद्युतम्, तात्त्विकः, अनामधेयः, भगिनीभागः,

मानरक्षा, केतकीवनम्, पादुकायुगलम्, अमृतनैवेद्यम्, निजसङ्केतः, अनुक्तं वृतम्, मातृविभाजनम्। अनेन प्रकारेण उपर्युक्तसंदर्भाणां माध्यमेन ग्रन्थेऽस्मिन् शिक्षाप्रदम् कथानां विवेचनं वर्णितम्।

गुरुभागवतम् – श्रीगुरुभागवतं कविवरभागीरथिनन्देन विरचितं संस्कृतानुवादितो ग्रन्थोऽस्ति। अस्य ग्रन्थस्य लेखकः डॉ. चन्द्रभानुशतपथी संस्कृतसाहित्यस्य मूर्धन्यविद्वानः वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन् गुरु-शिष्ययोः भागवतविषयस्य हृदयस्पर्शी भावपूर्णभावानां वर्णनं विवेचितम्। ग्रन्थोऽयं एकोनविंशतिरध्यायेषु विभक्तं वर्तते। एतेषु अध्यायेषु गुरुभक्तिविषयेः विविधविषयाणां सरलतया विवेचनं प्रतिपादितम् । यथाक्रमेण – श्रीगुरुप्रार्थनायाः, गुरोः परिभाषा स्वरूपसहितञ्च, नवस्थितिः गुरुस्थितिं प्रति उत्तरायणस्य, गुरोः प्रकाराणां सहितं पञ्चगुरुणां वर्णनं, संन्यासिनां पञ्चप्रकाराणां वर्णनं, शुद्धयोगिनां कृते उचितपादचरणस्य वर्णनं, भ्रष्टयोगिनां निरूपणं, गुरुमण्डल्या वर्णनं, श्रीगुरुभक्तिसहितं गुरुभक्तानाश्च वर्णनं, सुभक्तस्य चरितस्य चित्रणवर्णनं, सुभक्तस्य प्रकाराणां वर्णनं, सुभक्तस्य गुणानां वर्णनं, गुरुणां कर्मणिः– गुरुभक्तस्य संदर्भाणां वर्णनं, कुभक्तस्य चरितस्य वर्णनं, अभीनयी भक्तः –कुभक्तस्योद्धारणस्य वर्णनं, श्रीगुरोरङ्कितपुत्रस्य वर्णनं, गुरोर्भक्तेः मूलसिद्धान्तानां वर्णनं, गुरोर्दीक्षायाः वर्णनं विद्यते। अतैव अत्र सर्वेषु अध्यायेषु मुख्यतया गुरुशिष्योः संदर्भे गम्भीरविषयाणां विवेचनं प्रतिपादितम्।

सम्पादितग्रन्थानां परिचयः – कविवरेण भागीरथिनन्देन आधुनिकसंस्कृतसाहित्यस्य अनेकानां प्रसिद्धानां ग्रन्थानां सम्पादनं कृतवान्। तेषां सम्पादितग्रन्थानाम् आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये महत्त्वपूर्णं योगदानं वर्तते। बृहत्त्रयीपरिशीलनं, विलक्षणा च।

५-८ कक्षाणां रचितग्रन्थानां परिचयः – संस्कृतभाषा सरला सरसा च वर्तते। अस्या भाषायाः प्रारम्भिकज्ञानस्य भागीरथिनन्देन पञ्चमीकक्षातः आरभ्य अष्टमीकक्षापर्यन्तं सरलभाषायां संस्कृतस्य पुस्तकानां लेखनं कृतम्।

अनेन प्रकारेण स्वयमेव स्पष्टं भवति यत् आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये कृतिकारभागीरथिनन्दस्य योगदानं सर्वत्र प्रकाशमानो विराजते। कविवरेण भागीरथिनन्देन आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये कृतानां साहित्यककार्याणां वर्तमाने मौलिकत्वं वर्तते। कविवरेण मौलिककाव्यशास्त्रीयविमर्शात्मकग्रन्थानां, काव्यग्रन्थानां अनूदितसाहित्यिकग्रन्थानां, सम्पादितग्रन्थानां सन्दर्भे मौलिकतापूर्णं कार्यं कृतम्। अस्मिन् सन्दर्भे कविवरेण बालानां सुखबोधाय वा आनन्दाय सरलसंस्कृतपुस्तकानां सम्पादनं कृत्वा महत्त्वपूर्णं योगदानं प्रदत्तम्।

सन्दर्भ-सूची

१. रामायण १.२.१५
२. आधुनिक संस्कृत साहित्य काव्य परम्परा, पृष्ठसंख्या – ४
३. श्रीगुरुभक्तिकुसुमाञ्जलिशतकम्, श्लोकसंख्या – १
४. श्रीगुरुभक्तिकुसुमाञ्जलिशतकम्, श्लोकसंख्या – ६
५. श्रीगुरुभक्तिकुसुमाञ्जलिशतकम्, श्लोकसंख्या – १८
६. श्रीगुरुभक्तिकुसुमाञ्जलिशतकम्, श्लोकसंख्या – ३४

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

भारतीयदर्शनेषु अष्टावक्रगीतायां च मुक्तिविमर्शः

प्रेमलता*

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् ।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः।।

(महा. भा. शान्तिपर्व, १२.३३४)

दर्शनशास्त्रम् – वेदसर्वप्राचीनग्रन्थ इति सर्वविदितोऽयं विषयोऽस्ति। वेदानामर्थबोधाय सुखबोधाय उच्चारणविधिज्ञानाय न वेदाङ्गानि निर्मितानि आसन्। प्रायः दर्शनशास्त्रान्तर्गतसूत्राणि सूत्रसाहित्ययुग एव रचितानि इति ज्ञायते। महाभारतयुगे वेदान्त-मीमांसादर्शनयोः प्रादुर्भावः सञ्जातः इति केचन दार्शनिकाः वदन्ति। वस्तुतः दर्शनप्रतिपाद्याः अनेके विषयाः वेदेषु उपनिषत्सु वेदाङ्गेषु पुराणेषु साहित्ये च समुपलभ्यन्ते। अतः दर्शनशास्त्राणां प्रादुर्भावसमयो यदि वा सन्दिहानः तथापि दार्शनिकचिन्तनधारा वैदिकचिन्तनधारा सर्वप्राचीना चेति वक्तुं शक्यते।

दर्शनमिति शब्दव्युत्पत्तिः 'दृर्शिर् प्रेक्षणे' इत्यस्मात् धातोः ल्युट्प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। दर्शनशब्दस्य व्युत्पत्तिजन्यार्थः क्षणं विचारणं श्रद्धाप्रवर्तनञ्च। आत्मानं परितः विद्यमानपदार्थान् वस्तूनि वा विज्ञातुमधिगन्तुञ्च मानवस्य जिज्ञासास्पन्दनं सर्वदा जायते। विषयेऽस्मिन् भारतवर्षस्य विशेषता अन्यतमा वर्तते। इत्थं विश्रूयते यत् भारतीयदर्शनानि दुःखानामाधारशिलासु प्रतिष्ठितानि सन्ति। प्रायेण सर्वदर्शनानि दुःखनिवृत्यर्थमेव उपायान्वेषणे संरतानि सन्ति इत्थमेव ज्ञान-मुक्ति-वैराग्यादिषु श्रेयोविषयेषु जिज्ञासितमनसः ज्ञानपिपासवः सातत्येन स्वाध्यायमग्नाः तिष्ठन्ति।

मोक्षविमर्शः (मुक्तिविचारः) – भारतीयदर्शनस्य प्रधानं लक्ष्यमस्ति मोक्षः। दार्शनिके जगति मोक्षविषये विपुलो विचारो जातोऽस्ति। अयं परमपुरुषार्थः मोक्षः निश्रेयसं निर्वाणम् अपवर्गो कैवल्यं चोच्यते। धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्षुपुरुषार्थेषु मोक्षः मुख्यो नित्यो निरतिशयः च अस्ति। अत एव श्रेयोऽभिलाषिणो योगिनो धर्मार्थकामान् त्रीन् परिहाय अस्य मोक्षस्य प्राप्तये प्रत्यहं प्रयतन्ते। मोक्षस्वरूपनिर्णये दार्शनिकानां सिद्धान्ताः परस्परं विभिन्नाः वा विलक्षणाः प्रतीयन्ते। यतो हि ते विभिन्नरूपेण विचारं प्रकुर्वन्ति। मोक्षशब्दस्य साधारणोऽर्थोऽस्ति मुक्तिः। कस्मान्मुक्तिः? यस्मान्मोक्तुम् इष्यते तदस्ति दुःखम्। अतो मोक्षस्य साधारणोऽर्थो दुःखान्मुक्तिः इति सम्भवति। मोक्षविषये दार्शनिकानां विभिन्नमतमस्ति –

नैयायिकानां मते तु **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः** (१.१.२२) 'अथ त्रिविध-दुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' इत्यादिसूत्रै सर्वदुःखानि हि अत्यन्तनिवृत्तिरेव मुक्तिरभिहितास्ति। तथैव जनेषु धारणाऽप्यस्ति यन्मुक्तो न कोऽपि परावर्तत इति। **मीमांसका** विविधवैदिककर्मद्वारा स्वर्गादिप्राप्तिमेव मोक्षं

* अनुसन्धात्री, केन्द्रीय-संस्कृत-विश्वविद्यालयः, श्रीरणवीरपरिसरः, कोट-भलवालः, जम्मूः

स्वीकुर्वन्ति। **वैयाकरणाः** ब्रह्मस्वरूपायाः पराख्याया वाचो दर्शनं **मोक्षमभिदधति**। वेदान्तिनः तु अत्र ब्रह्मसमश्नते इति वदन्ति। **चार्वाको** हि देहनाशं मोक्षं वदति। **बौद्धा** निर्मलज्ञानोत्पत्तिमेव मोक्षं वदति। **जैनमते** कर्मोत्पन्नदेहो आवरणाभावात् जीवस्योर्ध्वगमनं मोक्षोऽस्ति। **वैशेषिकदर्शनं** समस्तविशेषगुणानां नाशं मोक्षं मन्यते। **प्रत्यभिज्ञादर्शने** आत्मनः प्राप्तिश्च मोक्षोऽभिमतः। **शैवदर्शने** शिवत्वोपलब्धिः मोक्षः।

रामानुजमते ईश्वरगुणप्राप्तिः तत्स्वरूपानुभवः चास्ति मोक्षः पाशुपत्दर्शने परमेश्वरत्वप्राप्तिः मोक्षः।

सांख्यदर्शने पुरुषप्रकृतिवर्णनक्रमे मोक्षस्य स्वरूपं स्पष्टं प्रकटयति । यथा –

तस्मान्न वद्धयतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बद्धयते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।
एवञ्च रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मनाप्रकृति।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।

सांख्यदर्शने अथ त्रिविध–दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः सूत्रे सर्वदुःखनां हि अत्यन्तनिवृत्तिरेव मुक्तिरभिहिताऽस्ति। महर्षिणा पतञ्जलिना मोक्षार्थं कैवल्यशब्दस्य निर्धारणं कृतम्।

तन्मते कैवल्यार्थोऽस्ति आत्मस्वरूपावाप्तिः। (४.३३) एवं पतञ्जलिसिद्धान्तानुसारं दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपस्य मोक्षस्य अनुभवकर्ता काश्चित् चेतनोऽपेक्षितोऽस्ति यो दुःखाभावस्य साक्षी भवेत्।

(सांख्यदर्शने प्रकृतौ स्वव्यापारादुपरतायां पुरुषस्य स्वरूपेऽवास्थितिरेव मोक्षो मतः। योगदर्शने च इच्छाशक्तेः निरूपाधिकरूपात्स्वरूपेऽवस्थानं मोक्ष उच्यते।)

अद्वैतवेदान्ते मूलाज्ञाननाशे सति आत्मसाक्षात्कारः एव मोक्ष कथ्यते। मोक्षो हि सर्वपुरुषार्थेषु श्रेष्ठतमः। अत एव भावनोपनिषदि लिखितमास्ते –

धर्मार्थकामाः सर्वेऽपि तेऽनित्या मोक्ष एव हि ।
नित्यस्तस्मात्तदर्थाय यतेत मतिमान्नरः ।।२७।।

नारायणोपनिषदि च प्रोक्तं यद् यतो विष्णुकृपां विनो मोक्षो लभ्यते, अतो जागतिककर्मजालाद् मुक्तिमिच्छता नरेण तस्य नारायणस्य नित्यं चिन्तनं विधेयम्।

शिवसंहितायां १३ अध्याये मोक्षविषयः एवमुक्तो विद्यते –

मोक्षस्य हि न वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयभ्रान्तिर्नाशो मोक्ष इति स्मृतः ।। शि. सं. ३५।।

ब्रह्मपुराणे (२३९.२२) महाभारते चो उपर्युक्तस्यैव तथ्यस्य समर्थनं भवति।

सक्तमात्मात्मानमीशे च देवे नारायणे तथा।
देवे मोक्षे च संसक्तं मोक्षं सक्तं तु न क्वचित् ।। (१२.३०१.२३)

अष्टावक्रगीतायां परमकारुणिको भगवानष्टावक्रमुनिः सकलमुमुक्षु जनमुद्दिषुः। शिष्यं प्रति मोक्षोपाय–मुपदिशति । यथा –

मुक्तिमिच्छसिच्चेतात् विषयान् विषवत्त्यज।

क्षमार्ज्जवदयातोष सत्यं पीयूषवद्भज ।।१.१।

अष्टमे प्रकरणे उक्तम् –

तदा मुक्तिर्यदाचित्तं न वाञ्छति न शोचति ।

न मुञ्चति न गृह्णाति न ह्रष्यति न कुप्यति ।।२.८।।

यदा चित्तं सर्वासु विषयदृष्टिषु संसक्तं न भवति तदा मोक्ष इति अर्थः –

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कान्यपि दृष्टिषु।

तदा मोक्षो यदा वित्तमासक्तं सर्वदृष्टिषु ।। ३.८।

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।

मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा ग्रहाणविमुञ्च मा।। ४.८।

अहम् इति एवं रूपः प्रथमोऽध्यासोऽनर्थभूतो निवर्तते तदा च मोक्षः।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- संस्कृतवाङ्मयान्त–प्रवेशिका, डा. सोमनाथ दाशः, पुरी, उडीसा, २०१४।
- अध्यात्मप्रदीपिकाटीका, आचार्यः विश्वेश्वरः।
- अष्टावक्रगीता, स्वामिचिन्मयानन्दः, १९७२, मद्रासचिन्मयपब्लिकेशन्स, प्रथम संस्करण।
- अष्टावक्रगीता, शम्भूनाथः, २००२, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थाथानम् पुरी, प्रथम संस्करण।
- अद्वैतवेदान्त (इतिहासतथासिद्धान्त, शर्मा राममूर्ति, १९९८, स्टर्नबुकलिंकर्स, दिल्ली।
- शिवदृष्टिः, सोमानन्द, सं. मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९३४।
- तन्त्रालोकः, भाग–१–११, अभिनवगुप्त, सं. मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९३८।
- तन्त्रसारः, अभिनवगुप्त, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, बम्बई, १९१८।
- ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग,१–३, अभिनवगुप्त, सं. मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली,१९२१।
- स्पन्दसन्दोहः, क्षेमराज, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृतग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१७।
- तन्त्रालोकविवृतिः, भाग–१–११ मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९३८।
- शिवसूत्रविमर्शिनी, क्षेमराज, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११।
- सर्वदर्शनसंग्रहः, माधवाचार्यः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,१९६४।
- भास्करी, भाग १–२, भास्कर कण्ठ,सं. अय्यर एवं पाण्डेय, सरस्वती भवन, १९५०।
- यदुवंशी, शैवमत, प्रथम संस्करण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९३५।
- Pandey, K.C. Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study, 2nd Chowkhamba, 1963.
- Dashgupta, S. N., History of Indian Philosphy, Vol.II,V, Cambridge University Press,1961-62.
- भामती, वाचस्पति मिश्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३७।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

Judgement of Accuracy of The Doctrine - *Purāṇaṃ Vedasammitam*

Susovan Santra*

Introduction

Purāṇa wrote by *Vedavyāsain* such a way that it presents itself as a sequel to the *Veda*. The special contributions of *Purāṇas* are to be demands of eras, modifications of Vedic religion and optional religious rituals. The *Veda* is the most orthodox and recognized treatise in Indian Culture. *Purāṇas* adopted the *Veda* and projected itself aninheritance of vedic rituals, and पुराणं वेदसम्मितम् also highlight the same. *Nāradīya Purāṇa* said that *Veda* was established in *Purāṇas* and fulfill the Vedic exploration through the *Purāṇas*[1]. Vedic religion is all about sacrifice (yajña)- यागादिरेव धर्मः. According to *jaimini* - चोदना लक्षणोऽर्थः धर्मः. Vedic age is approximately 2500 B.C and *paurāṇika* age is approximately 500-400 B.C. That means the difference between Vedic age and *paurāṇika* age is more than 2000 years. The *paurāṇika* literature was appeared on the Indian socio-culture to re-establish the Indian traditional religion in the period of 2000 years. But this is where the questions arise -

(1) Why was the *Veda* used for the incarnation of *paurāṇika* literature?

(2) If we believe all the resources of *Purāṇ* awere derived from *Veda*, then can we truly say that the vedic rituals were protected in *Purāṇa*?

(3) Whether the recognition of adherence of the *Veda* or not throughout the *Purāṇa*, if we see *Purāṇa* as a Vedic commentary?

(4) Whether the Vedic religion was protected throughout the *Purāṇas* or not?

(5) Whether the characteristic of Vedic Gods was protected in *Purāṇas* or not?

The next discussion begins from there. *Matsya Purāṇa* state that Vedic religion and Vedic sacrifices (yajña) werevery complicated, expensive and also difficult. There was no equal right to everyone, but there are simple ritualistic programmes for all in *Paurāṇika* literature.[2] In the

* Research Scholar (M.Phil), Department of Sanskrit, Rabindra Bharati University, West Bengal

Chāndogyopaniṣad, it is shown that the *Purāṇa* is the fifth *Veda*.[3] The word *Purāṇa* has also been mention in *Vṛhadāranyakopaniṣad* and *Chāndogyopaniṣad*.[4] The *Gopatha Brāhmṇa* state the different types of *Vedas* like *Sarpaveda, Asuraveda, Pis'āchaveda, Itihāsaveda* and *Purāṇaveda*.[5] In *Nirukta* the meaning of the word *Purāṇa* is - पुरा नवं भवति, and meaning of the word *Itihāsa* is - निदानभूतम् इति ह एवमासीत् इति यत्र उच्यते स इतिहासः In *Arthaśāstra* the meaning of the word *Itihāsa* indicates to *Purāṇa*, *Itivṛtta*, *Akhyāyika*, *Dharmaśāstra*, *Arthaśāstra* and *Udāharanṇa*.

Vedic religion and *Purāṇa*

Vedic religion mainly depends on sacrifices (yajña). At the time of *Veda* vedic Gods were imagined and did the sacrifices intended to them. Vedic sacrifices were manly five types like *Homa, Iṣti*, *Paśu*, *Soma* and *Satra*. These types of expensive and difficult sacrifices were impossible for common men. Further *śudra* had no right in vedic sacrifices. The attitude of reservation towards the *Veda* as shown by the *Purāṇa* was perhaps the result of the fact that in the various *paurāṇika* parts from their very inception there were cantante of non-vedic origin.

Therefore, we see that *Purāṇas* were used the *Vedas* for established itself in the society. But somewhere they were breaking down vedic rituals. Vedic society was divided by *Varnaāśrama* system. This opportunity was taken by *Purāṇas* and in the excuses of banishment of social division they projected themselves as an orthodox. The *Bhāgavata Purāṇa* also state that the vedic religion indulges violence, and violence originate *Adharma*. So how can Vedic religion provide *mokṣa*[6]. From this statement we can understand the intention of *Purāṇas*.

Vedic Gods and *Paurāṇika* Gods

Most of the differences between *Veda* and *Purāṇa* is about Gods. In *Veda* the number of gods are 33. Among the 33 *Agni* is the nearly to the men. Further *Indra, Viṣṇu, Sūrya, Vāyu, Soma, Vṛiṣti, Uṣā* etc. are the most important Gods in *Veda*. Most important point is vedic Gods are formless and someone naturalistic like *Sūrya, Agni, Soma, Uṣā* etc. *Upaniṣad* projected that the main power is supreme soul. Monotheism was recognized there in - एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति. But the number of *paurāṇika* deities becomes 33 crores and in *Purāṇas* for the first time we see the limbs of Gods. Where most of the Vedic Gods are naturalistic, but here most of the *paurāṇika* Gods are descended as human. In *Veda* most of the Gods are male, here in *Purāṇa* most of the Gods are female. In *Veda* the most dominating God is *Indra*, but in *Purāṇa Indra* is negligible. Somewhere greatness of *Indra's* characteristic was minimized in *Purāṇa*.[7] Most marvels

are the serpent is the arch enemy of the human race, and so the serpent *Vṛtra* is killed by the Vedic god *Indra* by the help of *Viṣṇu* in the *Veda*. In the *Purāṇas Viṣṇu* himself is depicted as crunching the serpent *Ananta* or *Śesa* by lying on it. Even the god *Rudra* is depicted in the *Purāṇas* as subduing the serpents and wrapping them on his limbs as bracelets, armlets and necklaces. If *Purāṇas* verify consent to *Veda* then why this type of retro changes? Not only this in the *Viṣṇu Purāṇa* states that the *Veda* are said to constitute the body of *Viṣṇu*, though the Vedic gods are formless. In the *Vāyu Purāṇa Śiva* is identified with the *Vedas* and sacrifice, but there are no such examples in the *Veda*. In the *Varāha Purāṇa Sāvitṛ* is mother of the *Veda*.[8] But it is widely accepted as the unmanliness of *Veda*. If *Vedas* are unmanliness then how did they get birth and how did *Vedas* get a mother? It is interesting to see that the *Varāha Purāṇa* have a pleasant story about this. Not only *Varāha Purāṇa* but also *Bhāgavata Purāṇa* states about this.[9] Again, the *Bhāgavata Purāṇa* states about *Viṣṇus* 10 incarnations. These 10 incarnations were projected 10 types of format in front of common men. If *Purāṇas* truly consent to *Vedas* then why these types of deformability about Vedic gods in *Purāṇas*? The answer should be following our next discussions. Further Vedic gods normally did not appear directly to themselves. Only prayer was done for that purpose. But in the *Purāṇika* gods are outing with different characters in precepted forms. The reason for this that the *vedic* gods are labored by the common men. That is why the author of *Purāṇa* was tried to gain popularity by presenting the gods inform of person. According to *Yāska* vedic gods were divided into three places like *Antarikṣa-sthanīya* under the chief of *Indra*, *Dyusthanīya* under the chief of *Sūrya* and *Pṛthivīsthanīya* under the chief of *Agni*. Further the Vedic gods were also divided into four caste like *Brāmhana, Kṣatriya, Vaiśya* and *Śūdra*. Hence caste system can be seen not only in humans but also in vedic deities. But in the *Purāṇa* most of the gods belongs to the higher cast. The reason may be that to establish a common and clear perception of the individuals towords Gods. The *Kūrma Purāṇa* declares that the blue-red *Saṅkara* incarnates himself for establishing the *śrauta* and *smārta dharma* and to doing good to the devotees.

Here indirectly try to reflect the Dimness of vedic religion. The *Vāyu Purāṇa* state that when the sacrifices become rare, *Viṣṇu* is born again and again for establishment of *Dharma* and for destroy *Adharma*.[10] And through a deep observation we can find to ever to protect vedic sacrifices it takes help from *Paurāṇika* God *Viṣṇu*. Here indirectly *Purāṇa* increased the important of itself towards common people.

Purāṇa's* homogenizing attitude along with *Veda

From our previous discussions we have got a picture of different places of the *Purāṇas* have infringed the vedic rituals. And now we are going to discuss the homogenizing attitude of *Purāṇas* along with *Veda*. If *Purāṇas* believed that the *Veda* is supreme then why in the *Varāha Purāṇa* state that reading the *Purāṇas* or listening to a recitation of them would destroy all sins. We know that in the *Veda*, some sacrifices were there to atoned of some sins.[11] But here *Purāṇa* does not mention that types of sacrifices and show the attitude like *Veda*. Which is not at all accepted. The next verses states that - *Pravāsa, Naimiṣāranya, Gangādwara, Puṣkara, Prayaga, Braṃhatīrtha* and *Amarkantaka*, from these places gain which type of result even more than that from listening this *Purāṇa*.[12] Here question arise that how far the *Purāṇas* ignore the *Veda* and for publishing self-greatness that raised hopes of crore results of impassion in common men minds. It is a self-contradictory statement from the view point of पुराणं वेदसम्मितम्. In the *Bhāgavata Purāṇa*, *Purāṇa* compared itself with *Veda*.[13] Here we see that *Purāṇa* projected itself as homogeneous along with *Veda*. Though we got some *Mantra* in the *Veda* for prayer of long living to prevent of three types of sorrows. *Ācārya Sāyana* states that- इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोः अलौकिकं उपायं यो ग्रन्थः वेदयति सः वेदः. Here the word अनिष्ट means prevention of three types of sorrows like *Ādhyātmika, Ādhidaivika* and *Adhibhautika*. Where incarnation of *Veda* was projected for prevention of three types of sorrows, the *Purāṇa* on the other hand justify पुराणं वेदसम्मितम् by project itself as preventor of sorrows like *Veda*. Again, *Bhāgavata Purāṇa* was compare itself with *Veda*.[14] Most important part of that verse is *Purāṇa* uphold itself as a way of achieving *Mokṣa*. If *Purāṇa* truly consented *Veda* then why the established way of getting *Mokṣa*, as mentioned in *Veda* were totally ignored. The last chapter of *Purāṇa* states this holy *Purāṇa* is abstract of the *Veda* and gain result like *Veda* by listening and reading of this.[15] The *kūrma Purāṇa* states that for *mokṣa*, *Veda* and *Smṛiti* are the only way.[16] But problem is the use of the word मद्रूपम्. By this word *Purāṇa* try to reflect greatness of itself and projected itself as an alternate way of *mokṣa*. This is somewhere seaming to minimize of greatness of *Veda*.

Trying to establish the *Purāṇas* superiority over the *Veda*

Until this, we have discussed the motives of *Purāṇas* to establish greatness by giving due respect to *Veda*. And from here we discuss that how *Purāṇa* established its greatness more than the *Veda* directly. The *Matsya Purāṇa* states that the *Brahmā* first thought of the *Purāṇas* before all other *Śāstra* and then the *Vedas* spring forth from his lips. Several *Purāṇas* are

spoken of as equal to the *Vedas*.[17] According to the Indian tradition *Veda* is unmanliness and protected by *Brahmā*. Therefore, *Veda* is first treatise of creation. But in some verses, it is mention that *Purāṇa* was the first thought of Brahmā,but it is actually the fact the veda is the first thought of *Brahmā*. It is also mentioned in *Purāṇa* that is constand. Which is humiliating, because the eighteen *Purāṇas* were wrote by *Vedavyāsa*. In this situation we must need to think about the justification of the statement - पुराणं वेदसम्मितम्. The *Bhāgavata Purāṇa* states that *Purāṇa* is the mysteries of all scriptures and agreeable of all *Vedas*.[18] By the uses of the words - सर्वशास्त्ररहस्य and सर्ववेदार्थसम्मत *Purāṇa* tried to make individuals identities. From this discussion we can come to the conclusion that some *Purāṇas* regard themselves as superior to *Veda* by telling the verses where *Purāṇa*_states, if someone knows the *Vedas* but unknown about *Purāṇa*, his or her knowledge does not fulfill.[19]

The system of *Barḍāśramadharma*

In the Vedic period there were four different castes likes-*Brāhmaṇa*, *Kṣatriya*, *Vaiśya Śūdra*. This caste system was established only for the maintaining a systematic society, not to deprive anyone. Even in *Puruṣa Sūkta* state that, these four castes were originated by *Puruṣa*.[20] *Purāṇa* emerged to give opportunity to the worship of all communities of the community. But in *Varāha Purāṇa* put tax on *Śūdras* for *yagña*.[21] If the *Purāṇas* has sympathy for the *Śūdras* then why it took remedy on them. In fact, at the time of *Purāṇas* the caste system become more and more prominent. That is why all *Purāṇas* were divided into three categories like *Vaiṣṇava, Brahma* and *Śaiva*. Further the *Pañcarātra*, *Bhāgavata*, *Pāśupata*, *Gūṇapatya*, *Śākta* etc. different communities was indulging in *Purāṇas*. In the *Purāṇas* we also can find the doctrine of *Sāṃkhya, Vedānta* etc. at the same time the doctrine of anti-Vedic like *Tantra* and *Āgama* are also there.

Conclusion

In this discussion we observe that *Purāṇa* never directly condemn *Veda*. But by some verses *Purāṇa* wanted to establish itself in society and to make acceptable to all. The Cause is, at that time the first scripter *Veda* was excepted to all. That is why *Purāṇa* used *Veda* for established itself in society. For example, in modern society we see science is acceptable to all. That is why if we want to establish a theory, we obviously explain the content of that theory on the basis in a scientific way; otherwise the theory can't be acceptable to all. In the same way when the *Purāṇa* was established in the society, and it was necessary to resort to the *Veda*, there was no other way. If we observe deeply, we see that at the begaining time *Purāṇa* raised as an optional to *Veda*. That is why *Purāṇa* was projected itself to us very

entertaining and on a very sensible way. Vedic religion was all about sacrifices and Vedic Gods were naturalistic and imaginary. Somewhere that is very difficult to imagine it. But in *Paurāṇika* religion all the customs were much easier in compare to *Veda* and the structure of the *paurāṇika* Gods were also very interesting. The *Purāṇa* used that psychology and tried to get closer to the human heart, and that was successfully conducted by *Purāṇa*. Further *Purāṇa* tried to get more public support by making them suitable for every human being. Since the Śūdra and the women had no right to *Veda*. All through we know the names of lady's, who were famous Vedic scholars at the Vedic time, though some restrictions were present there, But the *Purāṇas* had no restrictions. The customs of *purāṇas* were open to all. And that is why after some time *paurāṇika* literature was famous in society. Hence, we arrived in this conclusion that the incarnation of *paurāṇika* literature, *Purāṇa* used *Veda* to complete itself, even we see *Purāṇa* had some tendency to arise independently in society, and this is the tendency which make the difference between *Veda* and *Purāṇa*, and as a result of that *Purāṇa* was accepted more gracefully by the common men. This is main barrier of Vedic religion. Last but not the least we can conclude by remembering one of Rabindranath Tagore's words - *But it should always be remembered that in the work of religious publicity religion is come first and then publicity. It is not true that religion will be saved by publicity. If we protect religion, publicity can be done automatically.*

End Note

१. वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्रसंशयः।

२. अल्पवित्ते यथाशक्त्या स्तोकं स्तोकं समाचरेत्। यश्चाप्यतीव निस्वः स्यात् भक्तिमान् माधवं प्रति। पूर्ण्यार्चनविधानेन स कुर्याद्वऽसरद्वयम्।।

३. ....एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं.... ३.४.१। ....एतदितिहासपुराणमभ्यतप.... ३.४.२

४. ...अथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः....। वृहदारण्योपनिषद् – २.४.१०। ....चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं...। छान्दोग्योपनिषद्– ७.१.२

५. पञ्चवेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति। १.१०

६. वेदधर्म्मेषु हिंसा स्याद्धर्मवहुला सा। कथं मुक्तिप्रदो धर्मौ वेदोक्तो वल भूपते।। १.१८.४९

७. See and note no. 6

८. माताहं सर्व्ववेदानां सावित्री नाम नामनः। २.७४

९. इति सर्वान् समाश्चास्य गौतमो मुनिराट् .... प्रणवरुपिणि।। १२.९.१५–१६

१०. जज्ञे पुनः पुनर्विष्णुर्यज्ञे च शिथिले प्रभूः। कर्तुं धर्मव्यवस्थानमधर्मस्य च नाशनम्।। ९८.६९

११. यश्चैव कीर्त्तयेन्नित्यं शृणुयाद्वापि भक्तितः। सर्व्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्।। २१७.१२

१२. प्रभासे नैमिषारण्ये गङ्गाद्वारेऽथ पुष्करे। प्रयागे ब्रह्मतीर्थे च तीर्थे चामरकन्टके।। २१७.१३

१३. दीर्घायुर्भव सर्वज्ञ नापत्रयविवर्ज्जितः। कथयाद्य महाभाग पुराणं ब्रहसम्मितम्।। १.१.७

१४. तत्र भागवतं पुण्यं पञ्चमं वेदसम्मितम्। १.१.१६

१५. किं पुनर्वहुनोक्तेन सारं वक्ष्यामि तत्त्वतः। वेदसारमिदं पुण्यं पुराणं द्विजसत्तमाः।। वेदपाठसमं पाठे श्रवणे च तथैव हि। १२.१४.२५-२६

१६. तस्मान्मुक्षुर्धर्म्मार्थी मद्रूपं वेदमाश्रयेत्। १२.२५२

१७. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। ३.३

१८. तदहं सम्प्रवक्ष्यामि सर्वश्रुत्यर्थसम्मतम्। रहस्य सर्वशास्त्राणामागमानामनुत्तमम्।।

१९. यो विद्याचतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चेद् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः।।

२०. उरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।। ऋग्वेद १०.९०.१२

२१. उव्व्यां जातास्तु ये शूद्रा ब्राह्मणानां निवेदिताः। वृत्त्यर्थं ब्रह्मयज्ञार्थं करस्तेषु कृतो महान्।। ६०.७४

Bibliography (Primary Source)

- *Arthasaṃgraha* : Swami Bhargananda, Sanskrit pustakBhandar, Kolkata, 1411 (Bangabda).
- *Arthaṣāstra* : Anil Chandra Basu, Sanskrit Book Depot, Kolkata, 2005.
- *Bhāgavata purāṇa* : PancananTarkaratna, Navabharat Publishers, Kolkata, 1388 (Bangabda)
- *Chāndogya Upaniṣad* : Durgacaron Sankhyavedantatirtha, Dev Sahitya Kutir Private Limited, Kolkata, 2014.
- *Kūrma purāṇa* : PancananTarkaratna, Navabhārat Publishers, Kolkata, 1388 (Bangabda).
- *Matsya purāṇa* : PancananTarkaratna, Navabharat Publishers, Kolkata, 1392 (Bangabda).
- *Nāradīya purāṇa* : Pancanan Tarkaratna, Navabharat Publishers, Kolkata, 1397 (Bangabda).
- *The new vedic selection* : Braj Bihari Chaubey, Bharatiya Vidya Prakashani, Varanasi, 2007.
- *Nirukta* : Taraknath Adhikari, Sanskrit Book Depot, Kolkata, 2012.
- *Nirukta* (Part-III) : Amareswar Thakur, University of Calcutta, Kolkata, 2003.
- *Varāha purāṇa* : Pancanan Tarkaratna, Navabharat Publishers, Kolkata, 1401 (Bangabda).
- *Vāyu purāṇa* : PancananTarkaratna, Navabharat Publishers, Kolkata, 1397 (Bangabda).
- *Viṣṇu purāṇa* : PancananTarkaratna, Navabharat Publishers, Kolkata, 1390 (Bangabda).
- *Vṛhadāranyaka Upaniṣad (Part-II)*: Durgacharan Sankhya Vedantatirtha, Dev Sahitya Kutir Private Limited, Kolkata, 2011.

Secondary Source

- Bandyopadhyaya, Dhirendranath : *Sanskṛta Sāhityer Itihās,* Pachimbanga Rajya

Pustak Parsad, Kolkata, 2012.

- Bandyopadhyaya, Dhirendranath :*Upaniṣad - Itihās : Dharma: Darsana,* Sanskrit Book Depot, Kolkata, 2017.
- Basu, Yogiraj : *Veder Paricaya,* Farma K.L.M Private Limited, Kolkata, 2012.
- Bhargava, P. L.: *Vedic Religion and Culture,* D.K. Printword (P) Ltd, New Delhi, *2008*.
- Chattopadhyaya, Amar Kumar : *Vedic Yajña,* Sanskrit Pustak Bhandar, Kolkata, 1424 (Bangabda).
- Goyal, S.K. : *A Religions History of Ancient India (Vol-2),* Kusumanjali Prakashan, Meerut, 1986.
- Hazra, R.C. : *Studies in the purāṇic Records on Hindu rites and Customs,* Motilal Banarsidass, Delhi, 1987.
- Keith, A.B. : *The Religion and philosophy of theVedas and Upanishads,* Motilal Banarsidass, Delhi, 1989.
- Paranjpe, V.G. : Bloomfield Maurice,*Vedic Religion,* Motilal Banarsidass, Delhi, 1978.
- Sanyal, Indrani, Datta Sharma, Ratna : *Dharmanīti o Śruti,* Jadavpur University, Kolkata, 1415 (Bangabda).
- Thakur, Rabindranath : *Dharma,* Indian Publising House, Kolkata, N.D.

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

Ecological awareness of Paṇcamahābhūtas reflected in the Gautama-Dharmasūtras

Arup Sarkar*

Abstract : Today it has been a most valuable matter of discussion everywhere from village to parliament about the issue of environmental problem and ecological imbalance. Ecology is affiliated to various branches of studies. The ecological study can have many branches e.g. the ecological study on plants deals with plant ecology, that on animals concerns with animal ecology and the study on man deals with human ecology. It basically deals with the relationships between human beings and their surrounding natural elements. The behaviour of human being towards his nature, his attitude, feelings towards them, nature's impact on human life etc. are certain points to be studied do far ecological study is concerned. This human behaviour, attitude, feelings etc. become a cause to make balance or imbalance of ecology. Ecological Awareness is only being aware, being alert about ecology.

Vedic literature is replete with the values of discipline, conservation, peace, harmony and non-violence which have direct bearings upon the modern concept of ecology. The Dharmasūtras are based on the Veda. The human being is fully associated with the nature since Vedic period. Hence, this nature played an important role in the Dharmasūtras also. So, we have an attempt is made a studyon 'Ecological awareness of Pancamahābhūtas reflected in the Gautama-Dharmasūtras.'

Keywords : Ecology, Pancamahābhūta, Dharmasūtras, Ācāra', 'Vyavahāra', 'Prāyaścitta'.

The term 'Ecology' is coined from Greek word 'oikos' meaning 'house' or 'surrounding nature', and 'logos' means 'study of'. Therefore literary, ecology means the study of surrounding nature. Ecology mainly deals with the inter-relationships between human beings and their surrounding natural elements. The behaviour of human being towards his nature, his attitude, feelings towards them, nature's impact on human life etc. are certain points to be studied do far ecological study is concerned.

* Research Scholar (Ph.d), Department of Sanskrit, Banaras Hindu University, Varanasi

This human behaviour, attitude, feelings etc. become a cause to make balance or imbalance of ecology.

Since the time of creation the impact of nature on human civilization and culture existing was very important. All human being for the survival fully depended on nature directly or indirectly. If we peep into the Vedic literature it is interesting to know that *Veda* have several references in them on environmental protection, ecological balance, weather cycles, rainfall phenomena and related subject that directly indicated the high level of awareness of the seer and people.The Vedic seers were deeply affected by the apparently mysterious working of the awe-inspiring forces of nature. They also well to known the formation of body by paṇcatattva. -

पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषेऽर्पितानि।
एतत्वात्र प्रतिमन्वानोऽस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्।।[1]

If any of the five elements is contaminated them its impact will be reflected on human life. That's why Vedic seer advice to take oath for maintains balance of the nature in every religions activity. Vedic prayer invokes divine intervention to bless and protect the environment.

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः,
सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।[२]

In Vedic period, ancient people had established various relationships with natural elements. People had treated them as their parents and siblings. They had as if personified and deified to these natural elements and had treated them as their own family members.' **'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।।'**[३] Also another verse I.160.2 from *Ṛgveda-Samhitā* bears with the relationship between man and natural elements.[4]

The Vedic mantras reflect the primitive attitude of mind which looks upon all nature as living presence. We have already seen that men's attitude towards nature was well understood and is never dominating. Always our forefather have respected and praised to the natural elements. The Dharmasūtras are based on the Vedas. *Gautama-Dharmasūtra* associated with the *Samaveda.* Although the main subject matters of *Dharmasūtras* are deal with '*ācāra*', '*vyavahāra*', and '*prāyaścitta*' etc. but we find that the context of *Gautama-Dharmasūtra* which are speaks about ecological thoughts. The Earth, Water, Fire, Air, and Sky are all five elements (pancamahābhūta) are considered as an essential thing for human life. All these natural elements are meant for the service of mankind. Hence, here we would like to study upon the inter-relationships

between human beings and natural elements surrounded by them. Also the human behaviour, their felling, attitudes towards natural elements (pancamahābhūtas)and naturalimpact on human life.

Let us see how ancient people were aware of their environment, how they were inter-related with pancamahābhūtas namely Earth **(पृथिवी)**, Water **(अपः)**, Fire **(अग्निः)** , Air **(वायुः)** and Sky **(आकाशः)**.

Earth

'माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः'[५] The Earth is my mother; I am son of the Earth. This is the highest feelings of reverence and obligation toward earth which is stated that our ancient seers or predecessors before a immemorial. The word used to describe earth is *'dharani'* is derived from the Sanskrit root 'dhṛ', meaning to hold or bear. By reason of this, the Vedic seer realized the kindness and patience of the long enduring earth and approached her with praise -

'विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे।।'[६]

O purifying earth! I you invoke, o patient earth, by sacred word enhanced, bearer of nourishment and strength, of food and ghee, O earth we have would approach you with due praise!

Earth is the gracious leader and protectors of the world.[7] The earth is regarded as mother, she bears every thin in her womb. The earth is praised by seer to quote mantra -

'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।'[८]

The truth and honesty greatness and generosity; rules and moral, natural strength austerity with industry and labour, discipline, science and arts, and organization and sacrifice govern the destiny of the land (nation). May this earth in where in the whole past attainments of mankind are preserved and remain in plenty in store to be attained in future, yield as vast scope and opportunities for our life purpose.

When we come across the Gautama Dharmasūtra We find some sūtra which bears the ecological thoughts which is the theme of our study. Here we have seen the relation of man with earth is something different from Vedic period. Let us see how the people in *Dharmasūtra* period were aware of their environment. To quote some sutras and their English translations.

'दारुवदस्थिभूम्योः। आवपनं च भूमेः।'[९]

Tr : The bone and mud are cleaned by scraping, the same way as wood. Mud also cleaned by plastering. **'गोऽश्वपुरुषभूमिषु दशगुणोत्तरान्।'**[१०]

Tr : If a witness gives false testimony with regard to cattle , ten times as many ; with regard to horses, ten times as many as for cattle ; with regard to human being to land , ten time as many for human being.

'सर्वं वा भूमौ। हरणो नरकः।'[११]

Tr : If a witness gives a false testimony regard with land, he Slays all (human race). And if he steals lands, he goes to hell.

Water

Water is the very important element of the nature it is the essential asset of all living beings. Water is the main sources of food, which we need for alive. All the human being and other living being are regulated by the water. The Upanishad's seersaid that the water is the causation of creation.-**'एषां वै भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपः, अपामोषधयः, ओषधीनां पुष्पाणि फलानि, फलानां पुरुषः, पुरुषस्य रेतः।।**[१२] The earth is the essence of all these beings, water the essence of the earth, herbs of water, flowers of herbs, fruits of flowers, man of fruits, and seed of man.Vedic seers were aware about the importance of water. They are well to known medicinal side of water.The water has many synonymous words like apa, jala, udaka, also called as jivana which is very appropriate. So, we should grateful to the water and aware about its reservation.

Let us discuss about relation with water which are founds in Gautama Dharmasutra, giving some sutras which is speaks about ecological awareness.-**'मुत्रपुरीषस्नेहविस्त्रंसनाभ्यवहारसंयोगेषु च।'**[१३]

Tr : Which is done also when urine, excrement or semen falls on a person, or when one is stained with the remnants of food. **'अपामुपस्पशनम्।'**[१४]

Tr. : He (a Brahmin) should bath every day.

'चतुर्ऋचं तरत्समन्दीत्यत्सु जपेदप्रतिग्राह्यं प्रतिजिघृक्षन्पतिगृह्या वा।'[१५]

Tr : A person who years to accept or actually accepts something that he is forbidden to accept should stand in water and recite the four taratsamandi verse.

'ऋत्वन्तरारमण उदकोपस्पर्शनाच्छुद्धिमेके।'[१६]

Tr : A man who has sex with a woman during her menstrual period, according to some acharya,is purified by bathing.

Fire

Fire is the very important element of nature. All human living being are fully associated with fire for their basic needs and activities. Ṛgvedic

seer says that Agni is the source of energy. -

'जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।

घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः।।[१७]

O man! You should know well about the fire (energy) which is protector of the people, is ever awake, given of much strength, and enkindled by the oblations of ghee and which is pure. It is manifested for the acquisition of new prosperity with great light (of knowledge). It shines brilliantly for the upholders and supporters of the people. A Mantra from *Atharvaveda-Samhita* says the same thing. -

'आयुर्दा अग्ने जनसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने।

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानमि रक्षतादिमम्।।[१८]

The fire of Yajña is the giver of life, embodiment of effulgence and driving away the untimely senileness it is moistened with ghee. Consuming the sweet nice-cow-ghee is saves the disciple so as a father protects his children.

Let us see some sutras from Gautama Dharmasutra which is deals with ecological thoughts. -**'गुर्वभावे तदपत्यवृत्तिस्तदभावे बृद्धे स ब्रह्मचारिण्यग्नौ वा।'**[१९]

Tr : When his (a student) teacher is no more, he should serve his son, and there is no son an older fellow student or the sacred fire.

'भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा।। तस्मिन्गृह्याणि कर्माणि।।[२०]

Tr : Let him set up his sacred fire either on the day of his marriage or upon the division of the paternal estate. And perform in it his domestic rites.

शान्तिपुण्याहस्वस्त्ययनायुष्मन्मङ्गसंयुक्तान्यभ्यदयिकानि,

विद्वेषणसमवननाभिचाद्विपद्व्यृद्धियुक्तानि च शालाग्नौ कृर्यात्।।[२१]

Tr : He (a king) shall perform in the fire of the hall the rites ensuring prosperity which are connected with expiation (santi), festivals, a prosperous march, long life, and auspiciousness, as well as those that are intended to cause enmity, to subdue (encnaies), to destroy (them) by incantations, and to cause their misfortune.

'सोऽमावास्यां निश्यग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताच्यहुतीर्जुहोति।'[२२]

Tr : Such a student should kindle the sacred fire on the night of the new moon and offer as penance two oblations of ghee , while reciting ; 'O lust, I have spilled semen ! I have spilled semen, O lust ! to Lust, svaha !' he should then put a piece of firewood into the fire , sprinkle water around the fire, offer the *yajnavastu* oblition, come near the fire and worship it three times, reciting the verse may the marutas sprinkle me.

Air

Air is the most important elements of the nature. Without air all living being cannot live a moment. All the activities of any type of living beings are associated with air. It regulates our whole body and internal organs also. For this very reason we much know about air and keep regard on it. The Vedic seers we also aware about this air and praised and worshiped on air.

When we come across Gautama Dharmasūtra, we find some sūtras which bears ecological thoughts on air. Let us quote sutras -

'न वाय्वाग्निविप्रादित्यापो देवता गाश्च प्रति पश्यन्वा मुत्रपूरीषाम्ध्यान्व्युदस्येत'[२३]

Tr : A Brahmin (he has completed his studies) should not discharge urine, excrement or bodily filth facing or looking at the wind, a fire, a Brahmin, the sun, water, a divine image, or a cow. **'नाधीयीत वायौ दिवा पांसुहरे।'**[२४]

Tr : He (a student) should suspend Vedic recitation during daytime when wind whirls up the dust.

'अमत्या पाने पयो घृतमपदकं वायु प्रतित्र्यहं तप्तानि स कृच्छ्रस्तयोऽस्य संस्कार।'[२५]

Tr : (A Brahmin) If he has drunk it inadvertently, he should subsist on hot milk, hot ghee, hot water, and hot air, for a period of three days each; this is the arduous penance. After that he should undergo initiation.

Sky

The sky is the very important element of pancamahābhūta. Ākāśa generally translated as sky, space, ether, or haven. Sky is that all-pervading and all-penetrating substance found everywhere in the universe, of which tangible object are gross manifestations. It is the first material elements to be involved from Barman. Let us some sutras which bears the testimony relation about sky.-

'तिष्ठेत्पूर्वामासातोत्तरां स ज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनाद्वाग्यतः।'[२६]

Tr : (After initiation) Controlling his speech, he should remain standing during the morning twilight worship from the time the stars are still visible until the sun comes into view the time the sun is still visible until the stars come into view.

'रोहितेन्द्रधनुर्नीहारेषु।'[२७]

Tr : A Brahmin student suspension of Vedic recitation when the Sky turns crimson; when a rainbow appears and when there is frost on the ground.

'सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सवित्रीम्।[२८]

Tr : Someone who is asleep at sunrise should stand during that day, remaining chaste and without eating any food. While someone during who is asleep at sunset should stand during that night reciting the sāvitri verse.

All references mentioned here sufficiently speak about the general attitude of people then society towards nature.They also make the desire of seers evident that let man live happily together not only with the nature and its elements but also with the deities and super human beings.We have already seen that human behaviour, attitude, feelings etc. become a cause to make balance or imbalance of ecology. By the moral teaching of *Dharmasūtras,* one may learn how to maintain the relation with his society, and surrounding elements. If we are just a part of a whole universe and we have to share everything rationally with other beings. Our attitude, feeling, and behaviour should not be dominating towards others. One should treat the whole world as one family. It is obvious that the relationship of man and with nature it's very much important so far ecological study is concerned. When this relation is a healthy one, the balance between two is well maintained. If this relationship is disturbed then, there happens disharmony. These urges of unity among all who constitute the cosmos amply show their awareness of the principle of harmony which is the necessity of all types of balance and also the ecological balance. This study may give insight to many aspects of human awareness about ecological studies.

References :

1. Vājaśaneyisamhitā, XXIII.52
2. Vājaśaneyisamhitā, XXXVI.17
3. Ṛgveda samhitā, I.1.9
4. **उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भननानि रक्षतः।**
   सुधृष्टमे वपुष्ये न रोदसी पिता सत्यमभि रुपैरवासयत्।।
5. Atharvavedasamhitā, XII.1.12
6. Atharvavedasamhitā, XII.1.29
7. Atharvavedasamhitā, XII.1.48
8. Atharvavedasamhitā, XII.1.1
9. Gautama Dharmasūtra, 1.1.30-31
10. Gautama Dharmasūtra, 2.4.15
11. Gautama Dharmasūtra, 2.4.16-17
12. Bṛhadāranyaka Upaniṣad, 6.4.1
13. Gautama Dharmasūtra, 1.1.47
14. Gautama Dharmasūtra, 1.2.14

15. Gautama Dharmasūtra, 3.6.2
16. Gautama Dharmasūtra, 3.6.4
17. Rgveda samhita, V2.1
18. Atharvavedasamhitā, II.13.1
19. Gautama Dharmasūtra, 1.3.7
20. Gautama Dharmasūtra, 1.5.6-7
21. Gautama Dharmasūtra, 2.2.17
22. Gautama Dharmasūtra, 3.7.3
23. Gautama Dharmasūtra, 1.9.13
24. Gautama Dharmasūtra, 2.7.5
25. Gautama Dharmasūtra, 3.5.2
26. Gautama Dharmasūtra, 1.2.7
27. Gautama Dharmasūtra, 2.7.9
28. Gautama Dharmasūtra, 1.5.21

Bibliography

- Atharvaveda Saṁhita (with mantranukramani), Ed. Narayana Singh, Nag Prakashan, New Delhi, 1994.
- Gautama-Dharmasūtraṃ, Ed. Pramodvardhan Kaundinnyayan, Chaukhambha Vidyabhavan, Varanasi, 2015.
- Jena, Niranjan. Ecological awareness reflected in the Atharvaveda. Delhi: Bharatiya kala Prakashan, 2002.
- Karmondey, E. J.. Concept of Ecology. New Delhi: prentice hall of India print pvt. Ltd., 1996.
- Moghe, S.G.. Some Aspect of the Studies of Dharmasūtra. Delhi: Bharatiya Kala Prakashan, 2003 (1st Edition).
- Olivelle, Patrick. Dharmasūstras (The Law code of Āpastambha, Gautama, Baudhayana and Vaśisṭha). Delhi : Motilal Banarasidas publishers pvt. Ltd., 2000(1st Edition).
- Ṛgveda (Part I-Vii, Mandala I-X), Ed. Vishva Bandhu, Vishvesh Varananda Vedic research institute, Hoshiarpur, 1963-1965.
- The Gautama-Dharmasūtra(with mitaksra Sanskrit commentary of haradatta), Ed. Umesh Chandra Pandey, Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi, 2013(Reprint).
- The Bṛhadārayaṇka Upaniṣad(with the commentary of sankaracārya), Tr. Swami Madhavananda, Advaita Asrama, Mayavati Almora, Himalayas, 1950 (3rd edition).
- Vannuci, M.. Human Ecology in the Vedas. New Delhi: D.K. printworld (p)Ltd., 1993.

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

A Sudra Critique of Hindu Social Order

Amalesh Kr Pradhan*

The term 'Hindu'- 'Hinduism' has a wider connotation, it cannot be defined in a single sentence or no single notion is applicable to address Hinduism. But to understand *Shudra* perspective of Hindu social order we would specify the term 'Hinduism' which is applicable in the Indian subcontinent and associated with *sanatan* Hindu rites and rituals. This Hinduism is based on the *Varna* system which allowed the society to get divided into four *Varna-Brahmin, Kashtriya, Baishya* and *Sudra.*

The hierarchical structure of Hindu social order has created a lot of problems in the present day society. Long days ago, Ambedkar realized this reality and fought against this discrimination throughout his life. He, himself, was a victim of caste discrimination, oppression and 'touch-me-not-ism'. Hindu religious order recognizes the unequal social order which promotes the division of work and social stratification in terms of prestige and position. If we follow the various canonical religious texts it will be clearly visible that the structure of social hierarchy has been supported in the different religious texts.

In the apauruseya *Veda* it is revealed that,

Brāhmaṇo 'sya mukhamāsīd bāhū rājanyaḥ kṛtaḥ/
Ũrū tadasya yadvaiśyaḥ padbhyāṁ śūdro 'jāyata//

(Ṛgveda 10.90.12)

In the above verses it is clearly mentioned that the people are created from the different parts of the Divine body and his social position is determined on the basis of his position of birth. As a lower caste *sudra* has been originated from leg, (*padbhyāṁ*) the inferior organ of the Divine body. So they are not entitled to enjoy the equal rights as enjoyed by the other caste people of the society.

Smith (2012) observed that the *apauruseya* nature of the *Vedas* is unquestionable, so caste system itself was protected by the canonical text like *Veda*. According to him "The caste system can thus be presented as canonical: the authority of caste derives from the authority of Veda, but

* Assistant Professor, Department of Political Science, Sidho-Kanho-Birsha University. West Bengal

more than that caste is made to appear as a social transformation or reduplication of canon. The legitimacy, or even indisputability, of the distinctive social scheme of historical and contemporary India rides piggyback on the unquestionable truth of the Veda, and both are part of the eternal cosmic order of things. Any challenge to either the sociological or the scriptural structure can be debunked as obviously "unnatural" and false. So we may say that this caste system has got its recognition and legitimacy from the supreme text like the *Vedas*.

In the *Ramayana* Shambuka, a *sudra* was killed by Rama due to the offence of practicing penances which was a violation of dharma. In those days, performing penance by a *sudra*, a lower caste people was treated as the violation of *dharma*. And this was the cause of the death of *Brahmin's* son. Ramchandra, being the highest authority to deliver justice killed Shambuka.

In the *Mahabharata* the deprivation of lower caste people has also been depicted. Eklabya was deprived from acquiring knowledge from *Rajguru* Dronacharya as he belonged to the lower caste community. But while he succeeded to learn archery, keeping in mind the image of *Guru* Dronacharya, he had to sacrifice his right index finger as *gurudakshina*. So in this episode also, we see the lower caste people were debarred from the equal accession.

The discrimination and inequality has been portrayed in the Manusmriti also. It is found in terms of the law of slavery, law of marriage, law of punishment and law of *samaskaras*. According to Manu, the twice born classes are entitled to enjoy all sorts of privileges and the lower caste Sudras have been debarred from enjoying social benefits and allotted discriminatory provisions.

Kancha Ilaiya (1998) observed that the notion of Bhagbat Geeta is also associated with the imbalance of the society. What he noticed that the relationship between labour (*karma*) and wages (*phala*) was established several centuries before the establishment of the medieval kingdoms or the colonial administration. According to him the *karmacharies* must fulfill their *karma*, but the *phala* must be left for the lord, i.e. the Brahmin, the Baniya or the Kshatriya. The hegemonic theory for exploitation, control and manipulation of *Dalitbahujan* masses was established in *Bhagbat Geeta*.

Ambedkar was highly critical of the so-called dominant structure of Hindu religion. He realized that the causes of social untouchability, deprivation and exploitation are deeply rooted in the Hindu social order. Ambedkar (2010) argued that inequality is the soul of Hinduism. He also observed that the fundamental human values like fraternity, equality and

justice have been neglected in the philosophy of Hinduism. Ambedkar (2007) considered that caste has a deplorable effect on ethics. According to him the caste system has killed the public spirit and the sense of charity: and as a result of this the virtue and morality have become caste ridden and caste bound. In his opinion the problem of caste is related with four main points: 1) that in spite of composite make up of the Hindu population, there is a deep cultural unity; 2) that caste is a parceling into bits of a larger cultural unit; 3) that there was one caste to start with; and 4) that classes have become castes through imitation and excommunication (Ambedkar, 2013).

He considered that nothing can be built up on the foundation of caste. If anything is made on the foundations of caste that would be crack and never be a whole. So the vital question which can be raised - how to bring about the reform of the Hindu social order? or, how to abolish caste? It is one of the important formulas as suggested by Ambedkar that caste will cease to be an operative only when inter-dinning and inter-marriage have become matters of common course (Ambedkar, 2007).

Ambedkar observed (cited by Moon, 2014) "If Hindu Raj does become a fact, it will no doubt, be the greatest calamity for this country. No matter what Hindus say, Hinduism is a menace to liberty, equality and fraternity. On that account it is incompatible with democracy."

Ambedkar felt that there is no other alternative except conversion. In his opinion if anybody belongs to Hinduism then there is a scope of deprivation and exploitation, but while he will not be identified as Hindu he will go beyond the jurisdiction of Hindu religious control. So he advised his followers that conversion is the only way of emancipation and development. And he firmly declared "I solemnly assure you that I will not die a Hindu" (Ambedkar, 2004).

So as a corollary, as pointed out by Ambedkar inequality in the society is in built and deeply rooted in the Hindu Social order. Through the overall discussion a common perception may be drawn that Ambedkar was partial and highly critical about the Hindu Social order; but in reality till today, in our society the lower people are facing caste based oppression, discrimination. People from lower caste community are debarred to enter into the temple.

If we see in the present day society, the lower caste people are not equally treated, they are not allowed to participate equally in the religious sphere, in the social sphere they are discriminated and exploited by the upper caste or, socially they are marginalized. Various acts have been enacted to protect the lower caste people. Despite these legal protections,

till the day untouchability is practiced in our society, people are humiliated and attacked in public (Shah *et al*: 2006).

References:

- Ambedkar, B R. (2004) *Conversion as Emancipation*. New Delhi: Critical Quest.
- Ambedkar, B R. (2007) *Annihilation of Caste*. New Delhi: Critical Quest.
- Ambedkar, B R. (2010) *Swaraj & the Depressed Classes*. New Delhi: Critical Quest.
- Ambedkar, B R. (2013) *Hindu Social Order*. New Delhi: Critical Quest.
- Ambedkar, B R. (2013) *Castes in India*. New Delhi: Critical Quest.
- Ilaiah, K. (1998) *Towards the Dalitization of the Nation* in Chatterjee, P. (ed) *Wages of Freedom: Fifty Years of the Indian Nation State*. New Delhi: Oxford University Press.
- Ilaiah, K. S. (2019) *Why I am not a Hindu*. New Delhi: Sage Publication.
- Moon, V. (ed.) (2014) *Dr. Babasaheb Ambedkar Writings and Speeches,* Vol-8. New Delhi: Dr. Ambedkar Foundation, Ministry of Social Justice and Empowerment, Govt. of India
- Shah, G., Mander, H., Thorat, S., Deshpande, S. and Baviskar, A. (2006) *Untouchability in Rural India*. New Delhi: Sage publication Ltd.
- Smith, B. K. (2012) *Veda & Varna*. New Delhi: Critical Quest.

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

नागेशदिशा शक्तिस्वरूपविमर्शः

मौमिता चौधुरी*

शोध-आलेखसारः

व्याकरणदार्शनिकतत्त्वम्, शक्तिस्वरूप इति विषये नागेशभट्टः, कौण्डभट्टः, नैयायिकाः, मीमांसकाः- इत्यादि मतम् आलोचितम्। मञ्जूषादिग्रन्थेषु वाच्यवाचकभाव एव शक्तिः, पदार्थान्तरं शक्ति इति मीमांसकानां मतं खण्डितम्। का नाम शक्तिरिति जिज्ञासायामुच्यते - ईश्वरेच्छारूपा शक्तिरिति अभिमतं खण्डितम्। शक्तिविषये वैयाकरणमतं प्रतिस्थापितम्।

वृत्तिविषयकसंस्कारस्य सत्तायां वृत्तिविषयकस्मृतिर्हि भवति प्रमाणम्। '**यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्।**'[१] किञ्च गौतमसूत्रेऽपि '**शाब्दश्चाप्तोपदेशः प्रमाणमिति**'[२] लिखितमस्ति। कारणं यथा संस्कारहीनस्य स्मृतिर्न भविष्यति, तथैव वृत्तिहिनस्मृतिनां शाब्दबोधो नैव भविष्यति।

वृत्तिशब्दस्यार्थः

वृत्तु धातोः अर्थे वर्त्तते शब्दः अनया इति व्युत्पत्या करणे क्तिन् - प्रत्यये वृत्ति इति पदं निष्पद्यते। शाब्दबोधानुकूलपदार्थज्ञानजनकज्ञानविषयः पदपदार्थयोः सम्बन्धविशेषः वृत्तिरिति। वृत्तिरयं भवति त्रिधा, यथा- अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना च। अत्र अभिधा वा शक्तिविषये नागेशमतानुस्मृत्या विश्लेषणमुपस्थाप्यते मया। शक् - धातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति सूत्रेण क्तिन् प्रत्ययेन 'शक्यते जेतुमनया' - इति व्युत्पत्या शक्तिशब्दो निष्पद्यते। अस्य शब्दस्य '**कार्यजननसामर्थ्य**'[३] मिति अर्थः शब्दकल्पद्रुमे लिखितः। '**शक्तिः पराक्रमप्राणौ**'[४] इति लिखितमस्ति अमरकोषे। येषां व्याकरणशास्त्रीयार्थी भवति मुख्यार्थस्य वाक्यार्थस्य या बोधिका सा अभिधा शक्तिर्वा। शक्तिविषये वैयाकरणेतराणां वैयाकरणानां च भिन्नं भिन्नं मतं दृस्यते। यथा-

शक्तिस्वरूपसम्बन्धे नैयायिकानां मतम्

तत्र का नाम शक्तिरिति जिज्ञासायामुच्यते - 'अस्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्यः इति अर्थविशेष्यिका।' 'इदं पदमिमर्थं बोधयतुं' इति पदविशेष्यिका वा ईश्वरेच्छा शक्तिरिति। तेषां मते आधुनिकसंकेतेऽपि शक्तिरस्त्येव, यतः 'एकादशेऽह्नि पिता नाम कुर्यात्' इति श्रुतिवाक्यं विद्यते। परन्तु आधुनिकैः नैयायिकैः तन्मतं न स्वीकृतम्। यतः आधुनिके सङ्केतिते नदी, भ, पद, वृद्ध्यादि पदे ईश्वरेच्छा शक्तिः नास्ति। अतएव नव्यैः नैयायिकैः इच्छासामान्येव शक्तिरिति अभिहितम्।

नैयायिकमतं वैयाकरणेभ्यः न रोचते। यदि प्राचीननैयायिकानां मतम् अङ्गीक्रियेत तर्हि आधुनिकग्रामनगर्यादिनामसु ईश्वरच्छायाः अभावात् शक्तिः न सिध्येत्। न च तत्र शक्तिभ्रमात् लक्षणया वा

* शोधच्छात्री, संस्कृतविभागः, वर्धमानविश्वविद्यालयः गोलापबागः, वर्धमानः, पश्चिमवङ्गः

बोध इति वाच्यम्। गौरवात् । किञ्च –

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यात् व्यवहारातश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेः वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।"[५]

इत्यस्मात् श्लोकात् ज्ञायते शक्तिग्राहकप्रमाणानि व्याकरणोपमानादीनि एव। शक्तिज्ञानं वृद्धव्यावहारात् जायते। तथाहि तद् प्रयोजकवृद्धेन 'घटमानाय' इत्युच्यते तस्य वाक्यं श्रुत्यैव प्रयोजकवृद्धः घटमानयनार्थं यतते। तस्मिन् समये तथा कुर्वन् प्रयोज्यवृद्धं पश्यता बालकेन इदम् अनुमीयते यत् – अयं प्रयोज्यवृद्धः घटमानयनकार्यं मदीयाधीनमिति ज्ञातवान्। घटानयनविषयकचेष्टावत्वात्। प्रयोज्यवृद्धस्य यत् ज्ञानजातं तत् ज्ञानं वाक्यादेव जायते। यतः 'घटमानय' इति वाक्यं श्रवणाव्यवहितोत्तरमेव तस्य प्रयोज्यवृद्धस्य प्रवृत्तिःभवति। एतस्मात् अनुमीयते ज्ञानजनकत्वं वाक्ये एव।

किञ्च पदादिषु अपि आवापोद्वापाभ्याम् अन्वयव्यतिरेकेण पदार्थविषयकबोधजनकत्वं निश्चीयते। तत् च बोधजनकत्वं पदे वाक्ये पदवाक्ययोः अर्थेन सह सम्बन्धाभावे न सम्भवति। यथा यदा पुरुषस्य विषयेण सह इन्द्रियाणां सम्बन्धः भवति तदा ज्ञानं जनयति। अतः घटेन सह सम्बन्धः विनैव चक्षुरादिज्ञानं न जनयति। तथैव अत्रापि अर्थेन सह सम्बन्धाभावे बोधजनकत्वं नोपपद्यते। अतः कारणत्वान्यथानुपपत्या कल्पमानः शक्तिरूपः कारणसम्बन्धः ज्ञानरूपकार्योत्पत्तेः प्रागेव अपेक्षते। किन्तु प्राचीननैयायिकाभिमतस्य ईश्वरेच्छारूपस्य, नव्यनैयायिकाभिमतस्य इच्छारूपस्य वा सम्बन्धत्वं तदानीमसिद्धत्वेन ज्ञाताया: एव शक्तेः बोधजनकत्वेन नैयायिकाभिमतशक्तिज्ञानस्य असम्भवात् नैयायिकमतं न समीचीनम्।

मीमांसकानां मते शक्तिस्वरूपम्

मीमांसकमते तु शक्तिः पदार्थान्तरम्। अर्थात् अनुभव्यानुभावकत्वं, प्रत्ययप्रत्यायकभावापरपर्याय–शब्दार्थयोस्सम्बन्धः शक्तिः इति मीमांसकैः अभिमतम्। सा च पदपदार्थयोर्वाच्यवाचकभावनियामिका। वैशिष्ट्याख्यासम्बन्धेनार्थनिष्ठा सा शक्तिः, प्रतियिगित्वसम्बन्धेन च पदनिष्ठेति इति।

प्राचीनवैयाकरणानां मते शक्तिस्वरूपम्

प्राचीनवैयाकरणास्तु बोधजनकतां शक्तिमाहुः। तथा च उक्तं भूषणसारे भट्टोजिदीक्षितैः –

"इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।।"[६]

अर्थात् चक्षुरादिनां स्वविषयेषु चाक्षुषेषु घटादिरूपेषु यथाऽनादिर्योग्यता तदीयचाक्षुषादिकारणता, तथा शब्दानामपि अर्थेन सह तद्बोधकारणतैव योग्यता, सैव शक्तिरिति तात्पर्यम्।

नागेशाचार्यस्य मते तु वाच्यवाचकभाव एव शक्तिरिति अनुपदमेव स्फुटीभवति। तद्विषयकशाब्दबोधं प्रति तत्पदनिष्ठवृत्तिज्ञानजन्यपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावः स्वीकर्तव्यः। एवञ्चाकाशस्य वृत्याऽनुपस्थितत्वात् शाब्दबोधे भानं न भवति इति। अर्थात् पदपदार्थयोर्वाच्यवाचकभावलक्षण एव सम्बन्धर्हि शक्तिरिति स्पष्टते। यत्र वाच्यवाचकभावस्त्वखण्ड एव, न तु वाच्यश्च वाचकश्च वाच्यवाचकौ तयोर्भावो वाच्यवाचकभावः। तत्र द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य भावशब्दस्य वाच्यवाचकयोरुभयत्रान्वयात् वाच्यत्वं वाचकत्वं चार्थः। यतो 'द्विष्ठः सम्बन्धः' इति व्यवहारो भवतीति वाच्यत्व –वाचकत्वयोश्च द्विष्ठत्वं न सम्भवति। वाच्यत्वं वाच्ये वाचकत्वं च पदे विद्यते, नहि पदपदार्थयोः। तथा च नैयायिकानामीश्वरेच्छा

शक्तिरिति मतं वैयाकरणेभ्यो रोचते, इच्छायाः सम्बन्धयोराश्रयतानियामकत्वाभावेन सम्बन्धत्वासम्भवात्। कारणं सम्बन्धो हि सम्बन्धिद्वयभिन्नत्वे सति,[७] द्विष्ठत्वे च सति आश्रयतया विशिष्टबुद्धिनियामको भवति। तद्यथा घटवद् भूतलमित्यत्र घटभूतलयोः यः संयोगसम्बन्धः स घटसम्बन्धितः भूतलसम्बन्धितश्च भिन्नः द्वयोर्घटभूतलयोर्निष्ठो घटनिरूपितो यः संयोगस्तदाश्रयो भूतलमिति विशिष्टा या बुद्धिर्बोधस्तन्नियामकश्च वर्तते। तथाऽत्र घटशब्दः घटशब्दार्थो वा इच्छावान् इति व्यवहारो नैव दृश्यते।

एवञ्च नात्र तथा घटशब्दः इच्छावान् इति व्यवहारो न भवति। इच्छाया आत्मनो गुणत्वात् पदपदार्थबोधानामचेतनवान् तेषां गुण इच्छा न भवितुमर्हति, सः सम्बन्धोऽपि न कस्यापि भवितुमर्हति। अतएव पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरभूता तार्किकसम्मतेच्छादिसम्बन्धभिन्नमेव वाच्यवाचकभावापरपर्याया एव शक्तिः प्रसिद्धैवेति सारम्। तर्हि नागेशभट्टेनोक्तं यत् – "ज्ञानप्रयत्नाभ्यां विनिगमनविरहेण परिशेषे मानाभावात् सर्वेषां तत्त्वे गौतवाच्च पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः।"[८] तस्मात्पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः वाच्यवाचकभावापरपर्याया इति च सिद्ध्यति। यत्र अखण्डस्य वाच्यवाचकभावस्य सम्बन्धत्वं तु सम्बन्धिभ्यामर्थपदाभ्यां भिन्नतया पदपदार्थनिष्ठत्वेन द्विष्ठतया वाच्यवाचकभावसम्बन्धेनार्थवान् शब्द इति व्यवहारेण विशिष्टबुद्धिनियामकतया च निर्विवादं सिद्ध्यति। यत्र भर्तृहरिणाऽपि[९] पदपदार्थयोर्मध्ये शक्तिना सह सम्बन्धस्योपस्थितिः स्वीक्रियते। यस्य समर्थने मञ्जूषाकारोऽपि शक्तिं कार्योपादने उपकाररूपेण स्पष्टते।[१०] किन्तु पदपदार्थवत् वाक्य- वाक्यार्थेऽपि अस्य सम्बन्धस्य उपस्थितिः वर्तते। तस्मात्कारणादेव वात्सायनादिवैयाकरणाः व्याकरणं हि सङ्केतज्ञानाय 'पदरूप- वाणी' इत्यस्य ज्ञापकं मन्यते । तर्हि न्याय – मीमांसादिना मते पदवत् वाक्येऽपि ईश्वरीयसङ्केतमस्थितिः स्पष्टीभूतं भवति। किन्तु वस्तुतो मतमिदं न ग्रहणीयं कारणं – 'अयमेतच्छक्यः', 'अत्रास्य शक्तिः', इत्यादिप्रयोगेभ्यः सङ्केतभिन्नशक्तेरूपस्थितिः प्रतीतो भवति। अतः सङ्केतं शक्तिरूपेण न स्वीकरणीयम्। यस्य सामान्यं प्रमाणं वाचस्पतिमिश्रस्य तात्पर्यटीकायां[११] वर्तते। तर्हि सङ्केतात् पदपदार्थयोः 'तादात्म्यसम्बन्धरूपं पारस्परिकमध्यासरूपं वा' ज्ञानं भवति। तथा च तादात्म्यसम्बन्धर्हि वाच्यवाचकभावरूपशक्तेर्द्योतको भवति। यस्याय 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म', 'रामेति द्वयक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः' एवञ्च 'वृद्धिरादैच्' आदयः संज्ञाः प्रमाणानि भवन्ति। यत्र तादात्मसम्बन्धस्य स्वरूपनिर्णयकाले नागेशाचार्येणोक्तं[१२] यत् – "तादात्म्यं च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्।" किन्तु नैयायिकाः नागेशाचार्यस्य तादात्म्यसम्बन्धस्य प्रत्याक्षानावसरे उक्तं यत् यदि शब्द–अर्थे तादात्म्यसम्बन्धस्य स्वीकारो जायते तर्हि मधुशब्दोच्चारणे तत्क्षणादेव आश्ये मधुरत्वं प्रतीति भवेत्, तथा च वह्निरुच्चारणे दाह्यकर्मस्य। किन्तु नागेशाचार्यस्तस्य[१३] स्पष्टतया निराशनं कुर्वन्ति यत् – "तन्न भेदाभेदस्योपपादितत्वात्।" अर्थात् तादात्म्यसम्बन्धात् केवलं अभेदस्य न ग्रहणीयम् अपितु भेदादभेदस्यापि ग्रहणीयम्। अनेन नैयायिकानां निर्दिष्ट आपत्तिः विनश्यति। प्रकान्तरेण मञ्जूषाकारो[१४] न्यायमतं प्रत्याक्षानकाले उक्तम् – "वस्तुतो बौद्ध एवार्थः शक्यः। पदमपि स्फोटात्मकं प्रसिद्धम्। तयोस्तादात्म्यम्। तत्र बौद्धे वह्नयादावर्थे दाहादिशक्तिमत्वाभावात्।" अर्थात् बौद्धः अर्थस्य शक्यस्तथा बुद्धिगतस्फोटस्य पदो भवति, तेन द्वयोर्मध्ये तादात्म्यसम्बन्धस्योत्पत्तिः स्वाभाविको भवति। अस्मात्कारणादेव बुद्धिगतवह्न्यादिपदे दाह्यादिशक्तिमत्त्वाया अभावो जायते। अस्य बौद्धार्थस्य शब्देन अभिव्यक्तिसाधनेन 'बन्धासुतः' आदिस्थले प्रातिपदिकनिमित्तकस्वादिकार्यं सम्भवं भवति।[१५]

एतस्मादनुशीलनात् ज्ञायते नैयायिकमतं नैव समीचीनं प्रतिभाति। अतएव सिद्धान्तरूपेण वक्तुं शक्यते

यत् लघुमञ्जूषायां परमलघुमञ्जूषायाञ्च नागेशभट्टेन वाच्यवाचकभावः शक्तिः, शब्दार्थयोस्तादात्म्यं सम्बन्धः, स च शक्तीनामपि शक्तिरित्युक्तम्। यत्र सिद्धान्तमञ्जूषायां बोधजनकत्वमेव शब्दशक्तिरिति प्राचीनवैयाकरणमतं स्वीकृतम्।

पादटीका

१. महाभाष्य, प.आ., पृ – ३८
२. गौतमसूत्र १.१.३
३. शब्दकल्पद्रुमः, पञ्चमकाण्डः।
४. अ. को., पृ. – २९७
५. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली।
६. वै. भू., शक्तनिर्णये, पृ. २०३
७. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणे।
८. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणे।
९. वाक्यपदीयम्, ३.३.४
१०. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणे।
११. न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका, २.१.४४
१२. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणे।
१३. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणे।
१४. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणे।
१५. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणे।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

शिक्षा का अधिकार कानून और प्रारम्भिक शिक्षा के निजीकरण में वंचितों की समावेशी पहल : एक नीतिगत समीक्षा

सुधांशु कुमार सिंह*

सारांश

राष्ट्रीय शिक्षा नीति १९८६, जिसे (एनपीई १९८६/९२) में संशोधित किया गया था। इस नीति के बाद से शिक्षा के क्षेत्र में एक बड़ा कदम निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम २००९ रहा है जिसने सार्वभौमिक प्रारम्भिक शिक्षा सर्वसुलभ कराने हेतु कानूनी आधार उपलब्ध करवाया। शिक्षा के अधिकार अधिनियम, २००९ की धारा १२(१) (सी) के जरिए निजी गैर-अनुदानित मान्यता प्राप्त स्कूलों में सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर व अलाभान्वित समूहों के बच्चों को पहली या नर्सरी कक्षा में प्रवेश हेतु कुल सीटों में से पच्चीस फीसदी आरक्षित कोटे के प्रावधान को सुनिश्चित किया गया। यह प्रावधान निजी अभिजात्य माहौल में वंचित बच्चों को मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक रूप से आ सकने वाली समस्याओं को नजरअंदाज करते हुए निजी मालिकों की समस्याओं को सुलझाने और पच्चीस फीसदी कोटे के शुल्क की प्रतिपूर्ति किस तरह से की जाये इस बात पर केन्द्रित हो गया। इस पच्चीस फीसदी तयशुदा जिम्मेदारी से तो निजीकरण की रफ्तार आगामी समयान्तरालों में बढ़ेगी। निजीकरण से आर्थिक असमानता भी बढ़ती रहेगी।

मुख्य शब्दावली- *शिक्षा का अधिकार, निजीकरण, पच्चीस फीसदी कोटा।*

प्रस्तावना

शिक्षा के अधिकार अधिनियम, २००९ की धारा १२(१) (सी) को बनाने के पीछे सरकार की मंशा है कि इस देश के गरीब व वंचित समुदाय, आर्थिक एवं सामाजिक रूप से सुविधा सम्पन्न बच्चे तीन वर्ष की आयु से ही साथ में पढ़ें और सीखें। धीरे-धीरे साथ बड़े होते हुए एक दूसरे की परिस्थिति व समस्याओं को समझें। इन समस्याओं का साथ में हल निकालें तथा एक दूसरे की योग्यताओं की सराहना करें। जिससे कि भविष्य में संवैधानिक मूल्य जैसे- समता, समानता व स्वतंत्रता के साथ भविष्य में बेहतर भारत के बेहतर नागरिकों की कल्पना की जा सके।

शिक्षा के अधिकार अधिनियम का विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय सम्पूर्ण भारत पर होगा। इस अधिनियम की कोई भी बात मदरसों, वैदिक पाठशालाओं और मुख्यतः धार्मिक शिक्षा प्रदान करने वाली शैक्षणिक संस्थाओं पर लागू नहीं होगी। निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार

* शोध-छात्र, शैक्षिक अध्ययनशाला, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)।

अधिनियम, २००९ की धारा (१) के उपखण्ड (घ) के अनुसार अलाभित समूह के अन्तर्गत कोई भी निःशक्त बालक, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ा वर्ग या सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, भौगोलिक, भाषा, लिंग या ऐसी अन्य बात के कारण, जो समुचित सरकार द्वारा विनिर्दिष्ट की जाए, ऐसे समूह का कोई भी बालक या बालिका होंगी। इसी अधिनियम की धारा (१) के उपखण्ड (ङ) के अनुसार दुर्बल वर्ग वह कहलायेगा, जिसकी वार्षिक आय समुचित सरकार द्वारा, अधिसूचना द्वारा, विनिर्दिष्ट न्यूनतम सीमा से कम है (आरटीई : २००९ : १)।

हमारे देश का एक गणतंत्र राज्य बनने के साथ ही सपना रहा है कि शिक्षा की रोशनी को फैलाया जाये। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए संविधान निर्माताओं ने शिक्षा के अधिकार को अनुच्छेद ४५ के भाग (iv) में राज्य के नीति निदेशक तत्त्व के तहत प्रगणित किया जो कहता है कि "राज्य सभी बच्चों को १४ वर्ष की आयु तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा।" परन्तु ये निर्देश प्रवर्तनीय नहीं है। वर्ष २००२ में संविधान में एक नयी धारा २१(क) को ८६वाँ संशोधन के बाद जोड़ा गया जिसके तहत संविधान के भाग (III) के मूल अधिकारों की श्रेणी में ६ वर्ष से १४ वर्ष तक की आयु समूह के बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का मूल अधिकार प्रदान किया गया (छियासीवाँ संविधान संशोधन : २००२)।

इस अधिकार को ठोस रूप देने के लिए संसद में एक बिल रखा गया जिसे "शिक्षा का अधिकार" नाम दिया गया। यह बिल संसद के दोनों सदनों से पास हुआ। २६ अगस्त २००९ को भारत के राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त हुई। इसके बाद यह कानून निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम २००९ (२००९ का ३५) के नाम से बनाया गया। इस अधिनियम को १ अप्रैल २०१० में भारत के सभी हिस्सों में लागू किया गया। इस कानून के तहत गरीब बच्चों को ८ वर्ष की प्रारम्भिक शिक्षा उचित कक्षाओं एवं पड़ोस के सभी स्कूलों में प्रदान की जा रही है।

भाषा अवरोध, अतिरिक्त खर्च और बहिष्करण

नेशनल कमीशन फॉर प्रोटेक्सन ऑफ चाइल्ड राइट्स (एन.सी.पी.सी.आर.) की रिपोर्ट बताती है कि दिल्ली के प्राइवेट स्कूलों पढ़ने वाले सामाजिक एवं आर्थिक रूप से कमजोर पृष्ठभूमि के विद्यार्थी अंग्रेजी में बातचीत, एक्सट्रा करिकुलर एक्टिविटीज के पैसे और शिक्षा पर हुए खर्च की अधूरी भरपाई की वजह से पढ़ाई बीच में छोड़ देते हैं। प्राइवेट स्कूलों में अलाभान्वित (डी.जी.) समूह के बच्चों के एडमिशन के लिए राइट टू एजुकेशन एक्ट, २००९ के सेक्शन (१२) (१) (सी) के अमल पर की गयी स्टडी से पता चला कि २०११ में पढ़ाई बीच में छोड़ने की दर करीब २६ प्रतिशत थी, जो २०१४ में कम होकर १० प्रतिशत रह गयी। एक्ट के इस सेक्शन के तहत गैर-सहायता प्राप्त प्राइवेट स्कूलों की जिम्मेदारी तय की गयी है कि वे सामाजिक व आर्थिक रूप से कमजोर श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए कुल सीटों की एक चौथाई सीट मुफ्त शिक्षा देने के लिए आरक्षित रखें। (एन.सी.पी.सी.आर.) के मुताबिक आँकड़ा प्राइमरी और प्री-प्राइमरी कक्षा के बच्चों का है। इस आँकड़ें में सबसे ज्यादा हिस्सा प्राइमरी स्तर के पढ़ने वाले बच्चों का है। यह अध्ययन दिल्ली के ६५० विद्यालयों की ओर से हर वर्ष बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों के कमीशन को दिये गये आँकड़ों पर आधारित है।

अध्ययन में कहा गया कि एक स्कूल ने सामाजिक आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग की सीट खाली रहने

की वजह अलॉटमेंट के बाद पैरेन्ट्स का प्रवेश के लिए दिलचस्पी न लेना बताया। बच्चों के माता-पिता ने दावा किया कि किताबों और एक्सट्रा करिकुलर एक्टिविटीज का खर्च बहुत ज्यादा है, जिसकी वजह से बच्चों को स्कूल छुड़वाने के लिए मजबूर होना पड़ा। अध्ययन में यह बात सामने अयी कि अगर बच्चे पढ़ाई बीच में छोड़ देते हैं या अलाटमेंट के बाद प्रवेश ही नहीं लेते हैं तो ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? इस सवाल को लेकर स्कूलों के पास स्पष्टता का अभाव है। आँकड़ों के मुताबिक ज्यादातर स्कूलों ने सामाजिक व आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग की खाली सीटों को भरने के लिए अपनी तरफ से कोई कदम नहीं उठाया (नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, १२ फरवरी २०१८)।

मातृभाषा वैचारिक एवं सांस्कृतिक मजबूती का आधार

पिछले कुछ दशकों से भारत में सरकारी स्कूली शिक्षा में काफी गिरावट आई है। दूसरी तरफ निजी स्कूल महानगरों, छोटे शहरों और कस्बों तक में चौतरफा बढ़े हैं। सरकारी स्कूलों में शिक्षण का माध्यम जहाँ अपने-अपने राज्यों की भाषाएं या कहें कि स्थानीय अथवा मातृभाषा हुआ करता था, वहीं अब लगभग सभी निजी स्कूलों में शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी भाषा हो गयी है। प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव लिखते हैं कि प्रयोजन की दृष्टि से मातृभाषा के दो आयाम हैं। पहले रूप में मातृभाषा का अर्थ है माँ की भाषा अर्थात् झूले-पालने की भाषा, जिसके द्वारा शिशु अपने भाषाई बोध एवं जीवन बोध का निर्माण करता है, लेकिन पश्चिम से अलग भारत जैसे बहुभाषी देश में मातृभाषा का एक और भी आयाम है। वह भाषा भी मातृभाषा है जो सड़क, बाजार और व्यापक सामाजिक जीवन की भाषा है, जिसके माध्यम से व्यक्ति विचार, संस्कार और जातीय इतिहास से जुड़ता है। उदाहरण के लिए अयोध्या में रहने वालों की मातृभाषा एक तरफ अवधी है तो दूसरी तरफ हिंदी भी है। शिक्षाशास्त्र के विभिन्न शोध बताते हैं कि बच्चों के पूर्ण मनो-बौद्धिक विकास के लिए आरंभिक शिक्षण मातृभाषा में होना चाहिए। यूनेस्को ने भी जोर देकर कहा है कि आरंभिक शिक्षण मातृभाषा में होने से बोध एवं संज्ञान क्षमता बढ़ती है।

नई शिक्षा नीति मसौदे में भी मातृभाषा की शक्ति को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि जहाँ तक हो सके आठवीं कक्षा तक की पढ़ाई मातृभाषा में होनी चाहिए। लेकिन ये सिफारिशें केवल एक सदिच्छा के रूप में हैं, इनको लागू करने को लेकर कोई अनिवार्यता नहीं है। वैश्विक स्तर पर देखें तो जर्मनी, फ्रांस, इटली, स्पेन, स्वीडन, नार्वे, अमेरिका, चीन, जापान, कोरिया आदि देशों की तरक्की का एक बड़ा कारण उनके आरंभिक शिक्षा का मातृभाषा में होना है (कुमार : २०१९ : ८)।

शिक्षा अधिकार कानून के तहत प्राइवेट स्कूलों में प्रवेश लेने वाले कमजोर व वंचित वर्ग के बच्चों के साथ असमान बर्ताव की शिकायतें भी मिली हैं। मीडिया ने इस बात को उजागर किया है। बड़े प्राइवेट स्कूलों में कमजोर वर्ग के बच्चों को प्रताड़ित करना या अन्य बच्चों के मुकाबले अलग व्यवहार करना पूरी तरह से प्रतिबन्धित है। लेकिन मध्य प्रदेश शासन के पास अकसर आरटीई के तहत प्रवेशित बच्चों को निजी स्कूलों द्वारा प्रताड़ित करने या अलग-थलग बैठाने की शिकायतें पहुँचती रहती हैं। हालांकि स्कूलों को शासन द्वारा इस तरह के व्यवहार न करने की चेतावनी दी जाती रही है, परन्तु ऐसी शिकायतों में कमी नहीं आ रही है (दैनिक जागरण : २०१८ : भोपाल : १०)।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति २०२० यह मानती है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली और क्रमिक सरकारी नीति ने विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था के सभी स्तरों पर लिंग और सामाजिक श्रेणियों के अंतरालों को कम करने की

दिशा में लगातार प्रगति की है किन्तु असमानता आज भी देखी जा सकती है। विशेषकर माध्यमिक स्तर पर, हम सामाजिक–आर्थिक रूप से वंचित समूहों को देख सकते हैं। आज जबकि स्कूलों में कक्षा १ से लेकर कक्षा १२ तक लगातार नामांकन घट रहा है। नामांकन में यह गिरावट सामाजिक–आर्थिक रूप से वंचित समूहों में अधिक हैं विशेषकर सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर महिला विद्यार्थियों के सन्दर्भ में यह बात और अधिक स्पष्ट है। यूनिफाइड डिस्ट्रिक्ट इनफारर्मेशन सिस्टम फॉर एजुकेशन (यू.डी.आई.एस. ई.) २०१६–१७ के आँकड़ों के अनुसार, प्राथमिक स्तर पर लगभग १९.६ प्रतिशत छात्र अनुसूचित जाति के थे। किन्तु उच्चतर माध्यमिक स्तर पर यह प्रतिशत कम होकर १७.३ प्रतिशत हो गया। नामांकनों में यह गिरावट अनुसूचित जनजाति के छात्रों (१०.६ से ६.८ प्रतिशत) और दिव्यांगों में (१.१ से ०.२५ प्रतिशत) के लिए अधिक गंभीर है। ऐसे हालातों में यह नीति सार्वजनिक हित वाले निजी स्कूलों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए निजी परोपकारी प्रयासों को प्रोत्साहित करने पर बल दे रही है (राष्ट्रीय शिक्षा नीति : २०२० : ३८–५०)।

शिक्षा पर नव–उदारवादी पहल

भारत में वैश्वीकरण की शुरुआत की औपचारिक घोषणा तो सन् १९९१ में नई आर्थिक नीति की घोषणा के साथ हुई। लेकिन इसके एजेंडे का सूत्रपात्र १९८० के दशक के मध्य में ही हो चुका था। इसका सबूत संसद द्वारा पारित हमारी १९८६ की शिक्षा नीति में मौजूद परस्पर विरोधाभासी बयानों में देखा जा सकता है। एक ओर तो नीति में कहा गया कि कोठारी शिक्षा आयोग (१९६४–६८) द्वारा अनुशंसित पड़ोसी स्कूल की अवधारणा पर आधारित समान स्कूल प्रणाली की ओर बढ़ने का एजेंडा बनाया जाए। दूसरी ओर यह भी कहा गया कि शिक्षा सभी बच्चों को औपचारिक स्कूल के जरिए नहीं दी जा सकेगी। संबंधित आयु समूह को (नॉन–फॉर्मल) धारा के जरिए शिक्षित किया जायेगा। इस समानांतर धारा में नियमित शिक्षक नहीं पढ़ायेंगे, उनकी जगह बगैर अर्हता वाले ठेके पर रखे गये निर्देशक या शिक्षाकर्मी नियुक्त किये जायेंगे। इस तरह सरकार ने सरकारी स्कूल के नीचे देश के आधे बच्चों के लिए निम्न स्तरीय शिक्षा की एक परत बिछाने का फैसला किया। इस नीति में एक और परत सरकारी स्कूल के ऊपर बिछाने की घोषणा ग्रामीण क्षेत्र के मुट्ठीभर अपेक्षाकृत सम्पन्न तबके के बच्चों के लिए हुई, यानी नवोदय विद्यालयों की परत। इस तरह १९८६ की शिक्षा नीति ने सामान स्कूल प्रणाली के जगह बहु–परती शिक्षा व्यवस्था स्थापित करने की वैधानिक घोषणा कर दी जिससे १९९० के दशक में वैश्विक बाजार की ताकतों को शिक्षा के निजीकरण व बाजारीकरण का मार्ग मुहैया हो गया (सद्गोपाल : २००८ : ५)।

प्राइवेट स्कूलों की मौजूदगी और स्वीकार्यता आज के समय की सच्चाई है। महानगरों से लेकर छोटे शहरों, कस्बों और गाँवों तक ऐसे स्कूल खुल चुके हैं। एक ओर जहाँ महानगरों में कुछ ऐसे स्कूल मिल जायेंगे जो आलीशान इमारतों और पाँच सितारा होटलों जैसी सुविधाओं से युक्त हैं तो दूसरी तरफ ज्यादातर स्कूल ऐसे हैं जो कम शुल्क वाले हैं। ये दूसरे तरह के स्कूल संसाधनों की दृष्टि से सम्पन्न नहीं हैं। फिर भी इनके प्रति अभिभावकों के आकर्षण में कोई कमी नहीं है। आजकल सरकारी स्कूल में अपने बच्चों को वही अभिभावक भेजता है जो निजी स्कूल की थोड़ी सी भी फीस वहन नहीं कर सकता है। ऐसे हालात तब हैं जबकि अनिवार्य और मुफ्त स्कूली शिक्षा हर बच्चे का मौलिक अधिकार है। इस अधिकार को सुरक्षित करना राज्य की जिम्मेदारी है। बावजूद इसके सरकारी शालाओं की प्रभावशीलता और गुणवत्ता के प्रति

आम आदमी आशान्वित नहीं है। इसका कारण है कि सरकारी स्कूलों की शिक्षा, उसकी अपेक्षाओं पर खरी नहीं उतर रही है (मिश्रा : २०१८ : ८०-८१)।

निष्कर्ष - शिक्षा सामाजिक न्याय और समानता प्राप्त करने का एकमात्र और सबसे प्रभावी साधन है। समतामूलक और समावेशी शिक्षा न सिर्फ स्वयं में एक आवश्यक लक्ष्य है, बल्कि समतामूलक और समावेशी समाज निर्माण के लिए भी आवश्यक कदम है। गौरतलब है कि वंचित बच्चे गैर-वंचित बच्चों के साथ निजी स्कूलों में पढ़ेंगे तो इससे समावेशिता बढ़ेगी इस सोच के साथ धारा १२(१) (सी) का प्रावधान सुनिश्चित किया गया। लेकिन इस प्रावधान के जरिए वंचित बच्चे छोटे से दरवाजे के रास्ते अर्थात् पच्चीस फीसदी कोटे के जरिए निजी स्कूलों के चौखटों तक पहुँचे जरूर जहाँ उनका समावेशन होना था। इसके विपरीत वहाँ भाषायी अवरोध एवं अन्य अभिजात्य माहौल में अपने को सुस्थापित न कर पाने के कारण इन बच्चों का स्कूलों से बहिष्करण प्रारम्भ हो गया। जो वंचित बच्चे इन स्कूलों में आठवीं तक पढ़ भी गये तो क्या आठवीं के बाद इन बच्चों का बहिष्करण नहीं होगा? ये बच्चे आर्थिक रूप से इतने सामर्थ्य नहीं हैं कि आठवीं के बाद इन मँहगे निजी स्कूलों के शुल्क की प्रतिपूर्ति कर सकेंगे। वे अभिभावक जो आर्थिक असमर्थता के कारण अच्छी शिक्षा के नाम पर इन बच्चों का दाखिला निजी स्कूलों में कराये थे। जब निजी स्कूलों द्वारा आठवीं के बाद इन बच्चों को स्कूलों से शुल्क प्रतिपूर्ति न करने के कारण निकाल दिया जायेगा तब पुनः उन्हीं गरीब अभिभावकों पर इन वंचित बच्चों की शिक्षायी जिम्मेदारी लाद दी जायेगी। रोजगार के अवसरों का सृजन तो माध्यमिक से परास्नातक स्तर की शिक्षा के उपरान्त सुलभ होता है। ये बच्चे थोड़ा सा ज्ञान पाकर पुनः अपने घरों के कामों में लग जायेंगे और ये आर्थिक रूप से इतने सक्षम नहीं हैं कि आठवीं के बाद की शिक्षा जो रोजगार के दरवाजे खोलती है उसकी पढ़ायी जारी रख सकें। इन हालातों पर गौर करते हुए नीति निर्माताओं द्वारा नीतिगत तब्दीलियाँ की जानी चाहिए। इस शोध पत्र के जरिए मेरी गुजारिश है कि (के.जी.) से (पी.जी.) तक सभी बच्चों के लिए मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था सर्वसुलभ की जानी चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

- निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम, २००९.
- छियासीवां (संविधान संशोधन) अधिनियम, २००२.
- अंग्रेजी और खर्च से छोड़ते हैं पढ़ाई, (२०१८, फरवरी १२). नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली.
- कुमार, निरंजन, (२०१९, दिसम्बर ९), मातृभाषा में हो प्रारम्भिक शिक्षा, दैनिक जागरण, राष्ट्रीय संस्करण, नई दिल्ली, पृ. ८
- बच्चे को अलग बैठाया तो स्कूल की मान्यता खतरे में होगी, (२०१८, फरवरी ६), दैनिक जागरण, भोपाल, पृ. १०
- मानव संसाधन विकास मंत्रालय, (२०२०), राष्ट्रीय शिक्षा नीति २०२०, भारत सरकार, पृ. ३८-५०
- सद्गोपाल, अनिल, (२००८), नव-उदारवाद और शिक्षा का अधिकार, परिप्रेक्ष्य, शैक्षिक योजना और प्रशासन का सामाजिक-आर्थिक संदर्भ, वर्ष १५, अंक ३, पृ. ५, न्यूपा : नई दिल्ली.
- मिश्रा, ऋषभ कुमार, (२०१८), नव उदारवादी एजेंडा और प्राइवेट स्कूल के शिक्षक, परिप्रेक्ष्य, वर्ष २५, अंक २, शैक्षिक योजना और प्रशासन का सामाजिक-आर्थिक संदर्भ : नई दिल्ली, पृ. ८०-८१

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों की परंपरा में डॉ. हरिनारायण दीक्षित के महाकाव्यों का मूल्यांकन

डॉ. हरिपदः महापात्रः*

महाकाव्य श्रव्य काव्य की विधाओं में सबसे प्रमुख माना गया है। महाकाव्य शब्द महत् और काव्य इन दो शब्दों से मिलकर बना है। महत् का अर्थ महान् या बड़ा है। इस विशेषण से ही काव्य प्रकार की प्रधानता प्रकट होती है। महत् काव्य इस संज्ञा का प्रयोग सर्वप्रथम बाल्मीकि रामायण में मिलता है। वहाँ वाल्मीकि रामायण को महाकाव्य कहा गया है। महाकाव्य का अन्य नाम भी मिलता है– सर्गबंध यह नाम भी वाल्मीकि रामायण के प्रभाव से प्रचलन में आया हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि वाल्मीकि रामायण पहला काव्य है जिसका विभाजन पहले काण्डों में तदनन्तर सर्गों में हुआ है।

काव्यशास्त्र के आजार्यों की परंपरा में सर्वप्रथम गण्य भामह ने महाकाव्य का लक्षण इसप्रकार दिया है। सर्गबद्ध महाकाव्य कहलाता है। आचार्य भामह के बाद दूसरे आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है – महाकाव्य सर्गों में विभक्त होना चाहिए। महाकाव्य का लक्षण अग्नि पुराण में भी मिलता है कि उनके अनुसार महाकाव्य सर्ग बद्ध होना चाहिए। उसका प्रारम्भ संस्कृत में होना चाहिए। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है –

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहयोऽपि नायकः।।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।।

(साहित्यदर्पण, षष्ठ परिछेद ३१५–३१७)

संस्कृत महाकाव्य विश्व साहित्य के उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम एवं अद्वितीय है। इसकी अविच्छिन्न काव्य धारा अनवरत् सहृदय जनों के लिए अनुपम काव्यामृत का पान करवाती हुई, उन्हें आनंदित करती है। इसके काव्य सर्जन का प्रभाव कभी भी कम नहीं हुआ और नित्य नूतन दृश्य काव्य, महाकाव्य आदि का सर्जन होता रहा है। महाकवि कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष आदि के द्वारा प्रवर्तित काव्य परम्परा को आधुनिक विद्वान् भी अपनी काव्यकृतियों के माध्यम से अविच्छिन्न बनाए रखने का प्रयास कर रहे हैं। इन कवियों में डॉ. हरिनारायण दीक्षित अपनी काव्यकृतियों से संस्कृत साहित्य को समृद्ध बना रहे हैं। उनके महाकाव्यों का संस्कृत काव्य परम्परा में विशेष स्थान रखता है।

* सहायकाध्यापकः, संस्कृतविभागः, साँकराइल अनिलविश्वासस्मृतिः महाविद्यालयः झाडग्रामः, पश्चिमबङ्गः

कवि परिचय

प्रौढ़ शिक्षा, गूढ़ आलोचकता और रमणीय कवित्व की त्रिवेणी डॉ. हरिनारायण दीक्षित का जन्म १३ जनवरी १९३६ को उत्तर प्रदेश के जालौन जिला के पढ़कुला नामक गाँव के एक संभ्रान्त कुलीन परिवार में हुआ था। इनके पिताजी का नाम रघुवीर सहाय दीक्षित है और माताजी का नाम श्रीमती सुदामा देवी दीक्षित है। कवि ने स्वयं अपने को सांख्यदर्शन, योगदर्शन, व्याकरण और काव्यशास्त्र का अध्येता कहा है। डॉ. हरिनारायण दीक्षित भारती माँ के उपासक आराधक पुत्र हैं। वे उनमें निमग्न जन को भार से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे संस्कृत विकास काव्यकला की कलिका में रमते हैं इसलिए राम हैं अर्थात् संस्कृत प्रेमीजनों के लिए अत्यधिक काव्यकौशल को दिखाने वाले हैं।

कर्तृत्व

कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभाओं के धनी डॉ. हरिनारायण दीक्षित ने सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की कृतियों की रचना की है। जो संस्कृत साहित्य को उनकी विशेष देन है। दीक्षित जी द्वारा रचित प्रकाशित पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है –

१. संस्कृतानुवाद कलिका	२. संस्कृतनिबन्धरश्मिः
३. श्रीमदप्ययदीक्षितचरितम् (गद्यकाव्यम्)	४. तिलकमञ्जरी : एक समीक्षात्मक अध्ययन
५. संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना	६. मेनका-विश्वमित्रम् (दृश्यकाव्यम्)
७. संस्कृतनिबन्धावली	८. राष्ट्रियसूक्तिसंग्रहः
९. श्रीहनुमद्-दूतम् (संदेशकाव्यम्)	१०. गोपालबन्धुः (गद्यकाव्यम्)
११. शोधलेखावली	१२. गद्यकाव्यसमीक्षा
१३. भीष्मचरितम् (महाकाव्यम्)	१४. देशोऽयम् कुरुते प्रोन्नतिम्
१५. उपदेशशती (शतककाव्यम्)	१६. भारतीय काव्यशास्त्र मीमांसा
१७. पण्डितराज जगन्नाथ काव्य ग्रन्थावली	१८. भारतमाता ब्रूते (महाकाव्यम्)
१९. राधाचरितम् (महाकाव्यम्)	२०. पशुपक्षीचिन्तनम्

महाकाव्यों की कथावस्तु

१. 'भीष्मचरित' – इसमें काव्य के प्रमुख तीन तत्त्वों वस्तु, नेता, रस में वस्तु का महत्त्व सर्वाधिक माना गया है, क्योंकि बस्तु ही वह तत्त्व है, जिस पर चलता हुआ नायक अथवा नेता अपने चरित्र को प्रस्तुत करता है। इतिवृत्त को प्रबन्ध का शरीर माना गया है। डॉ. दीक्षित के महाकाव्यों का इतिवृत्त 'प्रख्यात' है। 'भीष्मचरित' महाकाव्य के कथानक का स्रोत महर्षि वेद व्यास रचित महाभारत है। यद्यपि कवि ने महाभारत की कथा को आधार बनाकर ही अपने काव्य का वर्णन किया है, तथापि कतिपय स्थलों पर पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। राजा शान्तनु द्वारा देवव्रत का पालन पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा, देवव्रत को गुप्तचर द्वारा गुप्त रीति से शान्तनु एवं सत्यवती प्रणय-प्रसङ्ग की जानकारी मिलना, शान्तनु एवं सत्यवती के सुरत व्यापार का वर्णन, भीष्मपितामह द्वारा पाण्डवों को आधुनिक युग के अनुसार राजधर्म का उपदेश देना आदि कविकृत मौलिक उद्भावनाएँ हैं, जो महाकाव्य के कथानक को सफल बनाने में सहायक है।

२. '**भारतमाता ब्रूते**' – महाकाव्य को कवि ने भारतभूमि की अधिष्ठात्री देवी अपनी 'भारतमाता' को आधार बनाकर ही अपने काव्य का प्रणयन किया है। 'भारतमाता ब्रूते' नामक यह महाकाव्य अधुनातन भारतीय समाज में संक्रामक रोग की तरह तेजी से फैली हुई अपनी अपसंस्कृति और अपसभ्यता के विभिन्न पक्षों को उजागर करके लोगों को उनसे दूर रहने का संदेश देता है। इसमें समाज के प्रायः प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति की व्यथा की कथा सुनाकर उस परिस्थिति को मानवता के विपरीत सिद्ध किया है और उसे न पनपने देने का संदेश दिया है। भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्यता, देशप्रेम, सदाचार, अहिंसा, कृतज्ञता आदि मानवीय गुणों को अपनाने के लिए इसमें स्थान-स्थान पर प्रेरणा प्राप्त होती है।

३. '**राधा चरितम्**' – महाकाव्य को कवि ने भगवान् कृष्णजी और माता राधा रानी को कथा का आधार बनाकर ही अपने काव्य का प्रणयन किया है। भारत की कोई भी नारी अपने राष्ट्रहित के लिए गए हुए अपने पति या पुत्र के लिए दुःख का अनुभव नहीं करती है। वह उस पर आधारित अपने सुख का स्वाभिमान पूर्वक त्याग कर देती है, किन्तु उसकी राह नहीं रोकती है।

रस योजना

१. **भीष्मचरित में रस योजना** – काव्य में रस योजना दो रूपों में की जाती है – अङ्गी रस रूप में तथा अङ्ग रस के रूप में। अङ्गी रस की कल्पना मूलतः नाट्यशास्त्र में मिलती है। आचार्य भारत के अनुसार महाकाव्य में वर्णित अनेक रूपों में से जो रस अधिक या प्रधान रूप में विद्यमान रहता है वह स्थायी या अङ्गी रस और अन्य रस गौण कहलाते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य का लक्षण करते हुए शृङ्गार, वीर और शान्त इन तीनों रूपों में से किसी एक रस को अङ्गी रस के रूप में निबद्ध करने का विधान किया है। उनके अनुसार अन्य रस उसके पोषक रूप में आ सकते हैं। भीष्मचरित महाकाव्य में अङ्गी रस के रूप में वीर रस का तथा अङ्ग रस के रूप में शृङ्गार, रौद्र, करुण और अद्भुत रसों का निबन्धन किया गया है। प्रस्तुत महाकाव्य में चतुर्दश सर्ग के द्वितीय पद्य में भीष्म का वीर युवक की भाँति युद्ध करने के उत्साह का वर्णन किया गया है –

पितामहोऽपि स्वशोऽनुरूपं प्रादर्शयद् विक्रमयदभुतं स्वम्।
दिने दिने पाण्डसेन्यनाशं चकार बृद्धोऽपि युवेव वीरः।।

२. '**भारतमाता ब्रूते**' **में रस योजना** – आचार्य विश्वनाथ के अनुसार शृङ्गार, वीर और शान्त रसों में से किसी एक को महाकाव्य में अङ्गी रस के रूप में प्रतीत होना चाहिए। परन्तु आचार्य हरिनारायण दीक्षित के '**भारतमाता ब्रूते**' नामक महाकाव्य में इन तीनों रसों में से एक भी रस अङ्गी रस के रूप में प्रतीत नहीं होती। कवि प्रौढोक्ति से इस महाकाव्य में संस्कृति, सभ्यता, नारी दुर्दशा वर्णनात्मक सर्ग नामक स्थान पर करुण रस की प्रतीति होती है। फिर भी उसे करुण रस के रूप में स्वीकार नहीं करते, अतः '**भारतमाता ब्रूते**' के मुक्तक प्रकार का महाकाव्य है।

३. '**राधाचरितम्**' **में रस योजना** – राधाचरित महाकाव्य में अङ्गी रस के रूप में शृङ्गार रस का तथा तथा अङ्ग रसों के रूप में वीर, शान्त और करुण रस का निबन्धन किया गया है। जब एक दूसरे के प्रति अनुरक्त नायक-नायिका परस्पर दर्शन आदि का उपभोग करते हैं, वहाँ सम्भोग शृङ्गार होता है। कवि ने श्रीकृष्ण एवं राधा के सम्भोग शृङ्गार का वर्णन करते हुए कहा है –

श्रुत्व मशोदावचनानि माधवश् चित्तस्थितां तां हृदयेश्वरी निजाम्।
पुरस्थितां वीक्ष्य कृतापराध्वज् जगाद् राधामनिमेषलोचनाम्।।

अलङ्कार विवेचन

अलङ्कार शब्द अलम् पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय के योग से बना है। इसका अर्थ है- आभूषण या शोभा प्रसाधन। 'अलङ्कार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है जाती है - १. 'अलम् क्रियतेऽनेन इति अलङ्कारः' अर्थात् जिसके द्वारा (अलङ्करण) किया जाता है वह अलङ्कार है। २. 'अलं करोति इति अलङ्कारः' अर्थात् जो सुशोभित करता है, वह अलङ्कार है। काव्य में कलात्मक सौन्दर्य के उत्कर्ष के लिए अलङ्कारों का प्रयोग अनिवार्य है। अग्निपुराण में अलङ्कार से रहित कविता को विधवा के समान माना गया है। कवि ने अपने महाकाव्य में शब्दालङ्कारों में पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक का प्रयोग किया है। अर्थालङ्कारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेश, स्मरण, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, कारणमाला, व्यतिरेक, प्रेय, स्वाभावोक्ति आदि प्रसिद्ध अलङ्कारों के अतिरिक्त नूतन एवं अल्पप्रसिद्ध सम्भावना आशीः, विषादन आदि अलङ्करों का भी चारुत्व पूर्ण समायोजन किया है। भीष्मचरित महाकाव्य में अलङ्कार का उदाहरण जैसे - अर्थ के होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर व्यञ्जन समूह को उसी क्रम से आवृत्ति यमक अलङ्कार कहलाता है।

विनयिना नयिना भवता वयं बहुसमादर भूमिमवापिताः।
भवदभीप्सित कर्म हि कुर्म हे जगति नैव तपन्ति गुणप्रियाः।।

राधाचरितम् महाकाव्य में विनियोग अलङ्कार का उदाहरण जैसे जहाँ भिन्न वस्तु भिन्न वस्तु के विना सुन्दर होती है, अथवा असुन्दर होती है, उसे विनोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

नूनं विना त्वां तव कृष्ण! जाता, माता यशोदा सलिलं विना नौः।
वत्सं विना गौश्च रविं विना द्यौः, प्रभाविहीनेति विचार्य दूये।।

छन्द योजना

काव्य में विशद् एवं पूर्ण अभिव्यञ्जना के लिए अथवा अपनी अभिव्यक्ति को दूसरे के हृदय तक सम्प्रेषित करने के लिए जिन चित्र, संगीतमय संकेतों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। उसमें नाद सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'छन्द' है। पद्य रचना का एक माप होता है तथा उसी के अनुरूप उससे सृष्टि भी होती है। इसी माप या बन्धन को छन्द कहते हैं। छन्दोबद्ध काव्य समाज में अधिक समय तक प्रचलित होता रहता है। छन्दोबद्ध होना महाकाव्य की अन्यतम विशेषता है। एक सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का निबन्धन किया जाता है और सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन किया जाता है। डॉ. दीक्षित के महाकाव्य छन्द विधान की दृष्टि से अद्वितीय है। कवि ने काव्य परम्परा का निर्वाह करते हुए सर्गों के अन्त में छन्द परिवर्तन किया है। डॉ. दीक्षित के महाकाव्यों में वंशस्थ, वियोगिनी, द्रुतविलम्बित बसन्ततिलका, अनुष्टुप्, मालिनी, उपजाति, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता तथा मात्रिक छन्द आर्या का प्रवीणतापूर्वक प्रयोग किया है। भीष्मचरित महाकाव्य में वंशस्थ छन्द का उदाहरण है -

'न जातिवादो न च वर्गभावना न वोच्चनीचादिवि भेदवेदना।
बभूव नातङ्किजनस्य वन्दना महीयसी शान्तनुनीतिदेशना।।'

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक जगण, एक तगण, एक जगण और एक रगण आवे, उसे वंशस्थ छन्द कहते हैं। इसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं। (**जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ**-वृत्तरत्नाकर

३.४६)।

द्रुतविलम्बित – (**द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ** – वृत्तरत्नाकर ३.४७)। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक नगण, दो भगण और एक रगण हो, उसे द्रुतविलम्बित छन्द कहा जाता है। यथा –

'दिनकरेऽस्तमितेऽस्तमितं दिनं दिनमितं च विलोक्य निशाधुना।
गतभया वसुधामावरोहति खगकुल स्वगृहं च निवर्तते।।'

वसन्ततिलका – (**उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः** – वृत्तरत्नाकर ३.७९)। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु वर्ण हों, उसे वसन्ततिलका छन्द कहते हैं। यथा–

एवं जना व्रजभुवः परिलब्धबोधाः कर्त्तव्यकर्मकरणाय निबद्धकक्षाः।
लक्ष्यं निधाय हृदि मातृभुवः समृद्धेः राधाप्रदर्शितपथे चलितुं प्रवृत्ताः।।

गुण विवेचन

अग्निपुराण में गुणों के विषय में कहा गया है कि जो तत्त्व काव्य में महती छाया को उत्पन्न करते हैं, वे गुण कहलाते कहते हैं। कवि ने अपने महाकाव्यों माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों गुणों का समावेश करते हुए प्रसाद गुण को प्रधान रूप से उपन्यस्त किया है। प्रसाद गुण का उदाहरण है –

हासा विलासा व्रजमण्डलस्य त्वयैव सार्धं मथुरा प्रयाता।
दुःखं च दैन्यं च घना प्रतीक्षा पदं व्यधुः कृष्ण! किमत्र कुयाम्।।

इसी प्रकार वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली तीनों रीतियों का यथा–स्थान प्रयोग किया है। जिसमें वैदर्भी रीति का प्रयोग कवि को अधिक अभीष्ट रहा है।

भाषा विधान

भाषा सौष्ठव की दृष्टि से महाकाव्य में सरलता और सहजता परिलक्षित होती है। भाषा प्रसङ्गानुसारी भावानुकूल और हृदयग्राही है। कवि शैली सरस और सारगर्भित है। संक्षेप में अधिक प्रस्तुत करना ही कवि की विशिष्टता है। काव्य योजना सरल है। पदे–पदे भाषा में प्रवाह और माधुर्य के दर्शन होते हैं। इस प्रकार मधुरतम भाषा के उपयोग से इतने सरस काव्यों की रचना की गई है कि उसका काव्यात्मक सौन्दर्य प्रखर रूप से अलौकिक हो उठा है। सम्पूर्ण काव्यों की भाषा शैली प्रसाद और माधुर्य आदि गुणों से परिपूर्ण है।

काव्य दोष

काव्य का लक्षण करते हुए आचार्यों ने काव्य की निर्दोषता पर बल दिया है, किन्तु आचार्यों की यह भी मान्यता रही है कि सर्वथा निर्दुष्ट काव्य मिलना असम्भव है। इससे यह स्पष्ट है कि काव्य रचना में दोषों की संभावना बनी रहती है। **'किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्'** (सा. द. प्र. परि. पृ. ७) इस दृष्टि से चिन्तन करने पर डॉ. दीक्षित के महाकाव्य भी दोषों से अछूता नहीं है। इनके महाकाव्यों में यत्र–तत्र निरर्थकत्व, विसन्धि, प्रतिकूलवर्णनत्व, अश्लीलता आदि दोष दृष्टिगत होते हैं। इन दोषों को क्षम्य माना जा सकता है। क्योंकि निरर्थकत्व आदि दोष पादपूर्ति के लिए समाविष्ट हो जाते हैं। इन्हें अनित्य दोषों की कोटि में पड़े परिगणित किया जाता है। उक्त

दोषों के समावेश से काव्य स्वरूप की हानि नहीं होती, किन्तु प्रतिभाशाली कवि को प्रतिकूलवर्णनत्व एवं स्वशब्दवाच्यत्व आदि रस दोषों के विषय में सावधान रहना चाहिए।

प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकाव्य रचना अपने उत्कर्षकाल में भी जितनी ओजस्विनी रही उतनी ही आगे चलकर अपने स्वरूप में प्रखर नहीं रह पाई। अपकर्षकाल में उसे चमत्कारिता को अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि द्वारा अधिक प्रश्रय मिलता गया और प्रायः चार धाराओं में महाकाव्य लिखे जाने लगे। आधुनिक काल में जिसकी काल सीमा संस्कृत में १८वीं शताब्दी के अन्त से अब तक मानी गयी है। इस काल में न केवल महाकाव्य की लेखन परम्परा मात्र अक्षुण्ण ही नही रही, बल्कि उसमें एक भिन्न प्रकार की गति एवं कुछ विशेष परिवर्तन भी लक्षित किए गये। संस्कृत में महाकाव्य लेखन की जो सुधीर्घ परम्परा आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं, जबकि समकालीन भाषाओं के साहित्यों में वह बहुत कुछ शिथिल हो जाने के कारणों के विश्लेषण के पचड़े में हम यहाँ पड़ना नही चाहेंगे। मात्र हम यह कहना चाहेंगे कि संस्कृत में महाकाव्य विधा को लेकर जहाँ परम्परागत लक्षण मान्य रहे, वहीं अन्य साहित्यों में पाश्चात्य साहित्य के पुष्कल प्रभाव के कारण बहुत कुछ बदल दिए गए अथवा उपेक्षित हो गये।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- संस्कृत साहित्य का इतिहास, उपाध्याय, वलदेव, शारदा निकेतन, वाराणसी, दशम संस्करण – १९७५
- संस्कृत आलोचना, उपाध्याय वलदेव, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ – १९९१
- आधुनिक संस्कृत साहित्यनुशीलनम्, उपाध्याय, रामजी, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, म. प्र., वि. १९६५
- संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, त्रिपाठी, राधावल्लभ, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, २००५
- आधुनिक संस्कृत साहित्य सञ्चयन, पन्त, गिरीश, विद्यानिधि प्रकाशन, वाराणसी – २००८
- भीष्मचरितम्, दीक्षित, हरिनारायण, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली – १९९१
- भारतमाता ब्रूते, दीक्षित, हरिनारायण, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली – २००३
- राधाचरितम्, दीक्षित, हरिनारायण, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली – २००५

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य की सार्थकता

डॉ. रणधीर कौशिक*

विश्व के देशों में भारतीय संस्कृति के प्रति लोगों का प्रेम और आदर सत्कार उसकी बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक संपत्ति के कारण हैं। भारत की वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति इतनी समृद्ध है कि विश्व के सभी देश इसका लोहा मानते हैं, क्योंकि इसी संस्कृति की समृद्धि के कारण भारत विश्व गुरु के पद पर विराजमान रहा है। भारतीय मनीषियों एवं ऋषियों ने मानव के सम्पूर्ण विकास एवं जीवन को निर्बाध गति से संचालन के लिये आश्रमों की परिकल्पना की है तथा यही कामना की है कि मनुष्य आश्रमों के नियमों का पालन करता हुआ सौ वर्ष की आयु को निरोग रहकर जिये। इसी कल्पना के साथ ऋषियों ने मनुष्य के जीवन को चार भागों में बांट दिया उन्हीं को आश्रम का नाम दिया गया जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम व अन्तिम सन्यास आश्रम। इन आश्रमों का लक्ष्य भोग और जीना नहीं है बल्कि योगमय आदर्शात्मक मार्ग का अनुसरण करते हुए जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। हमारे मनीषियों ने जीवन की वास्तविकता को दृष्टि में रखते हुए ज्ञान, कर्तव्य, त्याग और अध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य आश्रम में ज्ञान, गृहस्थ आश्रम में कर्तव्य एवं वानप्रस्थ आश्रम में त्याग तथा सन्यास आश्रम में अध्यात्म के मार्ग का अनुसरण करने का निर्देश दिया है।

मानव जीवन के परिक्रम में कुछ ऐसे भी मोड़ आते हैं, जहाँ कहीं उतार है तो कहीं चढ़ाव है। उसकी गतिशीलता में जगत् की वास्तविकता और जीवन की क्रिया को एक 'निश्चित' और नियोजित लक्ष्य तक पहुँचाने में आश्रम व्यवस्था एक सशक्त माध्यम है। अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यह आश्रम शब्द क्या है? यह कहाँ से उत्पन्न हुआ है? यहाँ आश्रम शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की श्रम धातु से हुई है, अमरकोश की टीका में भानु जी दीक्षित ने आश्रम शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है –

आश्रम्यन्त्यत्र अनेन वा श्रमु तपसि,
यद्वा आ समंताछमोऽत्र स्व धर्मसाधनं क्लेशात्।[१]

अर्थात् जिसमें सम्यक् प्रकार से श्रम (मेहनत) किया जाये वह आश्रम है अथवा आश्रम मनुष्य के जीवन की वह स्थिति है जिसमें कर्तव्य पालन के लिये पूर्ण परिश्रम या प्रयत्न किया जाये। परम पद की प्राप्ति के लिये ये आश्रम विश्राम स्थल के रूप में कार्य करते हैं। सूत्रयुग में हमें चार आश्रमों का ही वर्णन मिलता है, गौतम धर्मसूत्र में ब्रह्मचारी गृहस्थ, भिक्षु एवं वैखानस इन चार आश्रमों का वर्णन मिलता है।[२] वसिष्ठ धर्मसूत्र में इनके नामों में भी थोड़ी भिन्नता है वहाँ पर गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक इनको माना है।[३] बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भी आश्रमों का वर्णन मिलता है। जाबालि उपनिषद में भी चारों आश्रमों का उल्लेख मिलता है। डॉ. रानाडे का मत है कि उपनिषद् के समय से ही चारों आश्रम अपने

* उपाचार्य, संस्कृत विभागाध्यक्ष, राजकीय रणबीर महाविद्यालय संगरूर, पंजाब

अस्तित्व में आ चुके थे तथा स्मृति युग में तो पूर्ण विकसित हो चुके थे। मनु महाराज ने भी चारों आश्रमों को मान्यता दी है उन्होंने आयु को सामान्यतः १०० वर्ष मानकर उसको बराबर चार भागों में बांटा है, प्रथम चतुर्थांश ब्रह्मचर्य है।[४]

हम यहाँ पर अब मुख्य रूप से ब्रह्मचर्य आश्रम का ही वर्णन करेंगे, सर्वप्रथम हमें जानना आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या होता है? 'ब्रह्मचर्य' शब्द ब्रह्म एवं चर्य दो शब्दों से बना है, यहाँ ब्रह्म का अर्थ है महान् एवं चर्य का अर्थ है ऐसे मार्ग का अनुसरण करना जिससे व्यक्ति शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से महान् हो जाये। यहाँ एक अर्थ ब्रह्म के मार्ग पर चलना भी बताया है। अर्थात् ब्रह्म की चर्चा में ही रत् रहना या इन्द्रियों पर संयम रखना। विद्यार्थी और सन्यासी (ब्रह्मचारी) का यह कर्तव्य है कि वह इन्द्रियों पर संयम रखकर ईश्वर परायण रहे। इस आश्रम में तप एवं संयम द्वारा विद्यार्जन की व्यवस्था की गई है। इस आश्रम का आरम्भ उपनयन संस्कार के बाद होता है। यह विष्णु पुराण में भी कहा गया है।[५] यह आश्रम व्यवस्था का प्रथम आश्रम है, इसमें ०-२५ वर्ष तक की आयु होती है तथा इसमें विद्यार्थी को भावी जीवन के लिये शिक्षा ग्रहण करनी होती है। यहाँ शिक्षा आत्मिक शक्तियों के विकास करने को कहते हैं, इसलिये शिक्षा प्राप्ति के लिये मनुष्य का यह कर्तव्य होता है कि वह अन्धकार को दूर करे, रज को नियमित और सत्य की वृद्धि करें। इस कर्तव्य की पूर्ति के लिये उसे शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति केवल ब्रह्मचर्य धारण करने से ही मिलती है। इसलिये शिक्षा के लिये ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। मानव शरीर में जब कई कार्यों, क्रियाओं एवं परिवर्तनों के बाद रेत में परिणत होता है और सुरक्षित रहता है। तब उसमें क्रमशः अग्नि, विद्युत एवं ओज गुण आते हैं, अन्त में वह वीर्य के रूप में हो जाता है। यही वीर्य मनुष्य के शरीर की शक्ति का केन्द्र है। इससे सम्पूर्ण शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति उत्पन्न हुआ करती है। इसी वीर्योत्पत्ति और उसे सुरक्षित रखने की कार्य प्रणाली का नाम ब्रह्मचर्य है। तप-त्याग एवं संयम का ब्रह्मचर्य आश्रम में विशेष महत्त्व है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मचारी जो कुछ करता है यदि उसमें उसकी आसक्ति न हो तो वही उसकी दीक्षा है, अन्यथा वह दीक्षा से पतित होकर अस्त हो जाता है तथा जो तप, तितिक्षा, दान, सरलता, अहिंसा एवं सत्य भाषण में लीन रहता है उसकी यही दक्षिणा है।[६] इन्हीं के बल पर ब्रह्मचर्य जीवन के उच्च आदर्शों को प्राप्त करता था। वह अपने ज्ञान एवं व्यक्तित्व के आलोक से संसार को प्रकाशित करता था जिसके उदाहरण हमारे शास्त्रों में भीष्म, स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी दयानन्द आदि के रूप में मिलते हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि ब्रह्मचारी को आन्तरिक एवं बाह्य की शुद्धि वैदिक संस्कार एवं व्रत नियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में करने से ही प्राप्त होती है और भी कहा है कि ब्रह्मचारी को प्रातः एवं सायं दोनों समय पूजा अर्चना, सूर्योपासना एवं अग्नि होता द्वारा अग्निदेव की आराधना करनी चाहिये।[७] वेदों के अध्यनन एवं श्रवण द्वारा अपनी अन्तरात्मा को पवित्र करना चाहिये। अपने गुरु की आज्ञा को सदैव शिरोधार्य रखना चाहिये। यहाँ पर वेदाध्ययन करना ब्रह्मचारी के लिये महान् तप समझा जाता था। ब्रह्मचारी से सभी के साथ उचित व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती थी। ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक था कि वह मादक द्रव्य गन्ध, मसाला, रस तथा स्त्रियों से दूर रहे, उबटन एवं अंजन आदि का प्रयोग न करे, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत एवं वादन आदि से दूर रहे। मिथ्या भाषण न करे। किसी स्त्री से एकान्त में बात न करे, वह भिक्षाटन करे और उसे जो कुछ भी प्राप्त हो वह अपने गुरु की सेवा में अर्पित कर दे। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके मूल में ब्रह्मचारी

को विनयी एवं निराभिमानी बनाने की भावना थी। ब्रह्मचारी के लिये दिन में केवल दो बार सायं एवं प्रातः ही भोजन का विधान था, बीच में भोजन वर्जित था, ब्रह्मचारी दिन में शयन भी नहीं कर सकता था, कहा भी है कि ब्रह्मचारी या विद्यार्थी के पाँच लक्षण होते हैं –

काकचेष्टा बकोध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च।
अल्पाहारि गृहत्यागी विद्यार्थी पञ्चलक्षणम्।।[८]

अर्थात् ब्रह्मचारी एवं विद्यार्थी की कौए की तरह चेष्टा (सभी ओर दृष्टि, त्वरित निरक्षण क्षमता) बगुले की तरह ध्यान (एकाग्रचित) कुत्ते की तरह नींद अल्प व्यवधान पर निन्द्रा छोड़कर उठ जाये, अल्पहारी (कम भोजन करने वाला), गृहत्यागी अपने घर और माता पिता में ज्यादा मोह न रखने वाला इस प्रकार का ब्रह्मचारी ही मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। ब्रह्मचारी का जीवन समस्त धर्मों में अत्यन्त श्रेष्ठ, ब्रह्मस्वरूप और आदर युक्त था। इसका अनुसरण करने पर परमगति की प्राप्ति होती थी, जैसा कि महाभारत में कहा गया है –

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिदं स्मृतम्।
परं तत सर्वेधन्यस्तेन यान्ति परांगनिय।।[९]

मनु महाराज ने भी कहा है कि जो विद्यावान् अखण्डित रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह उत्तम स्थान या परम पद को प्राप्त होता है। इस संसार में उसका पुर्नजन्म नहीं होता है।[१०] आचार्य मनु और भी कहते हैं कि ब्रह्मचारी को गृहस्थों से भिक्षा माँग कर जीवन का निर्वाह करना चाहिये तथा इन नियमों अहिंसा, असत्य, त्याग, चोरी न करना, ब्रह्मचार्य व्रत का पालन करना तथा किसी से किसी प्रकार का धन न लेना तथा न रखना इस प्रकार इन पाँचों व्रतों का पालन एक ब्रह्मचारी एवं साधक के लिये आवश्यक है।[११]

जैन धर्म एवं दर्शन में तो ब्रह्मचर्य को पवित्र रहने का गुण माना है। यह जैन मुनियों के एवं श्रावकों के पाँच व्रतों में से एक है, जैन मुनि दीक्षा लेने के लिये मन, वचन और कर्म से इसका पालन करना अनिवार्य है, यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ ब्रह्म अथवा ईश्वर को जानना बताया है यह ऋषि ऋण चुकाया जा सकता है, इसी से क्षुद्रता मिटती है, यही सब कुछ ब्रह्मचर्य है।[१२] पुराण शास्त्र में तो ब्रह्मचारी की दो श्रेणियाँ बतायी गई है – उपकुर्वाण और नैष्ठिक ब्रह्मचारी।[१३] वे ब्रह्मचारी उपकुर्वाण कहलाते हैं जो ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे। वे अपनी क्षमता के अनुरूप गुरु को दक्षिणा भरण–पोषण करने के लिये विवाह करके गृहस्थ बन जाते थे तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी वे होते थे जो शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जीवन पर्यन्त गुरु के चरणों में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे उन्हें अन्तेःवासी भी कहा जाता था। प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये यज्ञोपवीत धारण करना अनिवार्य समझा जाता था, वह आश्रम के नियमानुसार अपना जीवन संचालित करता था।[१४]

जैन दर्शन में ब्रह्मचारी की पाँच श्रेणियाँ बतलाई है – उपनयन ब्रह्मचारी, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ़ ब्रह्मचारी एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी। यहाँ उपनयन ब्रह्मचारी वह है जो मौजी बन्धन विधि के अनुसार गणधर सूत्र (यज्ञोपवीत सूत्र) को धारण कर उपासकाध्ययन आदि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं। अवलम्ब ब्रह्मचारी वे होते हैं, जो क्षुल्लक रूप से समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने वाले

हैं तथा अदीक्षा ब्रह्मचारी वे होते हैं जो ब्रह्मचारी का वेश धारण किये बिना ही शास्त्रों का अभ्यास करते हैं तथा बाद में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते हैं। गूढ़ ब्रह्मचारी उन्हें कहा जाता है जो बाल्यवस्था में ही गुरु के पास रहकर शास्त्रों का अध्ययन करते थे, नग्न रहकर ही संयम का पालन करते हैं, पुनः कुछ कारण वश गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाते हैं तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी वे होते हैं जो व्रत के चिह्न, चोटी, जनेऊ लंगोटी को धारण करते हैं, सदा भिक्षावृति से भोजन ग्रहण करते हैं, जो स्नातक है व्रती है।[१५] इस प्रकार जैन धर्म में भी वैदिक परम्परा का अनुसरण ही किया गया है। समाज में जब तक आश्रम व्यवस्था का प्रभाव था, तभी तक राष्ट्र एवं समाज सुदृढ़ था। तभी तक यश, श्री और सौभाग्य में राष्ट्र सर्वशिरोमणि बना रहा।

आधुनिक समय में तो आश्रम व्यवस्था की परम्परा समाप्त हो गई है। समाज में सबसे ज्यादा कुप्रभाव ब्रह्मचर्य आश्रम पर पड़ा है। आज हमारे देश की नही अपितु विश्व की युवा पीढी बर्बाद हो गई है। आज का युवा भोगवाद की आसक्ति में जकड़ चुका है, वह सोचता है कि मनुष्य का जन्म आनन्द (इन्द्रिय सुख) के लिये ही हुआ है, बुरे व्यसनों में फंसकर युवा पीढ़ी बर्बाद हो रही है, नशा, भ्रष्टाचार एवं धन लोलुपता उसकी कमजोरी बन गई है। वह सभी कार्य शार्टकट माध्यम से करना चाहता है। गन्दी-गन्दी मैगजीन पढ़ता है, इन्टरनेट पर गन्दी फिल्में देखता है, गन्दे नशे करता है, जिसका सबसे बड़ा दुष्प्रभाव गृहस्थ आश्रम पर पड़ रहा है, आज विवाह टूट रहे हैं, ब्रह्मचार्य के अभाव में युवाओं में मानसिक एवं शारीरिक शक्ति क्षीण हो गई है, लोगों का विश्वास टूट रहा है।

आज हमें सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता देश की जवानी पर अर्थात् युवा पीढ़ी पर है, शिक्षा के प्रारम्भ में ही हमें ब्रह्मचर्य आश्रम व्यवस्था को पाठ्यक्रम में लागू करके बचपन से ही विद्यार्थियों को ऐसे संस्कार देने हैं जिससे वे बड़े होकर गलत दिशा में न जाकर अपने जीवन को सार्थक बनाने की सोचें, अपने समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में अपना योगदान दें, केवल अवने जीवन साथी के साथ ही सम्बन्ध रखें, भोगवाद से दूर रहें। ब्रह्मचर्य से होने वाले नुकसान और उसकी भयानकता को समझने का प्रयत्न करें। इसका एकमात्र उपाय यही है कि हम अपनी पुरातन संस्कृति की ओर लौट चलें। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए कहते हैं कि जिसका अन्तः करण शान्त है, जो भय रहित है तथा जो ब्रह्मचर्य में स्थित है, ऐसा सावधान योगी मन का संयम करके मेरे में ध्यान लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।[१६]

सन्दर्भ-सूची

१. अमरकोश, ७.४

२. गौतम धर्मसूत्र, ३.२

३. वसिष्ठ धर्मसूत्र, ७.१.२

४. मनुस्मृति।

५. बालः कृतोपनयनो वेदाहरण तत्परः। गुरुग्रहे वसेद्भूप ब्रह्मचारी समाहित।। विष्णुपुराण।

६. छान्दोग्य उपनिषद्।

७. महाभारत।

८. हिन्दू संस्कृति, पृ. ९८

९. महाभारत।

१०. एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविलुप्तः।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चे हाजायते पुनः। मनुस्मृति, २.२२४

११. मनुसमृति।

१२. जैन तत्त्व मीमांसा लेख।

१३. पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. ४१६-२६

१४. वही।

१५. जैन इन्साइक्लोपीडिया।

१६. श्रीमद्भगवद्गीता, ६.१४

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

भारतीय राजशास्त्रों में दण्ड विधान

डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र*

''न राज्यं न च राजासीत न दण्डो न च दाण्डिकः।
स्वयमेव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।''[१]

प्रकृति एवं प्रभु की अनुपम कृति मानव का जब इस धरा पर अवतरण हुआ तब उसकी प्रारम्भिक स्थिति अत्यन्त पवित्र थी। सर्वत्र सात्त्विक ऋतु ही प्रबल हुआ करती थी। सभी मनुष्य दोषरहित कर्म करते हुये परस्पर प्रेम से रहते थे। जब न तो किसी राजा की स्थिति थी, न राज्य था, न दण्ड था, न दण्डी था। सभी लोग धर्म के द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा करते थे। भारत में राज्य की उत्पत्ति भी सर्वप्रथम जनतन्त्र के रूप में हुई थी। वैदिक काल में जनतन्त्र का रूप पूर्णतः विकसित हो चुका था। कालान्तर में जनतन्त्र शासन में कुछ दोष उत्पन्न हो गये, इसी कारण कुछ परिवर्तनों के साथ शासन का रूप जनतन्त्र से राजतन्त्र की ओर बढ़ता गया। लेकिन जनतन्त्रीय शासन के खत्म होने के बाद भी भारतीयों में जनतान्त्रिक भावना विद्यमान थी। यही कारण था कि राजतन्त्रीय शासन में राजा भी जनता की सहमति से पदारूढ़ होने पर अपना गौरव समझता था, इसीलिए प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था एवं शासन प्रणाली मूलतः लोककल्याण की रही; किन्तु कालान्तर में तामसिक गुणों का प्राबल्य बढ़ने लगा, मनुष्य अपनी सत्व प्रकृति से च्युत हो, बलवान कमजोरों को खाने लगे, ऐसी स्थिति में सबको सही रास्तों पर लाने के लिए दण्ड का विधान हुआ। दण्ड राज्य शक्ति का प्रतीक सिद्ध हुआ, जो सारी प्रजा, उसके शासक, रक्षक, भक्षक तथा सोते हुये को भी जगाने वाला था। इसीलिए राज्य के सप्ताङ्गों में दण्ड को प्रमुख स्थान दिया गया। जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है –

स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते।।[२]

राज्य का निर्माण स्वामी (राजा), मन्त्री, पुर (दुर्ग), राष्ट्र (जनपद), कोश, दण्ड तथा मित्र नामक अङ्गों से मिलकर होता है। निर्देशित नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड व न्याय की सृष्टि की गई है। न्यायपूर्वक दण्ड व्यवस्था किसके द्वारा चलायी जाये, इसके लिए मनुस्मृति में राजा की कल्पना की गयी, उसमें कहा गया है कि अराजकतापूर्ण संसार में राक्षसी प्रवृत्ति युक्त मनुष्यों के भय से इधर-उधर पलायन करने वाले प्राणियों की रक्षा हेतु 'राजा' होगा।

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।।[३]

इस विषय पर मनु कहते हैं कि जो दण्ड है वही राजा, वही न्याय का प्रचारकर्ता और सब का

* असिस्टेंट प्रोफेसर-संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय पचवस-बस्ती

शासनकर्ता, चार वर्ण और आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है –

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।।[४]

वस्तुतः राजा, राज्य और छत्र की शक्ति और सम्प्रभुता का द्योतक और किसी अपराधी को उसके अपराध के निमित्त दी गयी सजा को दण्ड कहते हैं। प्राचीन वैदिक काल में यह दण्ड व्यवस्था थी कि धर्माचरणों के सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करने पर दण्ड दिया जाता था, जिसे **'राजधर्मन्याय'** की संज्ञा दी गई इसीलिए दण्ड शब्द का मुख्य रूप से प्रयोग राजनीतिशास्त्र और प्रशासन के सम्बन्ध में किया जाने लगा। दण्ड सम्बन्धी विचारों से सम्बन्धित शास्त्र दण्डशास्त्र और उसकी नीति दण्डनीति होती है। दण्डनीति के विषय में मनु ने कहा है –

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्चलोकत्।।[५]

उन्होंने राजा को त्रयीविद्या – दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और व्यवहारवार्ता सीखने का भी निर्देश दिया। उन्होंने बताया कि प्रजा को अपने अधिकार में रखने, शक्तिशाली बनकर राज्य की सीमाएँ बढ़ाने एवं अपने अभीष्ट की प्राप्ति हेतु राज्य को चार उपाय अपनाने चाहिए – **साम, दाम, दण्ड, भेद**; क्योंकि वस्तुतः आचार्य चाणक्य ने भी बताया है कि 'बुद्धिमान् व्यक्ति व्यावहारिक (बाह्य) जीवन और आध्यात्मिक (आन्तरिक) जीवन को सुचारु ढंग से जीने के लिए चार उपायों का प्रयोग करते हैं। वे हैं – साम, दाम, दण्ड, भेद।

१. साम – संसार में लोगों से व्यवहार करने और विवेक से निर्वाह करने के लिए सर्वप्रथम 'साम' का प्रयोग करते हैं। साम का अर्थ है – शान्ति और समझदारी के साथ व्यवहार अथवा किसी को सुझाव देना, किसी कार्य करने के लिए कहना, स्तुति या निवेदन या फिर मिन्नत करना। लेकिन इसके अलावा किसी से भी कोई काम चतुराई से करवा लेने को भी 'साम' कहा जाता है।

२. दाम – दाम अर्थात् कार्य के बदले मूल्य चुकाने की पेशकश करना अथवा रिश्वत अर्थात् जब साम नीति से काम न बने तो दाम नीति का प्रयोग। इस नीति का अर्थ सिर्फ पैसे देकर काम करवाना नही है, अपना काम कराने के लिए संबधित व्यक्ति को हर तरह से लालच और जरूरतों को अपने हित में भुनाना है।

३. दण्ड – जब व्यक्ति इतना जड़ हो जाये कि उसे पक्षपात या अवहेलना से कुछ फर्क न पड़े, तब दण्ड अर्थात् सजा। राजा आदि को चाहिए कि वह अपने बल का प्रयोग करके दूसरों से कोई भी काम करवाने को या फिर किसी को सजा देकर उसे अपने काम को करने पर मजबूर करने को दण्ड कहते हैं। यह किसी भी तरह का हो सकता है शारीरिक या कुछ और भी।

४. भेद – प्रायशः दण्ड की नीति से काम सिद्ध हो जाता है, लेकिन अगर दण्ड की नीति असफल रहती है तो अन्त में भेद की नीति अपनाई जाती है। माना जाता है कि यह शक्ति का अचूक हथियार है। इसका अर्थ है कि किसी के गुप्त रहस्य का इस्तेमाल करके उससे अपने कार्य को करवाना। हर किसी का कोई न कोई राज होता, जिसे वो सबसे छिपा कर रखता है, जब उस इंसान के भेद का पता हो तो उसके

बल पर किसी भी व्यक्ति से अपनी बात मनवा सकते हैं।

भेद का एक अर्थ यह भी है कि सम्बन्धित व्यक्ति के हितैषियों के बीच में वैमनस्य पैदा करके उस व्यक्ति को सामाजिक रूप से कमजोर कर दें, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अपनी सामाजिक स्थिति के कमजोर होने की स्थिति में वह सहारा खोजता है, ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति का सहारा बनकर कोई भी काम सिद्ध करवाया जा सकता है। भेद यानि सम्बन्धित व्यक्ति के गुप्त रहस्यों का इस्तेमाल करके या उसके हितैषियों के साथ उसका वैर कराकर अपने कार्य के लिए मजबूर करना। यदि साम, दाम, भेद इन तीनों से काम न चले तब दण्ड का सहारा लेना चाहिए। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है –

यदि तेन तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनेव प्रसह्य एतान् शनकैः दशमानयेत्।।[६]

दण्ड शब्द के प्रयोग का मुख्य आधार है – नैतिकता और विधि का पालन, जो दण्ड धारण करने वाले तथा दण्ड पाने वाले दोनों पर ही समान रूप से लागू होती है। उसके विना लोकयात्रा सम्भव नही है। जैसा कि अर्थशास्त्र में कहा गया है – **'तस्यामायत्ता लोकयात्रा'**।[७] जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है कि सम्पूर्ण लोक दण्ड के भय के कारण जगत् का भोग सम्भव हो पाता है। इसलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं; क्योंकि वही राजा व दण्ड प्रजा का शासनकर्त्ता, प्रजा का रक्षक है। यदि राजा दण्ड को अच्छी तरह धारण करे, तो वह प्रजा को आनन्दित कर देता है और विना बिचारे चलाया जाये तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है –

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।।
समीक्ष्य स वृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।।[८]

विना दण्ड के सब वर्ण अर्थात् प्रजा दूषित और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाती है। दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का राजा व राज्य व्यवस्था के विरुद्ध प्रकोप हो सकता है। यह भी कहा गया है कि 'दण्ड बड़ा तेजोमय है जिसे अविद्वान् व अधर्मात्मा धारण नही कर सकता एवं जो राजा सुशिक्षा से रहित एवं विषयों में आसक्त व मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में कभी समर्थ नही हो सकता। एवं इस लोक को सुचारु रूप से नियन्त्रित करने के लिए दण्ड अत्यावश्यक है; क्योंकि हमेशा सज्जन पुरुष बड़ी दुर्लभता से मिलते हैं, अन्य सभी पुरुष तो दण्ड के भय से ही शुचिता प्रदर्शित करते हैं अथवा अपने धर्म का आचरण करते हैं, केवल सांसारिक ही नही, देव-दानव आदि भी दण्ड से ही निपीड़ित होकर भोगों को प्राप्त करते हैं। जैसा कि कहा गया है –

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते।।
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः।
तेऽपि भोगाय कल्प्यन्ते दण्डेनैव निपीडिताः।।[९]

इसीलिए दण्ड राज्य शक्ति का प्रतीक हुआ जो सारी प्रजाओं का शासक, रक्षक तथा सभी सोते हुओं

को जगाने धर्म का साधक माना गया है। वह वर्म जिसमें अर्थ और काम भी समाहित है अर्थात् दण्ड त्रिवर्ग का साधक स्वीकृत हुआ और कहा गया है कि दण्ड से राजा के त्रिवर्गों (धर्म–अर्थ–काम) की वृद्धि होती है।

तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्वते।
कामात्मा विषमः क्षुद्रा दण्डेनैव निहन्यते।।[१०]

भारत में विधि एवं दण्ड की यह सम्प्रभुता ब्राह्मणकाल से लेकर मनुस्मृति और महाभारत के युग के बीच विकसित हुई दिखाई देती है। याज्ञवल्क्य मुनि ने दण्ड को चार भागों में विभाजित किया है –

१. विग्दण्ड २. वाग्दण्ड

३. अर्थदण्ड ४. ववदण्ड।

धिग्दण्डस्त्वध वाग्दण्डो वनदण्डो वधस्तथा।
योन्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधवशादिमे।।[११]

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि रक्षा करना राजा का सर्वोच्च कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य विना अपराधियों को दण्डित किये पूर्ण नही हो सकता। इसलिए न्याय शासन को दण्ड का प्रतीक माना गया है। दण्डनीति के भय से तीनों लोक काँपते हैं और अधर्म का नाश होकर धर्म स्थापित होता है। इसलिए यदि समाज एवं राष्ट्र को बचाना है तो धर्माचरण अपनाना होगा। धर्माचरण से निश्चित ही राष्ट्र का अभ्युत्थान हो सकता है। धर्माचरण के संरक्षण में बतलाया गया है –

दण्डेन नीयते नीतिः चेदं नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीन् लोकानभिवर्तते।।
दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यः चातुर्वण्यें नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यक् अधर्मेभ्यो नियच्छति।।[१२]

आधुनिक विधि शास्त्री भी दण्ड के चार सिद्धान्त मानते हैं –

१. प्रतीकात्मक (Deterrent)
२. निषेधात्मक (Retributive)
३. अवरोधक (Preventive)
४. सुधारात्मक (Reformative)

सभी देशों में समाज की प्रारम्भिक अवस्था **प्रतीकात्मक** दण्ड की थी, जिसमें आँख के बदले आँख फोड़ने और दाँत के बदले दाँत उखाड़ देने का सिद्धान्त चलता था। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि एक अपराधी को कठोर दण्ड देने से दूसरे लोग अपराध करने से डरते हैं।

निषेधात्मक सिद्धान्त की मान्यता है कि अपराधी को दण्ड देने से जिसके प्रति अपराध हुआ है, उसे उसका बदला मिल जाता है।

तीसरी अवस्था दण्ड का स्वरूप प्रतीकात्मक की जगह **अवरोधक** हो गया, कारण व्यक्तिगत बदले की भावना को समाप्त कर राजकीय दण्ड की महिमा को स्थापित करना। इसी में अर्थशास्त्र के द्वारा हाथ

पाँव काट दिये जाने की अनुशंसा, अङ्ग-भङ्ग, जीवित जला दिया जाना, मृत्युदण्ड, आजीवन कारावास और असह्य यातनाओं से भरे दण्ड आते हैं। अवरोधक सिद्धान्त में अपराध के कारण अथवा उसके भविष्य के कर्त्ता को ही उससे रोक देने का उपाय किया जाता है, जो उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छीनकर सम्पन्न होता है। भारतवर्ष का निरोधक जेल विधान (Preventive Detention Act) इसी श्रेणी में है।

चौथा और सर्वोत्तम दण्ड का प्रकार है - **सुधारात्मक**। कौटिल्य ने भी कारागारों में बंद कैदियों को प्रायश्चित कराने और अपने पापों का बोध कराने की व्यवस्था द्वारा उन्हें विशुद्ध कराने का उल्लेख (द्वितीय ३६,५८९) किया है। इस सिद्धान्त में दोषी की अवस्था,सामाजिक वातावरण और स्थिति विशेष के आधार पर निर्णय लिया जाता है। दोषी को सुधारने के लिए मनोवैज्ञानिक उपायों का प्रयोग, उसका वैयक्तिक स्तर पर विचार, दोषी बालकों के लिए सुधार भवनों की व्यवस्था, औद्योगिक शिक्षा, नैतिक और धार्मिक व्याख्यान और अन्य सुनियोजित व्यवस्थाएँ की जाती हैं। अब भारत में भारतीय दण्ड संहिता के आधार पर न्यायालयों द्वारा अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता है।

सन्दर्भ-सूची

१. महाभारत (शान्तिपर्व) ५६.१३.३३
२. याज्ञवल्क्यस्मृति १.३५३
३. मनुस्मृति ७.३
४. मनुस्मृति ७.१७
५. मनुस्मृति ७.४३
६. मनुस्मृति ७.१०८
७. अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, ४-७
८. मनुस्मृति ७.१८,१९
९. मनुस्मृति ७.२२-२३
१०. मनुस्मृति ७.२७
११. याज्ञवल्क्यस्मृति।
१२. मनुस्मृति।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

वैदिक दर्शन में राज्य का स्वरूप, प्रकृति और कार्य : वैदिक दर्शन के सामयिक महत्त्व के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. विश्वामित्र वैष्णव*

सारांश- राज्य की प्रकृति, कार्यों तथा व्यक्ति और राज्य के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भिन्न-भिन्न विचार और सिद्धान्त आरम्भ से ही प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हें हम राज्य की प्रकृति से जुड़े हुए विविध परिप्रेक्ष्य कह सकते हैं। इस सन्दर्भ में वेद महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, जो प्रस्तुत शोध के विषय क्षेत्र के साथ जीवन एवं ब्रह्माण्ड के विभिन्न क्षेत्रों से सरोकार रखते हैं। मनु के अनुसार '**सर्वज्ञानमयो हि सः।**'[१] अर्थात् वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान है। वेदों में राजनीतिशास्त्र से सम्बद्ध सैकड़ों मन्त्र हैं। इनमें राज्य के प्रति राजा के कर्त्तव्य, राजा-प्रजा के सम्बन्ध, राष्ट्र का स्वरूप, सभा समिति और विदथ की स्थापना, विधान और विधि निर्माण, राजा का निर्वाचन, राज्याभिषेक, युद्ध, सैन्य-व्यवस्था, विविध शस्त्रास्त्र, अर्थव्यवस्था, शासन-प्रणाली आदि का संक्षिप्त वर्णन है। उपर्युक्त प्रायः सभी विषयों पर आवश्यक सामग्री उपलब्ध है।[२] क्योंकि प्राचीन युग से आज तक यह सिद्ध हो गया है कि राज्य के बिना जीवन नही है राजनीतिशास्त्र मानवजीवन का अंग है। अरस्तु के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और राज्य प्रकृति की रचना है और मनुष्य प्रकृति से राजनीतिक प्राणी है। राज्य के उदय, प्रकृति, उद्देश्य, कार्य, आवश्यकता, महत्त्व की व्याख्या प्राचीन से आधुनिक समय का अनिवार्य विमर्श रहा है चाहे पूर्वी विचार दर्शन हो या पाश्चात्य दर्शन हो। प्रस्तुत शोध पत्र राज्य का स्वरूप अथवा प्रकृति तथा कार्य के सम्बन्ध में वैदिक दर्शन एवं वैदिक दर्शन का सामयिक महत्त्व एवं वैदिक साहित्य से भिन्न विचारों का तुलनात्मक विमर्श भी प्रस्तुत करता है। राज्य के उद्देश्य और कार्य के विषय में वैदिक दर्शन महत्त्वपूर्ण है और समसामयिक विश्व के राष्ट्र राज्यों के लिए प्रासंगिक भी है और दिशा सूचक भी है।

मुख्य शब्द- राष्ट्रानाम, राज्यम्, राज्यानि, राज्ये, राज्याय, प्रकाशस्तम्भ, संस्कृति, उद्घोषक, राष्ट्र, विदथ, देवसेना, बाह्य-शत्रु-नाशन, सेनानी, विराट् पुरुष, रथारोही, सुरक्षा, सहस्त्रचेतस्।

वेदों में राज्य एवं राजनीतिशास्त्र एक परिचय - वेद मानव मात्र के लिए प्रकाशस्तम्भ और शक्ति के स्त्रोत हैं। सम्पूर्ण विश्व को संस्कृति का ज्ञान और दिशा देने वाले स्त्रोत वेद आर्य जाति का सर्वकालिक जीवन रहा है। मानवजीवन के विकास लिए लिए विश्वबन्धुत्व, विश्वकल्याण और विश्वशान्ति के प्रथम उद्घोषक भी वेद ही हैं। वेद और राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में मनु का यह कथन उपयुक्त है कि '**सर्वज्ञानमयो हि सः।**' अर्थात् वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान हैं। वेदों में राजनीतिशास्त्र से सम्बद्ध सैकड़ों श्लोक अथवा मन्त्र हैं। इनमें राज्य के प्रति राजा के

* सहायक आचार्य- राजनीति विज्ञान, राजकीय कन्या महाविद्यालय, सरवाड़ अजमेर।

कर्तव्य, राजा-प्रजा के सम्बन्ध, राष्ट्र का स्वरूप, सभा समिति और विदथ की स्थापना, विधान और विधिनिर्माण, राजा का निर्वाचन, राज्याभिषेक, युद्ध, सैन्य-व्यवस्था, विविध शस्त्रार्थ, अर्थव्यवस्था, शासन-प्रणाली आदि का संक्षिप्त वर्णन है। उपर्युक्त प्रायः सभी विषयों पर आवश्यक सामग्री उपलब्ध है।

राज्य का स्वरूप अथवा प्रकृति तथा कार्य के सम्बन्ध में वैदिक दर्शन - ऋग्वेद आदि में राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित है। ऋग्वेद में 'राष्ट्रानाम' का प्रयोग और अथर्ववेद में राष्ट्राणि के प्रयोग से ज्ञात होता है कि वेदों में अपने राष्ट्रों की सत्ता स्वीकार की गई है।[३] ऋग्वेद में राष्ट्र के लिए राज्य शब्द का प्रयोग केवल एक बार 'राज्यम्' हुआ है।[४] अथर्ववेद में इसका प्रयोग सात बार हुआ है- राज्यम् राज्यानि, राज्ये, राज्याय।[५] इससे यह पता चलता है कि राज्य शब्द का प्रचलन बहुत बाद में होता है।

महाभारत, कौटिल्य, मनु, शुक्र आदि ने राज्य को सप्तांग या सप्तप्रकृति-युक्त कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य के सात अङ्ग या सात प्रकृतियाँ होती हैं। इस सात अङ्गों के मेल से राज्य का निर्माण होता है। ये ७ अङ्ग हैं -

१. स्वामी - आत्मा या राजा
२. अमात्य - मन्त्री,
३. पुर या दुर्ग,
४. राष्ट्र या जनपद (भूप्रदेश)
५. कोश (कर, बलि)
६. दण्ड, सेना या बल
७. सुहृत या मित्र।[६]

महाभारत में इनकों राज्य के सात अङ्ग कहा गया है।[७] कौटिल्य ने स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग कोश, दण्ड और मित्र, इनको सात प्रकृति कहा है।[८] शुक्र ने राज्य को सप्तांग कहते हुए इनके नाम दिए हैं- स्वामी, अमात्य, सुहृत, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बल।[९] मनु का कथन है कि इन सातों का महत्त्व बराबर है। कोई बड़ा या छोटा नहीं है।[१०] कौटिल्य का कथन है कि उत्तम राजा इन सबको उत्कृष्ट बना लेता है और अपने राज्य को बढ़ाता हुआ सारी पृथ्वी का स्वामी हो जाता है।[११]

वेदों में राजा, अमात्य, राष्ट्र, सेना, कोश (बलि), पुर (दुर्ग) और मित्र शब्दों का प्रयोग आया है, परन्तु राज्य के अंग के रूप में नहीं। राज्य के सप्तांग की कल्पना वेदों में अप्राप्य है। यह परवर्ती राजनीतिशास्त्र कर्ताओं की देन है। कौटिल्य, मनु और महाभारत में इन सप्तांगों का स्पष्ट उल्लेख है। ईसापूर्व चतुर्थ शती के राजनीतिशास्त्रकार कौटिल्य और मनु का कथन है कि राज्य एक सजीव एकात्मक संस्था है। यह एक अदृढ संगठन ही नहीं है, अपितु सुदृढ संस्था भी है। कौटिल्य का कथन है कि ये सातों अंग परस्पर अनुस्यूत राज-संपत्ति हैं।[१२] मनु का कथन है कि ये सातों अंग इसी प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं जैसे त्रिदण्ड तिपाई के तीन पैर। ये परस्पर उपकारक हैं।[१३]

आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अनुसार भूप्रदेश, जनता और केन्द्रीय शासन ये तीन राज्य के आवश्यक अंग माने जाते हैं। इनकी सप्तांगों से तुलना करने से ज्ञात होता है कि सप्तांगों में राजा और अमात्य ये केन्द्रीय शासन (सरकार) के रूप में हैं। राष्ट्र या जनपद भूप्रदेश हैं। पुर, दुर्ग या राजधानी यह जनता के स्थान पर है। इस प्रकार आधुनिक राजशास्त्र की आवश्यकताओं को ये सप्तांग पूरा करते हैं। राजा और मन्त्री परिषद् में केन्द्रिय शासन संनिविष्ट था। यह राज्यशासन को एक सूत्र में पिरोते थे। राष्ट्र या भूप्रदेश

राज्य का आवश्यक अंग था। दूर्ग और सेना राज्य की रक्षा के लिए अनिवार्य थे। राज्य के सुप्रबन्ध के लिए कोशसंग्रह अनिवार्य अंग है। मन्त्री राष्ट्रों की आवश्यकता इसलिए थी कि कोई बलवान राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को उत्पीड़ित न करे। मित्रराष्ट्रों की संगठनात्मक एकता उनके सह-अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक थी, इसलिए मित्र का उल्लेख है।[१४]

वेदों में राज्य का आवयविक स्वरूप - वेदों में राज्य के आवयविक स्वरूप के कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के पुरुषसूक्त में सृष्टिरचना का वर्णन मिलता है। इसमें आवयविक सिद्धान्त को अपनाया गया है। इसमें कहा गया है कि सृष्टिचना से पूर्व समस्त जगत् समष्टिरूप में विराट् पुरुष था। उससे ही समस्त जगत् का विकास हुआ। उस विराट् पुरुष या महामानव के विभिन्न अंगों से सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आदि की उत्पत्ति हुई।[१५]

उससे ही द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी की सृष्टि हुई है उस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य (क्षत्रिय), जंघा (उदर) से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए।[१६] इस प्रकार राज्य एवं समाज का उद्भव विराट् पुरुष से माना गया है। यजुर्वेद में एक सुन्दर उपमा देते हुए यह गया है कि जिस प्रकार सारे पक्षी एक घोंसले में एकत्र हो जाते हैं, उसी प्रकार संसार की सभी वस्तुएँ उस विराट् पुरुष में एकत्र हो जाते हैं, उसी प्रकार संसार की सभी वस्तुएँ उस विराट् पुरुष में एकत्र होकर रहती हैं उसी से इसका विकास होता है और उसी से इसका अन्त होता है।[१७]

यजुर्वेद के एक अध्याय में राज्य की कल्पना विराट् पुरुष के रूप में की गई है और राज्य के विविध अंगों को पुरुष के अंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मन्त्र में कहा गया है कि- राष्ट्र (भूभाग) मेरी (विराट् पुरुष की) पीठ है। प्रजा (विश्) मेरी ग्रीवा, कंधे, कटि, जंघा और घुटने हैं।[१८] कोश (श्री) मेरा सिर है, यश (कीर्ति) मेरा मुख है तेजस्विता मेरे केश और दाढी-मूंछ हैं, राजा मेरा प्राण है मित्रबल मेरा सहायक अंग है बल मेरी भुजाएँ हैं, पुरुषार्थ मेरे हाथ हैं, क्षात्रधर्म मेरी आत्मा है ज्ञान-विज्ञान मेरी नाभि हैं, धर्म (न्याय) मेरे पैर हैं।

इन मन्त्रों में राज्य के आवयविक स्वरूप को विशद् वर्णन किया गया है और इससे ये स्पष्ट होता है कि वेदों में राज्य के आवयविक स्वरूप का उल्लेख है।

शुक्रनीति में राज्य की एक वृक्ष से उपमा देते हुए इसके अंग-प्रत्यङ्गों का विशद वर्णन किया गया है। शुक्राचार्य का कथन है कि राज्यरूपी वृक्ष का मूल (जड़) राजा है, मन्त्रिगण उसका स्कन्ध तना है, सेनापति लोग उसकी शाखाएँ हैं, सेनाएँ उसके पत्ते हैं, प्रजा उसके फूल हैं, राष्ट्रीय समृद्धि उसके फल है और सारा राज्य (सारी भूमि) उसका बीज है।[१९] उपर्युक्त विमर्श से यह ज्ञात होता है कि राज्य के अंग-प्रत्यङ्गों की कल्पना प्राचीन राजनीतिशास्त्रकारों द्वारा की गई थी।

वैदिक और पाश्चात्य आवयविक सिद्धान्त/ प्रकृति में अन्तर - वैदिक आवयविक सिद्धान्त **'एकोऽहं बहु स्याम्'** एक का अनेक रूप में प्रकट होना और **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** पुनः अनेक का एक में विलय होना, सिद्धान्तों पर आश्रित है। इसमें मूलरूप में एक तत्त्व है, उससे ही अवयव के रूप में राज्य के विभिन्न तत्त्व प्रादूर्भूत हुए, जैसे शरीर के हाथ, पैर आदि अंग।

पाश्चात्य राजनीतिशास्त्र के विचारकों के अनुसार राज्य एक जीवधारी रचना है। राज्य के विभिन्न

विभाग इस सजीव रचना की कोशिकाएँ हैं ये राज्य के विकास के साथ निरन्तर विकसित होती रहती है। कार्ल जकारिया, कार्ल वोल्ग्राफ, कांस्टेंटिन फेंज, जे.के. ब्लांश, हर्बर्ट स्पेंसर आदि ने राज्य के आवयविक स्वरूप की जो रूपरेखा खींची है और उसके क्रमिक विकास का जो वर्णन किया है उसमें और वैदिक सिद्धान्त के स्वरूप एवं उसको विकास में समानता नहीं है। दोनों के चिन्तन में मौलिक अन्तर है।[२०]

वैदिक विचारधारा के अनुसार विराट् ब्रह्म या महामानव से समस्त सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। उसमें केवल राज्य ही नहीं, अपितु समस्त चर-अचर का समावेश है। राज्य उसका आंशिक विकास मात्र है। विराट् पुरुष समस्त जगत् चर-अचर का समावेश है। राज्य उसका आंशिक विकास मात्र है। विराट् पुरुष समस्त जगत् की समष्टि है। चर-अचर जगत् के सभी पदार्थ व्यष्टि हैं। महाप्रलय के समय सारी व्यष्टि का उस विराट् पुरुष में अन्तर्भाव हो जाता है। और पुनः सृष्टि के समय सभी पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है। समाज और राज्य के सभी अंग विराट् पुरुष के अंग-प्रत्यङ्ग हैं। ये वृक्ष की शाखा-प्रशाखा के तुल्य विस्तृत होते हैं। वैदिक विचारधारा राज्य को सजीव रचना नहीं मानता।[२१] वैदिक आवयविक सिद्धान्त एक विशिष्ट कल्पना है इसका अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। राजनीतिशास्त्र में इसका विशिष्ट स्थान है। इसकी पूर्णरूप से समानता पाश्चात्य राजशास्त्र के अनुसार वर्णित आवयविक सिद्धान्त से नहीं मानी जा सकती है।

राज्य का स्वरूप अथवा प्रकृति का आधुनिक सन्दर्भ - मैक्स स्टीर्नर[२२] के अनुसार राज्य का उद्देश्य हमेशा समान रहा है, व्यक्ति को सीमित करना, उसे वश में करना उसे अधीनस्थ करना, उसे कुचल देना। राज्य की पहचान में राज्य का सम्प्रभु होना, राज्य की संस्थायें पब्लिक मानी जाती है न कि प्राइवेट, राज्य के कार्य वैधता आधारित माने जाते हैं, राज्य प्रभुत्व का माध्यम है, राज्य एक भौगोलिक संगठन है। यद्यपि १९९१ में सोवियत संघ एवं साम्यवादी राज्यों के पतन के बाद आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की संकल्पनाओं से राज्य रूपी संस्था का कमजोर करने का प्रयास होता है तो दूसरी ओर बढते आतंकवाद और आर्थिक संकट के चलते राज्य पर पुनः चितन्न राज्य शक्ति के प्रतीक हैं।

आधुनिक राज्य को समझने हेतु राज्य का ऐतिहासिक अध्ययन राज्य को ऐतिहासिक विकास का परिणाम बताते हैं, नीतिशास्त्री उसे ऐसी संस्था मानते हैं जिसका ध्येय नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति है, मनोवैज्ञानिक उसे मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुसार अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करता है, राजनैतिक वैज्ञानिक उसे एक राजनीतिक संस्था मानते हैं, जिसकी प्रतिष्ठा शासन के लिए हुई है, विधि शास्त्री उसे एक संस्था मानते हैं। जिसका उद्देश्य विधि की रचना तथा विधिक स्वत्वों की रक्षा करना है। संविधान का औपचारिक अध्ययन, राज्य के कल्याणकारी स्वरूप, गार्नर के अनुसार "राज्य ऐसे लोगों का समुदाय है जो साधारणतया बडी संख्या में हो, जिनका एक निश्चित भू-प्रदेश पर स्थायी अधिकार हो, बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो और जिनकी एक संगठित सरकार हो तथा जिसकी आज्ञाओं का पालन अधिकांश जनता स्वभाव से करती हो।" आज सामान्य रूप से राज्य के भौतिक और आध्यात्मिक आधार पर चार तत्त्व माने जाते हैं। जिनमें जनसंख्या और भू-भाग को राज्य का भौतिक आधार माना जाता है और सरकार तथा सम्प्रभुता राज्य के आध्यात्मिक आधार माने जाते हैं और एक नया तत्त्व पहचान या मान्यता राज्य का अन्य तत्त्व भी माना जाता है। अतः आधुनिक राज्य सम्प्रभु होता है, राज्य की संस्थाओं का सार्वजनिक के रूप में मान्यता प्राप्त होती है, राज्य को वैधता प्राप्त है, राज्य प्रभुत्व या शासन का एक यन्त्र है और राज्य एक प्रादेशिक संगठन है। सन १६४८ में यूरोप में विभिन्न देशों के मध्य तीस वर्षीय युद्ध के

बाद वेस्टफेलिया की सन्धि हुई। इस सन्धि से यूरोप की शक्तियों के बीच होने वाले धार्मिक युद्धों का अन्त हुआ इसने चर्च की शक्ति कम की और राज्य राजा को अपने क्षेत्र का प्राधिकार दिया। यह सिद्धान्त इस अवधारणा पर आधारित था कि सभी राज्यों को आत्म निर्णय का समान अधिकार है इस सन्धि से राज्य समस्त राजनीतिक प्राधिकार का स्त्रोत बन गया । वर्तमान राज्य की अवधारणा वेस्टफेलिया की इस सन्धि पर आधारित है कि दुनिया सम्प्रभु राज्यों से बनी है और सम्प्रभु राज्यों में बंटी हुई है। ये राज्य अपने से किसी उच्चतर प्राधिकार को मान्यता नहीं देते हैं।

इटालियन विचारक ग्राम्शी ने आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में शक्ति अर्थात् अवपीडन रूपी कवच युक्त प्रधान्यता पर प्रकाश डाला है। निकोस पोलटंजास राज्य को सामाजिक सम्बन्ध के रूप में परिभाषित करता है, माइकल मान के अनुसार राज्य बहुरूपी है। ग्रीक राज्यों में राज्य के लिए 'पोलिस' रोमन राज्यों ने 'रेस पब्लिका' मध्ययुग में 'क्रिश्चियन कॉमनवेल्थ' शब्द प्रयुक्त हुए, किन्तु इन सब में राज्यत्व का तत्त्व अर्थात् सम्प्रभुता की धारणा अनुपस्थित थी। राज्य एक 'स्टैटो' शब्द के रूप में मैकियावली के लेखों में सोलहवीं सदी के शुरुआती हिस्से में इटली में नजर आया। रैल्फ मिलिबर्ड के अनुसार ''यही वो संस्थाएँ हैं–सरकार, प्रशासन, सेना व पुलिस, न्यायिक शाखा, उप–केन्द्रिय सरकार तथा संसदीय सभायें जो राज्य का निर्माण करती है।''[२३] लास्की के अनुसार ''राज्य एक ऐसा समाज है जो सरकार एवं प्रजा में बंटा हो और अपने निश्चित भू–प्रदेश के भीतर अन्य समुदायों के उपर हों।''

राज्य की पूर्व–आधुनिक परम्परा में अरस्तु ने राज्य को एक समुदाय के रूप में पॉलिस शब्द का प्रयोग किया जो सर्वोच्च कल्याण हेतु अस्तित्वपरक है। प्लेटो के अनुसार राज्य रिश्तों की एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें हर व्यक्ति अपना काम करता है और जहाँ राज्य का काम है कायम रहना, और ऐसे रिश्तों को बढावा देना है। इसी विमर्श को आधुनिक काल में उदारवादी–व्यक्तिवादी परम्परा के साथ मैकाइवलियन राज्य विचारधारा के विचारक, मार्क्सवादी और हीगैलियन और ग्राम्शियन परम्पराएँ बढाती है। जिसमें राज्य के साथ समाज, नागरिक समाज, सरकार, समुदाय एवं राष्ट्र का तुलनात्मक विमर्श है।

वैदिक दर्शन एवं राज्य के कार्य – यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों से राज्य के कार्यों के विषय में जानकारी मिलती है राज्य के प्रमुख कार्यों में जैसे प्रजा को सरंक्षण देना और उसको पुष्ट करना, माता–पिता जिस प्रकार पुत्र की रक्षा करते हैं उसी प्रकार प्रजा की रक्षा करना, प्रजा के हित के लिए नवीन योजनाओं का निर्माण, महान् जनराज्य की स्थापना के लिए अग्रसर रहना, जनता को अधिक से अधिक अधिकार देना और जनता को कर्त्तव्यों के प्रति सचेत करना और न्याय और सुव्यवस्था को प्राथमिकता देना आदि।

कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में कहते हैं कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है और प्रजा के हित में ही राजा का हित है इसलिए राजा का अपना प्रिय या हित कुछ नहीं है, प्रजाजनों का हित ही राजा का हित और प्रिय है। कौटिल्य का यह भी कथन है कि उद्योग और विकास कार्य से ही उन्नति होती है। इसी से धन और वैभव मिलता है।[२४]

महाभारत में भी प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रथम कार्य माना गया है।[२५] राजा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे और प्रजा को सुरक्षा प्रदान करे। राजा का सबसे प्रमुख कार्य है सभी प्राणियों की रक्षा करना। साथ ही कुछ विशेष कार्यों में राजा प्रजा का धर्मानुसार पालन करे और प्रजा को भयमुक्त रखे। ऐसा राजा राज्य को सुखी बनाता है, जिस राज्य में बलात्कार की घटनायें नहीं होती है, गरीबों का उत्पीडन नहीं होता है तथा

राजा-प्रजा का पाल्य-पालक सम्बन्ध होता है, वही राजा श्रेष्ठ है। राज्य में भीख माँगने वाले न हों, चोर और डाकुओं का सफाया रहे, प्रजा की उन्नति में राज्य सहायक हो और जीवों पर दया करने वाले हों, राज्य के विकास कार्य में धनिकों का सहयोग ले और उनका सम्मान करे, राजा का कर्त्तव्य है कि वह शान्ति से ना बैठे और राज्य के विकास के लिए योजनाएँ तैयार करता रहे, राजा कभी भी धार्मिक क्रियाकलापों में किसी प्रकार का विघ्न ना डाले और ना ही विघ्न आने दे, अर्थात् धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण उत्पन्न किया जाये।[२६]

राज्य के कार्य के सम्बन्ध में आधुनिक विचार - यूरोप की औधोगिक क्रान्ति आधुनिक युग के आगाज का प्रतीक बनी और राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में अनेक विचार यद्यपि पूर्व में भी थे लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् आधुनिक राज्य के कार्यों का निर्धारण होता है। इस परिवर्तन का प्रभाव उदारवाद का आगमन रहा जिसने पूँजीपति वर्ग बना जिसने सामंतशाही राज्यों के विरुद्ध संघर्ष किया जिसका परिणाम राज्य को साधन माना जाने लगा अर्थात् राज्य का निर्माण मनुष्य ने अपनी इच्छा से अपने हित साधन हेतु किया है जॉन लॉक, एडम स्मिथ, माल्थस, हरबर्ट स्पेंसर आदि विचारक रहे। यद्यपि आरम्भिक स्थिति राज्य के सीमित कार्य के विचारों की थी लेकिन धीरे-धीरे राज्य के नकारात्मक स्वरूप की जगह राज्य के सकारात्मक सिद्धान्त ने ले ली जो कि पुलिस राज्य या राज्य के अहस्तक्षेपवादी सिद्धान्त की जगह राज्य के कार्यों के सकारात्मक सिद्धान्त ने ले ली जिनमें टी.एच.ग्रीन, जे.एस.मिल, एच.जे. लास्की प्रमुख विचारक रहे। यहीं से आधुनिक राज्य के कल्याणकारी स्वरूप की शुरुआत होती है जिसमें बेंथम का प्रमुख योगदान रहता है जिसमें राज्य का कार्य ''अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख'' की बात करता है। मैकाइवर 'सेवाधर्मी राज्य' का समर्थक रहा है और राज्य की सर्वव्यापकता की बात करता है। निष्कर्षतः लोककल्याणकारी राज्य की संकल्पना अपेक्षाकृत नई, किन्तु यह आधुनिक राज्य के साथ इतनी घुल-मिल गई है कि दोनों को अलग-अलग करना कठिन है। विलियम वेबरिज रिपोर्ट १९४३ के अनुसार राज्य की सकारात्मक भूमिका पाँच बड़ी बुराइयों जिनमें बीमारी, बेरोजगारी, अज्ञानता, भुखमरी और आश्रयभाव का उन्मूलन करना है। कल्याणकारी राज्य की दिशा में जे.एस.मिल, टी.एच.ग्रीन, हॉबहाउस, एच.जे. लास्की और गेलब्रेथ महत्त्वपूर्ण है इसके साथ ही स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, अधिकार की व्यवस्था आधुनिक राज्य का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है।

निष्कर्ष : वैदिक दर्शन का सामयिक महत्त्व - आधुनिक राष्ट्र राज्य का विकास पश्चिमी यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी से ही शुरू हो गया था। सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते जगह-जगह राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ, और इसका स्वरूप भी अधिक स्पष्ट हो गया। बीसवीं शताब्दी में तो पूरे विश्व में राष्ट्र-राज्यों का जाल सा बिछ गया। प्राचीन भारतीय एवं यूनानी राजनीतिक दार्शनिकों ने राज्य के स्वरूप, प्रकृति, कार्य व भूमिका की दृष्टि प्रदान की है।

समसामयिक विश्व अतिमारकता के संकट में है, प्रत्येक क्षेत्र में हाहाकार है स्थानीय, राज्य, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी स्तरों पर। राज्यों के स्तर पर सामाजिक सौहाद्रता, आर्थिक विकास, समझ, शिक्षा, नागरिक निर्माण, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, राजनीतिक व्यवस्था का अवमूल्यन, स्वच्छता महत्त्वपूर्ण विषय है तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान, निशस्त्रीकरण, मानवाधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, आंतकवाद, रंगभेद, जातिभेद, आर्थिक एवं सामाजिक असंतोष, भूख, खाद्यान्न संकट, दरिद्रता, निरक्षरता,

अनभिज्ञता, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, शिक्षा, कचरा प्रबन्धन, प्राकृतिक आपदाएँ और पर्यावरणीय संकट है, ऐसे समय में राज्य की भूमिका प्रत्येक क्षेत्र में निश्चित रूप से अतिमहत्त्वपूर्ण हो जाती है। सभी समस्याओं के समाधान पर चिंतन का निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त सभी तरह की समस्याओं के सन्दर्भ में वैदिक दर्शन महत्त्वपूर्ण और आज भी प्रासंगिक है। प्रस्तुत शोध पत्र में राज्य की प्रकृति, कार्यों तथा व्यक्ति और राज्य के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भिन्न-भिन्न विचार और सिद्धान्त पर विमर्श के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि समसामयिक सन्दर्भ में वेद महत्त्वपूर्ण स्रोत है जो प्रस्तुत शोध के विषय क्षेत्र के साथ जीवन एवं ब्रह्मण्ड के विभिन्न क्षेत्रों से सरोकार रखते हैं, जैसा कि मनु कहते हैं – **'सर्वज्ञानमयो हि सः।'** वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान है और न केवल राज्य की प्रकृति, स्वरूप, कार्य के साथ-साथ समस्त प्रकार की समसामयिक समस्याओं के सन्दर्भ में भी वेद अतिप्रासंगिक है।

सन्दर्भ

१. मनुस्मृति २.७
२. राजनीतिशास्त्र का उद्भव और विकास, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. सं. ५
३. राजा राष्ट्रानाम्। ऋग्वेद ७.३४.११
४. शं राज्यं रोदस्यों। ऋग्वेद ७.६.२
५. राज्यम्, ऋग्वेद ४.८.१
६. मनुस्मृति १.२९४
७. शान्तिपर्व ६९.६५
८. अर्थशास्त्र, पृ. ५६५
९. शुक्रनीति, १.६१
१०. मनुस्मृति १.२९६
११. अर्थशास्त्र, पृ. ५३९
१२. अर्थशास्त्र, पृ. ५३७
१३. मनुस्मृति १.१९६
१४. राजनीतिशास्त्र का उद्भव और विकास, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. सं. ४६
१५. ऋग्वेद १०.९०.१३, यजुर्वेद ३१.१२
१६. ब्रह्मणेऽस्य मुखमासीद्, ऋग्वेद् १०.९०.१२, यजुर्वेद ३१.११
१७. राजनीतिशास्त्र का उद्भव और विकास, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. सं. ४६
१८. पृष्ठीमे राष्ट्रम्, अंसौ ग्रीवाच्श्र श्रोणी । ... जानुनी विशः। यजुर्वेद २०.१७
१९. शुक्रनीति ५.११
२०. श्यामलाल पांडेय, वेदकालीन राज्य व्यवस्था, पृ. ५०.५१
२१. राजनीतिशास्त्र का उद्भव और विकास, कपिल देव द्विवेदी, पृ. ४१
२२. मैक्स स्टीर्नर The Ego and His Own 1845
२३. रैल्फ मिलिबडि, द 'स्टेट इन कैपिटलिस्ट सोसाइटी'।
२४. अर्थशास्त्र, पृ. सं. ७७
२५. राजनीतिशास्त्र का उद्भव और विकास, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. सं. ४१
२६. शान्तिपर्व ७९.१०
२७. रैल्फ मिलिब्रैंड The State in Capitalist Society
२८. सेंट आगस्टाइन City of God
२९. जॉन राल्स The Theory of Justice

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

उपनिषदों में आत्मतत्त्व का स्वरूप

डॉ० भरत कुमार*

भारतीय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन परम्परा में उपनिषदों का आधारभूत स्थान है। यदि यह कहा जाय कि भारतीय चिन्तन एवं ज्ञान का शिखर उपनिषद हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी। भारतीय विचारधारा, चाहे वह आस्तिक हो अथवा नास्तिक उसके उत्स उपनिषद ही हैं। उपनिषदों में जिन प्रमुख तत्त्वों की मीमांसा की गयी है उनमें ब्रह्म, आत्मा, जीव एवं जगत् प्रमुख हैं। आत्मा के स्वरुप का विश्लेषण उपनिषदों की अमूल्य विरासत हैं, जो परवर्ती भारतीय विचारधारा को उत्तराधिकार के रुप में प्राप्त हुई। समस्त भारतीय दर्शनों में आत्मा के स्वरुप के विषय में जो मतवैभिन्न प्राप्त होते हैं उनका भी मूल उपनिषद् ही है। उपनिषदों से पूर्व आत्मा के विषय में इतना गहन अनुसंधान कभी किया गया हो इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। आदि शंकराचार्य ने कठोपनिषद् भाष्य में 'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है– **''यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादत्मेति कीर्त्यते।''**[१] आत्मा विश्व के समस्त पदार्थों में व्याप्त है, समस्त पदार्थों को अपने में ग्रहण करता है, समस्त पदार्थों का अनुभव करता है और उसकी सत्ता शाश्वत रहती है। प्रारम्भ में आत्मा शब्द का प्रयोग सम्भवतः प्राणवायु के अर्थ में किया जाता था, किन्तु कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग किसी भी वस्तु के, विशेषतः मनुष्य के सारभाग, उसके अन्दर के चैतन्य के लिए किया गया।

उपनिषदों में आत्मा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप का विवेचन प्राप्त होता है। इसमें आत्मा को स्वप्रकाश या चेतन स्वरुप माना गया है। इसमें आत्मा का न केवल देह एवं इन्द्रियों से एकाकारता का निराकरण किया गया है, वरन् आत्मा के पारमार्थिक स्वरुप को देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे एक विलक्षण सत्य के रुप में स्वीकार किया गया है। कठोपनिषद् में यम और नचिकेता के संवाद के रूप में आत्मा के स्वरुप का अत्यन्त विशद् वर्णन सुबोध और सरल ढंग से किया गया है। नचिकेता ने यमराज से तृतीय वर के रुप में आत्मा के विषय में पूछा–

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।[२]

अर्थात् मरे हुए मनुष्यों के विषय में जो यह संशय है, कुछ कहते हैं कि–मरने के बाद यह आत्मा रहता है, कुछ कहते हैं कि नहीं रहता। आपके द्वारा उपदिष्ट हुआ मैं भलीभांति इसे जान सकूँ; यही तीसरा वर है। इसके पश्चात् यमराज अनेक प्रलोभनों द्वारा नचिकेता की आत्मविषयक जिज्ञासा का परीक्षण करने के उपरान्त आत्मा के स्वरुप के विषय में कहते हैं–

न जायते मियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणां न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[३]

---

* सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, एस०पी०एम० राजकीय महाविद्यालय, फाफामऊ, प्रयागराज

नित्य ज्ञानस्वरुप आत्मा न तो जन्मता है और न ही मरता है। यह न तो स्वयं किसी से हुआ है, न इससे कोई हुआ है। अर्थात् न तो यह किसी का कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस रहने वाला, क्षय और वृद्धि से रहित है। शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता। सृष्टि का नियम है जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी निश्चित है। जो उत्पन्न नहीं होता उसकी कभी मृत्यु नहीं होती। भगवद्गीता में भी कहा गया है-**'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च'**[४]। देह विनाश की अवस्था में भी आत्मा का विनाश नहीं होता। मृत्यु केवल शरीर की है, शरीरी की नहीं। आत्मा अजर, अमर है। जिस प्रकार पिंजरे के टूटने पर उसमें रहने वाला पक्षी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, बल्कि, उड़ जाता है, उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है-जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा जीर्ण-शीर्ण' पुराने शरीर को त्यागकर नये शरीर धारण कर लेती है-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।[५]

आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, इसलिए इसके सम्बन्ध में अनेक धारणायें विकसित हुईं। विभिन्न दर्शनों में इसको लेकर मतवैभिन्न है। कुछ के अनुसार मन ही अत्मा है, तो कुछ के अनुसार बुद्धि आत्मा है। कुछ इन्द्रियों को आत्मा मानते हैं तो कुछ ने शरीरादि को ही आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। इनमे से किसी भी मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ये सभी 'श्रुति' विरुद्ध और तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। इन सभी मतों का निराकरण कठोपनिषद् में आत्मा के सम्बन्ध में वर्णित इस रमणीय रूपक से जाता है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्यार्हुमनीषिणः।।[६]

प्रस्तुत मन्त्र में आत्मा 'रथी' अर्थात्, स्वामी के रुप में वर्णित है तो शरीर के विभिन्न अंगों की रथ के विभिन्न अंगों के रूप में कल्पना की गई है। आत्मा इस रथ का स्वामी है। यह शरीर रथ है। जिसमें इन्द्रिय रूपी घोड़े जुते हैं जो विषयरूपी मार्गों पर दौड़ा करते हैं। आत्मा की प्रेरणा से निश्चयात्मिका बुद्धिरूपी सारथि संकल्पविकल्पात्मक मनरूपी लगाम से इन घोड़ों को नियन्त्रित कर रहा है। शरीर मन और इन्द्रियों से युक्त आत्मा इस रथयात्रा का भोक्ता है। वस्तुतः आत्मा शुद्ध और अविकारी है, परन्तु अज्ञान के कारण जब उसका तादात्म्य शरीर मन और बुद्धि से स्थापित हो जाता है। तब वह कर्मों का 'भोक्ता' सा प्रतीत होता है वास्तव में है नहीं। शारीरादि के समस्त व्यापार साक्षी आत्मा के लिए होते हैं और आत्मा ही उन्हें प्रकाशित करता है। यह आत्मा अणु से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् हृदयरुपी गुहा में स्थित है-

अणोरणीमान्महतो महीयान्।[७]

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा के चतुष्पात् स्वरुप का वर्णन प्राप्त होता है। अखण्ड, निरवयव आत्मा के ये चार-चरण अभिव्यक्ति और अवस्था भेद की दृष्टि से कहे गये हैं, यथार्थ रूप में नहीं। आत्मा के प्रथम

चरण का स्वरुप बताते हुए श्रुति कहती है-''**जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्तांगं एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।**''[८]

अर्थात् जाग्रत् अवस्था की भांति यह सम्पूर्ण स्थूल-जगत् इसका शरीर है। जिसका ज्ञान इस सम्पूर्ण जगत् में फैला हुआ है, भूः, भुवः स्वः आदि सातलोक जिसके सात अंग हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण विषयों को ग्रहण करने वाले १९ मुख हैं तथा स्थूल जगत् का भोक्ता 'वैश्वानर' इसका प्रथम पाद है। आत्मा का प्रथम चरण इसकी व्यावहारिक अवस्था है। आत्मा का द्वितीय चरण तैजसरूप है। इसका स्वरुप है-''**स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविवित्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।**''[९] स्वप्न की भांति सूक्ष्म जगत् जिसका शरीर है, जिसका ज्ञान सूक्ष्म जगत् में व्याप्त है, पूर्वोक्त सात अंगों और १९ मुखों वाला, सूक्ष्म जगत् का भोक्ता, प्रकाशमय 'तैजस' रूप यह आत्मा का द्वितीय पाद है। आत्मा का तृतीय पाद 'प्राज्ञ' है। इसे सुषुप्तावस्था भी कहा जाता है। इस अवस्था का अभिमानी पुरुष किसी भी प्रकार का विषय उपस्थित न होने से न तो भोग की कामना करता है और न ही स्वप्न देखता है। श्रुति कहती है-''**सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो हि आनन्द भुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।**''[१०] अर्थात् सुषुप्तावस्था (प्रलय या कारण शरीर) जिसका शरीर है, जो एकरूप, घनीभूतविज्ञानरूप एवं आनन्दरूप एवं है, प्रकाशरूप मुखवाला तथा एकमात्र आनन्द का भोक्ता 'प्राज्ञ' आत्मा का तृतीय पाद है।

आत्मा के तीन चरण व्यावहारिक भेद की दृष्टि से कहे गये हैं। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तीनों चरणों का ज्ञान परमावश्यक है। चतुर्थ चरण ही आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप है: इसे 'चतुर्थ' या 'तुरीय' नाम से जाना जाता है। श्रुति कहती है-''**अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यय-सारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः।**''[११] अर्थात् जो न देखने में आ सकता है, न व्यवहार में, न ग्रहण करने में, न चिन्तन में और न बतलाने में आ सकता है। जिसका न कोई लक्षण है, जिसमें समस्त प्रपञ्चों का अभाव है, एकमात्र आत्मा सत्ता की प्रतीति ही जिसका सार है। ऐसा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व 'तुरीय' आत्मा का चतुर्थ पाद है। इस प्रकार आत्मा के चारों पाद उसकी विभिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं। ये भेद औपाधिक हैं वास्तविक नहीं। आत्मा अखण्ड, नित्य ज्ञानरूप तथा शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप एवं आनन्दरूप है। अवस्था भेद से उसमें कोई भेद उत्पन्न नहीं होता। जाग्रत आवस्था में यह आत्मा स्थूल जगत् का और स्वप्नावस्था में मानसिक जगत् अर्थात् सूक्ष्म जगत् का अनुभव करता है। सुषुप्ति में विषयों का सर्वथा अभाव होने से अनुभव नहीं होता। निर्गुण, निर्विकार शुद्ध चैतन्य तुरीय ही आत्मा का वास्तविक स्वरुप है।

छान्दोग्य-उपनिषद् में आत्मा के सम्बन्ध में एक रोचक आख्यान प्राप्त होता है। जिसमें आत्मतत्त्व के अनुसंधान के लिए इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापति के पास जाते हैं। सर्वप्रथम प्रजापति ने जाग्रत अवस्था के अभिमानी आत्मतत्त्व का उपदेश किया। उपदेश के अनन्तर दोनों अपने राज्य वापस लौटते हैं, किन्तु इन्द्र को सन्देह हुआ और वे वापस प्रजापति के पास सन्देह निवारण के लिए लौट आते हैं और प्रजापति के आदेश के उपरान्त १०१ वर्ष की साधना की उसके उपरान्त इन्द्र को आत्मतत्त्व विषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान किया। प्रजापति के अनुसार आत्मचैतन्य के उत्कृष्ट उत्तरोत्तर चार स्तर हैं-जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था और तुरीय या शुद्ध आत्मचैतन्य। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में अभिव्यक्त

चैतन्य शुद्ध आत्मचैतन्य नहीं है, अपितु पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित और शुद्ध संकल्प 'तुरीय' नित्य आत्मा ही शुद्ध आत्मचैतन्य है। शुद्ध, साक्षी, स्वयं प्रकाश तुरीय आत्मा ही उपर्युक्त जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का अधिष्ठान है। आत्मा देह, मन, बुद्धि, प्राण, अहंकार तथा दृश्यमान समस्त जड़-प्रपञ्च से पृथक और सबका दृष्टा एवं आधार है यह अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप है। तथा स्वयं के द्वारा ही इसका साक्षात्कार किया जा सकता है।"[१२]

ईशावास्योपनिषद् के दो मन्त्रों में आत्मा की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता एवं अचल नित्य स्वरूप का विशद वर्णन प्राप्त होता है। ऋषि आत्मा के स्वरुप को उद्घाटित करते हुए कहता है-

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठन् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।[१३]

आत्मतत्त्व अचल, अद्वितीय, मन से भी अधिक वेगवान्, सबके आदि में तथा सर्वज्ञ है। इन्द्रादि देवता, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ भी इसका अतिक्रमण नहीं कर सकती; क्योंकि यह इन्द्रियातीय तथा मन, बुद्धि से परे सबका अधिष्ठान एवं साक्षी है। यह स्थित रहते हुए ही सभी दौड़ने वालों का अतिक्रमण कर जाता है। ऐसा इसलिए कि आत्मतत्त्व सर्वव्यापक, शाश्वत और नित्य है। जबकि अनित्य पदार्थ देश, काल की सीमा से आबद्ध होने के कारण एक स्थान पर उनका भाव तो दूसरे स्थान पर उनका अभाव होता है। इसलिए जब वे एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते हैं तो उनमें गति का भाव होता है। आत्मतत्त्व त्रिकालाबाधित एवं अचल होते हुए भी, इसलिए अनित्य पदार्थों का अतिक्रमण करते हुए प्रतीत होता है क्योंकि वह सर्वव्यापी है। आत्मतत्त्व ही समस्त प्राणियों एवं वायु, जल तथा अग्नि आदि देवताओं की दैवीय शक्ति का आधार है। एक अन्य स्थल पर आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ऋषि विरोधाभासी उक्तियों का सहारा लेते हुए कहता है कि-"वह चलता भी है और नहीं भी चलता। वह पास भी है और दूर भी। वह सबके अंदर भी है और सबके बाहर भी है।"[१४] ये सभी परस्पर एक दूसरे के विरोधी गुण हैं। आत्मतत्त्व अपने शुद्ध स्वरूप में अचल, निर्गुण और निर्विकार है। चल इसलिए नहीं सकता क्योंकि वह शाश्वत और सर्वव्यापी है। "**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किच्च जगत्यां जगत्।**" यह मंत्र भी उपर्युक्त कथन को पुष्ट करता है। संसार में समस्त स्थूलभूत जो जड़ हैं फिर भी चेतनवत् एवं चलायमान प्रतीत होते हैं, वह आत्मा के कारण ही है। इसलिए आत्मतत्त्व चलता भी है। आत्मतत्त्व ज्ञानियों के लिए अत्यन्त पास और अज्ञानियों के लिए अत्यन्त दूर है। वस्तुतः आत्मा से अधिक समीप कुछ हो ही नहीं सकता वही सभी प्राणियों के अंतःकरण में विद्यमान है और वही सबके बाहर भी।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को कारण-कार्य सम्बन्ध से मुक्त माना गया है। जबकि मुण्डकोपनिषद् में अणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वज्ञाता तथा सर्वशक्तिमान् बताया गया है।[१५] श्वेताश्वर उपनिषद् के अनुसार आत्मा अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला, अत्यन्त सूक्ष्म तथा सूर्य के समान प्रकाशरूप है।[१६] अन्ततः ब्रह्म एवं आत्मा में एकाकारता होने के कारण आत्मा में ब्रह्म के गुणों का भी समावेश होना आवश्यक है।

इस प्रकार स्पष्ट है सभी उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप मूलरुप में चैतन्यस्वरूप, साक्षी, द्रष्टा तथा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं आनन्दस्वरूप है। अपने शुद्ध स्वरुप के विषय में उपनिषदों में कोई मतवैभिन्न नहीं है। सभी एकमत हैं। कहीं-कहीं जो भेद दिखाई देता है वह वास्तविक न होकर उपाधि भेद है। कहीं-कहीं

अधिकारी भेद की दृष्टि से आत्मतत्त्व का कथन किया गया है तो कहीं पर आत्मतत्त्व का बोध कराने के लिए रूपक का सहारा लिया गया है और कहीं पर जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय के रुप में आत्मा के चरण-सोपानों का कथन किया गया है तो कहीं पर सम्यक् ज्ञान के लिए विरोधाभासी दृष्टान्तों का आलम्बन भी ग्रहण किया गया है। किन्तु ये सभी भेद वास्तविक नहीं हैं, अपितु आत्मा के तत्त्वज्ञान में सहायक हैं। वस्तुतः सभी उपनिषद् एक स्वर में आत्मा को नित्य, अविनाशी, शाश्वत पुराण, अज, त्रिकालाबाधित, चैतन्य, ज्ञानस्वरूप एवं प्रकाशरूप तथा आनन्दरूप मानते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. कठोपनिषद्-डॉ० पुष्पा गुप्ता, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, संस्करण, २०१८ पृ० १०३ (२/१/१)

२. कठोपनिषद्, १/१/२०, गीता प्रेस गोरखपुर, बत्तीसवाँ पुनर्मुद्रण

३. तदेव, १/२/१८

४. भगवद्गीता, २/२७, गीता प्रेस, गोरखपुर।

५. तदेव, २/२२

६. कठोपनिषद्, १/३/३-४, गीता प्रेस, गोरखपुर।

७. तदेव, १/२/२०

८. माण्डूक्योपनिषद्, मंत्र सं०-३, गीता प्रेस, गोरखपुर।

९. तदेव, मन्त्र सं०-४

१०. तदेव, मन्त्र सं०-५

११. तदेव, मन्त्र सं०-७

१२. छान्दोग्य उपनिषद्-अध्याय-८, खण्ड ७-१२ पर्यन्त (शांकरभाष्य) गीता प्रेस, गोरखपुर, उन्नीसवाँ पुनर्मुद्रण।

१३. ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र-४, गीता प्रेस गोरखपुर

१४. तदेव, मन्त्र सं०-५

१५. मुण्डकोपनिषद्, खण्ड-१, मुण्डक-३/९, गीता प्रेस, गोरखपुर।

१६. श्वेताश्वर उपनिषद्, अध्याय-५/८, गीता प्रेस, गोरखपुर।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में स्त्री दशा

प्रीति भेलकर*, डॉ. अच्छेलाल**

सृष्टि के आरम्भ से ही स्त्री समाज का एक अभिन्न अंग रही है। आधुनिक समाज में भी स्त्री के लिए आधी आबादी जैसे सम्बोधन प्रयोग में देखे जाते हैं। ऋग्वैदिक काल में स्त्री की दशा अत्यन्त सम्मानजनक थी। उसे समाज में पुरुष के समान ही समस्त अधिकार प्राप्त थे। स्त्री, पुरुष की अर्धाङ्गिनी थी। स्त्री के बिना पुरुष अपूर्ण था। पुरुष की भाँति स्त्रियों को भी पठन-पाठन का पूर्ण अधिकार था। अपाला गार्गी, लोपामुद्रा, घोषा इत्यादि वैदिक स्त्रियाँ इसका प्रबल उदाहरण हैं।

स्त्री जाति के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मण ग्रन्थों में शतपथ ब्राह्मण का सर्वाधिक महत्त्व है जो कि शुक्ल यजुर्वेद से संबंधित है। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद का पञ्चविंश और अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ब्राह्मणों में पत्नी तथा स्त्री-विषयक अनेक जानकारी प्राप्त होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों से उस काल की नारियों की गरिमा परिलक्षित होती है तथा उनके शिक्षित होने की जानकारी मिलती है। सुन्दर स्त्री को शतपथ ब्राह्मण में 'प्रिया' कहा गया है **'तस्माद् रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका'**[१] अर्थात् रूपवती युवती पुरुषों के लिये प्रिया और भावप्रवणा होती है। आर्य लोग पत्नी को अर्द्धाङ्गिनी कहते थे - **'अर्था श्रद्धा वा एष आत्मन।'**[२] पत्नी विहीन को यज्ञ का अधिकारी नहीं माना गया है। पत्नी के बिना पुरुष यज्ञ नहीं कर सकता था - **'अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः'**[३] अश्वमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ इत्यादि यज्ञों में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी। ऐतरेय ब्राह्मण, मैत्रायणी संहिता[४] और अथर्ववेद[५] में स्त्रियों के लिए सभा-सम्मेलनों में जाना वर्जित माना गया है।

मैत्रायणी संहिता में स्त्री को जुए और मद्य के समान समझा गया है, मानव समाज में यह महादोषों में से एक है। वह मानव समाज में 'अनृत' और 'निऋति' से सम्बन्ध रखती है। तैत्तिरीय संहिता में नारी को एक शूद्र से भी नीचा बतलाया गया है।[६] परन्तु शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को पुरुष का अर्द्धभाग भी कहा गया है।[७] पति के भोजन के उपरान्त ही पत्नी को भोजन करने का आदेश दिया गया है।[८] जो पत्नी पति को प्रत्युत्तर नहीं देती, वह प्रशस्य मानी गई है।[९] उस काल में बहुविवाह प्रचलित था। मैत्रायणी संहिता[१०] में पुत्री विक्रय का तथा जैमिनीय ब्राह्मण[११] में कन्या को भेंट देने का उल्लेख है। ऊन और सूत का कातना स्त्रियों का कर्म बताया गया है। **'तद्वा एतस्त्रीणां कर्म यदर्णासूत्रम्'** (शतपथ ब्राह्मण १२.७.२.७१)। स्त्रियाँ चरखा भी चलाती हैं, गुलूबन्द, जुराव आदि बुनती हैं, परन्तु आर्य लोग कन्या जन्म को अच्छा नहीं समझते थे। (मैत्रायणी संहिता ४.६.४)। कन्या के प्रति समाज में उदासीनता थी। वृद्धावस्था में पुत्र ही पिता के आधार होते थे। इसलिए पुत्र प्राप्ति को आवश्यक माना गया था - **'तस्यादुत्तरवयसे**

* शोधछात्रा, तुलनात्मक भाषा संस्कृति विभाग, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल
** सह-आचार्य, तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल

पुत्राम्पितोपजीवति'।[१२] वृद्धावस्था में पिता पुत्र के आश्रय से ही जीता था। पिण्ड-दान में पुत्र प्रथमाधिकारी होता था इसलिए पुत्र प्राप्ति की आवश्यकता बतायी गयी है। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप आख्यान में नारद ने हरिश्चन्द्र से पुत्र महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहा था - 'A wife is a comrade, a daughter is a misery and a son light is the highest heaven.'[13]

उपनिषदों में भी स्त्रियों की दशा पुरुषों के समान सम्माननीय थी। स्त्रियाँ भी यज्ञ में भाग लेती थीं। विवाह, गृहस्थ जीवन, सन्तानोत्पत्ति और बच्चों के पालन-पोषण आदि सभी कार्यों में नारी का सहकार अनिवार्य था। उपनिषद् काल में पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी वेदाध्ययन करती थीं और शास्त्रार्थों में भाग लेती थीं। राजा जनक की सभा में हुई दर्शन संगोष्ठी में गार्गी ने याज्ञवल्य से शास्त्रार्थ कर अपनी अपूर्व योग्यता का परिचय दिया था।[१४]

बृहदारण्यक उपनिषद् में कन्या की प्राप्ति के लिए चावल और तिल की खिचड़ी खाने का विधान मिलता है जिससे सुकन्या की प्राप्ति हो सके।[१५] यद्यपि उपनिषदों में नारी शब्द का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि नारी तत्त्व उनमें सर्वत्र विद्यमान है। वह नारी तत्त्व सर्व शक्तिमान, सर्वाधार परमात्मा की शक्ति है, जो माया, प्रकृति, इच्छा, श्री इत्यादि अनेक रूपों में वर्णित हुई है। नारी की शक्ति से ही पुरुष शक्तिमान है।[१६] इस प्रकार नर एवं नारी एक दूसरे के पूरक हैं। जिसकी पूर्णता की पूर्ति नारी द्वारा ही हो सकती है।[१७] उपनिषदों में इस संसार को परमात्मा की यज्ञशाला कहा गया है। नर उस यज्ञशाला का 'होता' है और नारी जिसकी 'अग्नि' है।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयो अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति। अन्यः तु अनश्नन् अभिचाकशीति' का तात्पर्य भी यही है। स्त्री-पुरुष दोनों एक ही वृक्ष पर बैठने वाले पक्षी हैं एवं दोनों के परस्पर मिलन, सहकार और सौहार्द्र से ही सृष्टि का अस्तित्व है। छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में नारी के विषय में अनेक प्रसंग मिलते हैं। 'छांदोग्य उपनिषद् सामवेदीय उपनिषद् है। इसके प्रथम अध्याय में विवाह विधान का विस्तार से वर्णन है। जिसमें तत्कालीन स्त्री-समाज की स्थिति ज्ञात होती है। प्रथम सर्ग के दूसरे सूक्त में संतति के लिए प्रार्थना है। तृतीय सूक्त में वर-वधू की यह वचन बद्धता है कि हम दोनों के हृदय एक हो जाए। इस प्रकार दोनों की एकता व्यक्त की गयी है। चौथे पाँचवे सूक्तों में देवताओं से दम्पत्ति की मंगल कामना की गई है।'[१८]

छांदोग्य उपनिषद् में सर्वप्रथम अल्पवयस्क पत्नी का भी दृष्टांत प्राप्त होता है।[१९] परन्तु कन्या का पत्नी होना अपवाद स्वरूप ही प्रतीत होता है, क्योंकि तत्कालीन वैवाहिक-कृत्य वयस्कों द्वारा ही सम्पन्न होते थे। इसी छांदोग्य उपनिषद् में ब्राह्मण का शूद्र की पुत्री से विवाह करने का उल्लेख भी मिलता है।[२०] 'सत्यकाम जाबालि' के उपाख्यान से प्रतीत होता है कि सन्तानें अवैध भी हो सकती थी, किन्तु गुणों के आधार पर उन्हें वेद का उपदेश दिया जा सकता था।[२१]

बृहदारण्यक उपनिषद् का सम्बन्ध यजुर्वेद से है। इसमें स्त्रियों की उच्च स्थिति का वर्णन किया गया है। स्त्रियाँ ऋषियों की भाँति आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त करती थी तथा शास्त्रार्थों में भी प्रतिभाग करती थी।[२२] उस समय संपादित होने वाले सभी धार्मिक कार्यों में स्त्रियाँ अपने पति के साथ भाग लेती थी। पति-पत्नी के साथ ही कोई धार्मिक कृत्य सफल माना जाता था। वैवाहिक समारोह, संतानोत्पत्ति इत्यादि को धर्म का ही अंग माना जाता था।

बृहदाण्यक उपनिषद् में पत्नी को प्रताड़ित करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[२३] पति की आज्ञा का पालन पत्नी के लिए आवश्यक था। ऐसा न करने पर पत्नी घृणा की पात्र होती थी। पत्नी को पति की आज्ञा मानने के लिए विवश भी किया जा सकता था।

उपनिषद् काल में माता-पिता सुकन्या के प्राप्ति की आकांक्षा करते थे। अर्थात् उपनिषद् काल में कन्याओं को अत्यन्त आदर प्राप्त था। वर्तमान समय में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही समस्त अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर कन्याओं और स्त्रियों के साथ उचित व्यवहार न किए जाने की घटनाओं का भी प्रिन्ट मीडिया, इलेक्ट्रानिक मीडिया एवं सोशल मीडिया इत्यादि संसाधनों के माध्यम से पता चलता है।

विधिक रूप से स्त्री सर्वत्र पुरुष के समान मानी गई है फिर भी पुरुष प्रधान समाज को अपनी मानसिकता में कहीं न कहीं परिवर्तन की आवश्यकता है। जिससे महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों, दुर्व्यव्यवहारों एवं दुर्भावनाओं को पूर्णरूपेण समाप्त किया जा सके। हमें यह हमेशा स्मरण होना चाहिए –

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया।। (मनुस्मुति ३.५६)

सन्दर्भ-सूची

१. शतपथ ब्राह्मण १३.१९६
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.३.३.५
३. तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.२.६
४. मैत्रायणी संहिता ४.७४
५. अथर्ववेद ७.३८.४
६. तैत्तिरीय संहिता ६.५.८.२
७. शतपथ ब्राह्मण ५.२.१.१०
८. शतपथ ब्राह्मण १.९.२.१२, १०.५.२.९
९. गोपथ ब्राह्मण २.३.२२
१०. मैत्रायणी संहिता १.१०.११
११. तैत्तिरीय ब्राह्मण १.१.२.४
१२. शतपथ ब्राह्मण १२.२.३-४
१३. Women in the vedic Age, Page 71.
१४. बृहदारण्यक उपनिषद् ३.६.१
१५. बृहदारण्यक उपनिषद् ६.४.१७
१६. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी – गजानन शर्मा, पृ. क्रं. ७३
१७. अयमाकाशः स्त्रिया पूर्येत। बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.३
१८. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी – गजानन शर्मा, पृ. क्रं. ७५
१९. प्रथम प्रपाठक (दशम खण्ड) १.१०
२०. छांदोग्य उपनिषद् २.२, ४.२
२१. छांदोग्य उपनिषद् ४.४
२२. बृहदाण्यक उपनिषद्।
२३. सा चेदस्मै न दद्यम् काममेनामकीणीयात सा चेदस्मै नैव दद्यात् काममेनां यष्टया वा पाणिना वोपह व्याति कामेत।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

आचार्य मल्लिषेण की स्याद्वादविषयक दृष्टि

जया सिंह*

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। जैनियों के अनुसार इस लोक में अनेक वस्तुएँ हैं और इनमें से प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म हैं। तत्त्व अनन्तधर्मात्मक है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं।[१] प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं– नित्यांश और अनित्यांश। नित्यांश के कारण प्रत्येक वस्तु नित्य या ध्रुव (ध्रौव्यात्मक) है और अनित्यांश के कारण उत्पत्ति–विनाशशील है। आचार्य उमास्वाति के अनुसार 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होना सत् का लक्षण है।[२]

जैनमतानुसार वस्तु के अनन्त धर्मों में से कुछ धर्म वस्तु के आवश्यक, अनिवार्य और अपृथक् धर्म होते हैं, जिन्हें वस्तु का 'स्वरूप' कहा जाता है। इन धर्मों को वस्तु से पृथक् नहीं किया जा सकता है। इन स्वरूप धर्मों को 'गुण' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त वस्तु के अनेक धर्म 'आगन्तुक' होते हैं, अर्थात् उस वस्तु में आते–जाते रहते हैं, उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। ये धर्म परिवर्तनशील, आकस्मिक और अनित्य होते हैं तथा इन्हें 'पर्याय' कहा जाता है।

मल्लिषेण ने 'स्याद्वादमञ्जरी' में वस्तु का लक्षण किया है कि जिसमें गुण और पर्याय रहते हों, वह वस्तु है। तत्त्व, पदार्थ और द्रव्य ये वस्तु पर्यायवाची हैं।[३] द्रव्य शब्द दो अर्थों से मिलकर बना है – द्रु = द्रवणशीलता + य = स्थायित्व। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है।[४] उमास्वाति के मत में अपने स्वरूप को बनाए रखते हुए पर्यायों को ग्रहण करना 'उत्पाद' है, पूर्व पर्यायों का त्याग कर देना 'व्यय' है तथा दोनों अवस्थाओं में एक द्रव्य का अन्वय बना रहना ही 'ध्रौव्य' है। इस प्रकार 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त सत् है' यह वस्तु के स्वरूप का निर्दुष्ट लक्षण है।[५]

मल्लिषेण के अनुसार प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण उत्तरपर्यायों के होने से उत्पन्न और पूर्व पर्यायों का विनाश होने से नष्ट होकर भी स्थिर और एक रहता है। जिस प्रकार चैत्र और मैत्र दोनों भाइयों का अधिकरण एक माता है, उसी प्रकार उत्पाद और व्यय (विनाश) के रहते हुए भी द्रव्य सदैव स्थिर रहता है। उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों के कथञ्चित् अनेक होने पर भी द्रव्य कथञ्चित् एक माना जाता है।[६]

प्रत्येक पदार्थ क्षण–क्षण में परिवर्तित होता रहता है, तथापि उसमें सर्वथा भिन्नता नहीं होती है। पदार्थों में आकृति और जाति से ही अनित्य और नित्य की व्यवस्था निर्धारित होती है।[७] आचार्य का अभिमत है कि जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से एक द्रव्य का उत्पाद रूप पर्यायों में अन्वित होना सिद्ध है, उसी प्रकार पर्यायों के उत्पाद और व्यय का भी निर्दुष्ट अनुभव स्वतः सिद्ध है। दृष्टान्त के माध्यम से इसकी पुष्टि भी होती है – श्वेत शंख में पीत रूप पर्याय का अनुभव होता है तथा जब नेत्र दोष समाप्त हो जाता है तब

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पुनः पीतवर्ण का ज्ञान बाधित हो जाता है। इस प्रकार श्वेत शंख में पीतवर्ण की उत्पत्ति और पीतवर्ण के व्ययपूर्वक श्वेतवर्ण की उत्पत्ति दोनों ही दशाओं में शंख की ही एक द्रव्य रूप से अन्विति होती है। अतः पर्याय रूप से उत्पत्ति और विनाश अनुभवविरुद्ध नहीं है।[८] इसी प्रकार जीवादि पदार्थों में भी हर्ष, क्रोध, उदासीनता आदि पर्यायों का होना अनुभवसिद्ध है। अतः पर्यायों के अनुभव को बाधित करने वाले किसी भी प्रमाण का सद्भाव न होने से द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप की सिद्धि होती है।[९]

मल्लिषेण के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य में कथञ्चित् भेदाभेद है। इसमें अनुमान है – उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कथञ्चित् भिन्न हैं, भिन्न लक्षण वाला होने के कारण- रूप, रस, स्पर्श और गन्ध की भाँति।[१०] यहाँ 'भिन्न लक्षण' रूप हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि तीनों के भिन्न लक्षण विद्यमान हैं।

आचार्य के अनुसार उत्पत्ति के पूर्व जिसका अभाव होता है उसका प्रादुर्भाव 'उत्पाद' है। जो विद्यमान होता है उसकी सत्ता का अभाव 'व्यय' कहलाता है। तथा द्रव्य रूप से विद्यमानता 'ध्रौव्य' है, इस प्रकार इन तीनों के लक्षण परस्पर भिन्न हैं अतः इनमें कथञ्चित् भेद सिद्ध होता है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है।[११] मल्लिषेण के अनुसार पदार्थों में अनन्त धर्म स्वीकार न किए जाने पर वस्तु की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस विषय में अनुमान है – प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, क्योंकि वस्तु में अनन्त धर्म माने बिना वस्तु का वस्तुत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता वह सत् भी नहीं होता यथा आकाशकुसुम।[१२] अतः जीव, अजीव, आकाश आदि समस्त द्रव्य अनन्तधर्मात्मक हैं।

आत्मा के सहभावी एवं क्रमभावी धर्मों के आधार पर भी अनन्तधर्मात्मकता की सिद्धि होती है। ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, कर्तृत्त्व, भोक्तृत्व, आठ मध्यप्रदेशों की स्थिरता, अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशत्व तथा जीवत्व इत्यादि आत्मा के सहभावी धर्म हैं।[१३] जो धर्म द्रव्य के साथ रहते हैं, वे 'सहभावी धर्म' कहलाते हैं। इन्हीं सहभावी धर्मों को 'गुण' भी कहा जा सकता है। इस प्रकार एक आत्मा में इन अनेक सहभावी गुणों का अस्तित्व वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता को सिद्ध करता है।

मल्लिषेण के अनुसार इसी प्रकार से अन्य पदार्थों में तथा शब्दों में भी अनन्तधर्मात्मकता विद्यमान होती है। जिस प्रकार घट में कच्चापन, पक्कापन, जलधारण, जलाहरण इत्यादि अनन्तधर्म रहते हैं, उसी प्रकार समस्त पदार्थों में अनन्त धर्मात्मकता विद्यमान होती है।[१४] पदार्थों की तरह शब्दों में भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, संवृत, घोष, अघोष आदि तथा पदार्थों की अवबोधक शक्ति आदि अनन्त धर्म पाए जाते हैं।[१५] अतः तत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता का सिद्धान्त नितान्त तर्कसङ्गत है।

आचार्य मल्लिषेण के अनुसार जीवादि पदार्थों में अस्तित्व आदि धर्मों के विषय में विचारपूर्वक 'स्यात्' शब्द से युक्त सात प्रकार की वचनरचना को सप्तङ्गी कहते हैं।[१६] ये सात भङ्ग हैं –

१. स्यादस्ति – प्रत्येक वस्तु विधि धर्म से कथञ्चित् अस्तित्वरूप ही है।

२. स्यान्नास्ति – प्रत्येक वस्तु निषेध धर्म से कथञ्चित् नास्तित्वरूप ही है।

३. स्यादस्ति नास्ति च – प्रत्येक वस्तु क्रम से विधि-निषेध दोनों धर्मों से कथञ्चित् अस्तित्व और नास्तित्वरूप दोनों है।

४. स्यादवक्तव्य – प्रत्येक वस्तु एक साथ विधि-निषेध धर्मों से कथञ्चित् अवक्तव्य ही है।

५. स्यादस्ति अवक्तव्य – प्रत्येक वस्तु विधि तथा एक साथ विधि-निषेध रूप धर्मों से कथञ्चित् अस्तित्व और अवक्तव्यरूप ही है।

६. स्यान्नास्ति अवक्तव्य – प्रत्येक वस्तु निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध रूप धर्मों से कथञ्चित् नास्तित्व और अवक्तव्यरूप ही है।

७. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य – प्रत्येक वस्तु क्रम से विधि, निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मों से कथञ्चित् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यरूप ही है।

'स्यादस्त्येव' इस भङ्ग का तात्पर्य है कि घटादि समस्त वस्तुएँ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव रूप से अवस्थित हैं तथा परद्रव्य, परकाल, परक्षेत्र और परभाव की अपेक्षा नहीं हैं। इस प्रकार पदार्थों का अस्तित्व स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा ही है। ऐसा न मानने पर पदार्थों का स्वरूप असिद्ध हो जाएगा, क्योंकि जब तक वस्तु के एक स्वरूप की दूसरे स्वरूप से व्यावृत्ति न की जाए, तब तक वस्तु का स्वरूप सम्भव नहीं है।[१७] **'स्यादस्त्येव'** वाक्य में अवधारणार्थक 'एव' का प्रयोग अनिष्ट निराकरण हेतु किया जाता है, अन्यथा उक्त वाक्य अनुक्त हो जाएगा। इसी प्रकार 'स्यात्' का प्रयोग वस्तु के अपेक्षा भाव को स्पष्ट करने के लिए होता है।[१८]

'स्यान्नास्त्येव' का अर्थ है कि वस्तुएँ कथञ्चित् नास्ति रूप हैं। पदार्थ को स्वचतुष्टय की भाँति परचतुष्टय से भी अस्तिरूप मानने पर वस्तु असत् सिद्ध होगी, क्योंकि पदार्थ का कोई भी निश्चयात्मक स्वरूप उस समय उपलब्ध नहीं होगा। एकान्तवादियों का यह कथन कि 'वस्तु अस्तिरूप होती है, नास्तिरूप नहीं', उचित नहीं है, क्योंकि वस्तुओं में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों का सद्भाव दृष्टिगत होता है। जब हम अस्तिरूप की सिद्धि करते हैं तो पक्ष और सपक्ष में अस्तिरूप तथा विपक्ष में नास्तिरूप होने पर ही उसमें अस्तित्व एवं नास्तित्व धर्मों का युगपद् सहभाव प्राप्त होता है। अतः पदार्थों में कथञ्चित् नास्तित्व युक्ति से सिद्ध होता है। विद्यानन्दी का कथन है कि सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाए तो घट निःस्वरूप हो जाएगा।[१९]

इससे स्पष्ट है कि पदार्थों में **'अस्ति'** धर्म उसके **'नास्ति'** धर्म के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध है तथा इसी प्रकार नास्तित्व धर्म भी अस्तित्व धर्म के साथ सम्बद्ध है। वक्ता को जब अस्तित्व धर्म की विवक्षा होती है तब अस्तित्व धर्म प्रधान तथा नास्तित्व धर्म गौण हो जाता है, तथा जब नास्तित्व धर्म की विवक्षा होती है तब नास्तित्व प्रधान और अस्तित्व धर्म गौण हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्रकार का भी यही अभिमत है।[२०]

'स्यादस्ति नास्ति' – जब वक्ता को क्रम से स्वरूप की अपेक्षा अस्ति तथा पररूप की अपेक्षा से नास्ति की विवक्षा होती है, उस समय इस भङ्ग का प्रयोग किया जाता है। इसमें पहले विधि की और फिर निषेध की विवक्षा की जाती है।

'स्याद्वक्तव्य' भङ्ग का प्रयोग विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता के समय होता है। अस्तित्व-नास्तित्व का युगपद् वाचक कोई भी शब्द नहीं है, इसलिए विधि निषेध का युगपत्त्व अवक्तव्य है। किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि पदार्थ का यह अवक्तव्य सर्वथा सर्वतोभावेन नहीं है। पदार्थों को सर्वथा अवक्तव्य

मानने पर उस पदार्थ का कथन ही सम्भव नहीं होगा।[२१]

'स्यादस्ति अवक्तव्य' भङ्ग में पहले समय में विधि तथा दूसरे समय में युगपत् विधि-निषेध की विवक्षा की जाती है। इसमें अस्ति के द्वारा स्वरूप से सत्ता का कथन किया जाता है तथा अवक्तव्य अंश के द्वारा युगपत् विधि-निषेध का प्रतिपादन किया जाता है।[२२]

'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' में सर्वप्रथम निषेध तथा दूसरे समय में युगपद् विधि-निषेध की विवक्षा का कथन होता है।

'स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य' में क्रम से पहले समय में विधि, दूसरे समय में निषेध तथा तीसरे समय में युगपद् विधि-निषेध रूप अवक्तव्य की विवक्षा की जाती है।

आचार्य के अनुसार यद्यपि अनन्तधर्मात्मक होने से वस्तु के अनेक भङ्ग होते हैं, किन्तु विधि और निषेध के भेद से इनकी संख्या सात ही होती है। इसका कारण यह कि (i) पर्याय की अपेक्षा से विषय प्रतिपादन सम्बन्धी सात प्रकार के प्रश्न ही किए जा सकते हैं, (ii) प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा सात प्रकार की ही जिज्ञासाएँ होती हैं, (iii) सन्देह भी सात प्रकार के हो सकते हैं, (iv) प्रत्येक वस्तु में सात ही धर्मों का होना सम्भव है, अतः भङ्ग सात प्रकार के ही होते हैं।[२३]

मल्लिषेण के अनुसार अस्तित्व और नास्तित्व धर्म के आधार पर सामान्य धर्म और विशेष धर्म की अपेक्षा से भी एक सप्तभङ्गी सम्भव है। इसका स्वरूप होगा[२४] –

१. स्यात् सामान्य　　२. स्यात् विशेष

३. स्यात् उभय　　४. स्यात् अवक्तव्य

५. स्यात् सामान्य अवक्तव्य　　६. स्यात् विशेष अवक्तव्य

७. स्यात् सामान्य विशेष अवक्तव्य।

सामान्य की प्रधानता होने पर विशेष के विविधरूप होने से सामान्य निषेधरूप होगा। इसी प्रकार सर्वत्र सप्तभङ्गीनय की योजना सम्भव है।

आचार्य मल्लिषेण के अनुसार अनेकान्तवाद में सर्वनयों का समावेश हो जाता है जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरो देने से मातियों की सुन्दर माला बन कर तैयार हो जाती है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वाद रूपी सूत्र में पिरो देने से सम्पूर्ण नय 'श्रुत प्रमाण' कहे जाते हैं।[२५] इस पर शंका हो सकती है कि यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्ध हैं तो उनका समन्वय विरोध रहित कैसे हो सकता है। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार परस्पर विवाद करते हुये वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायी के द्वारा न्याय किये जाने पर विवाद करना बन्द करके आपस में मिल जाते हैं उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ जिन शासन की शरण लेकर स्यात् शब्द से विरोध शान्त हो जाने पर परस्पर सुहृद् भाव से एकत्र रहने लगते हैं। अतएव भगवान् के शासन के सर्वनय स्वरूप होने से भगवान् का शासन सम्पूर्ण दर्शनों से अविरुद्ध है, क्योंकि प्रत्येक दर्शन नय स्वरूप है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का कथन है कि – "जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृष्टियों का अनेकान्तवाद में समावेश हो जाता है।[२६]

इस प्रकार जैन दर्शन सब दर्शनों का समन्वय करने वाला है। जितने वचनों के प्रकार होते हैं उतने ही

नयवाद होते हैं। अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयवाद में गर्भित हो जाते हैं। सम्पूर्ण दर्शन नय की अपेक्षा सत्य है। उदाहरण के लिए ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा बौद्ध, संग्रहनय की अपेक्षा वेदान्त, नैगमनय की अपेक्षा न्यायवैशेषिक,[२७] शब्दनय की अपेक्षा शब्दब्रह्मवादी तथा व्यवहारनय की अपेक्षा चार्वाक दर्शनों को सत्य कहा जा सकता है।[२८] ये नयरूप समस्त दर्शन परस्पर विरुद्ध होकर भी समुदित होकर सम्यकत्व रूप कहे जाते हैं। जिस समय ये नयवाद एक दूसरे से निरपेक्ष होकर वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये नयवाद अर्थात् जैनेतर दर्शन कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ – नित्यत्ववादी सांख्य और अनित्यत्ववादी बौद्ध–जैन दर्शन इन दोनों का समन्वय करता है। इसलिये जैन विद्वानों ने कहा है कि अनेकान्तवाद का मुख्य ध्येय सम्पूर्ण दर्शनों को समान भाव से देखकर मध्यस्थभाव प्राप्त करने का है। जिस प्रकार पिता अपने सम्पूर्ण पुत्रों पर समभाव रखता है उसी प्रकार अनेकान्तवाद सम्पूर्ण नयों को समान भाव से देखता है। इसलिये जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियाँ एक समुद्र में जाकर मिलती है उसी प्रकार सम्पूर्ण दर्शनों का अनेकान्त दर्शन में समन्वय हो जाता है। अतएव जैन दर्शन सब दर्शनों का समन्वय करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. 'अनन्तधर्मकं वस्तु। अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्।' अन्ययोगव्यवच्छेदिका, पृ. २२

२. 'उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं सत्।' तत्त्वार्थसूत्र, ५.२९

३. 'वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु–धर्माधर्माकाश–पुद्गलकालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्।' स्याद्वादमञ्जरी, कारिका २३ वृत्ति।

४. प्रमाणमीमांसा, पृ. ५५

५. तत्त्वार्थसूत्र ५–३०

६. 'उत्पादे विनाशे च तत्साधारणम्, अन्वयद्रव्यत्वात्---इत्थमेव हि तयोः एकाधिकरणतया पर्यायाणां, कथञ्चित् अनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात्।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. १९७

७. 'सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः सत्योपश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. १९८

८. 'पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूपद्यते विपद्यते च अस्खलितपर्यायनुभवसद्भावात्।' वही।

९. 'न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षोदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलदरूपः, कस्यचिद् बाधकस्याभावात्।' वही।

१०. 'उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात् रूपादिवदिति।' वही, पृ. १९९

११. 'तत्त्वं त्वनेकान्तशेषरूपम् युक्त्यनुशासनम्।' वही, का. ६४

१२. 'यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत् सदपि न भवति, यथा वियदिन्दीवरम् इति केवलव्यतिरेकी हेतुः।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. २०९

१३. 'कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता अमूर्तत्वम् असंख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः। अनन्तधर्मात्मकत्वं च आत्मनि तावद् साकारानाकारोपयोगिता।' वही।

१४. 'घटे पुनरामत्वम् पाकजरूपादिमत्त्वम---एवं सर्वेष्वपि पदार्थेषु नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थाश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम्।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. २०२

१५. 'शब्देष्वपि उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषता .....चावसेयाः। स्याद्वादमञ्जरी, पृ २०३

१६. 'एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया फ्रत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. २०९

१७. 'तत्र स्यात्कथञ्चित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्व कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण-- अन्यथेतररूपापत्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. २१०

१८. वही, पृ. २११

१९. 'पररूपापोहनवत् स्वरूपापोहने तु निरूपाख्यत्वप्रसङ्गात्।' तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.६.५२

२०. 'अर्पितानर्पितसिद्धेः।' तत्त्वार्थसूत्र, ५.३२

२१. 'द्वाभ्यामास्तित्वनास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयार्पिताभ्याम् एकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्याऽसम्भवाद् अवक्तव्यं जीवादिवस्तु।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. २१२

२२. 'सकलवाचकरहितत्वाद् अवक्तव्यं वस्तु युगप्तव्सत्त्वाऽत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते। न च सर्वथाऽवक्तव्यम्, अव्यक्तशब्देनाप्यमभिधेयत्वप्रसङ्गात्।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. २१२

२३. 'प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात् तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तिरिति।' वही, पृ. २१३

२४. वही।

२५. 'सर्वनयात्मकत्वादनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनाम् श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेश इति।' स्यादवाद्मञ्जरी, पृ. २६३

२६. 'उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।' द्वात्रिंशदद्वाविंशिका, ४.१५

२७. 'नैगमनयानुगमिनस्त्वाहुः। स्वतन्त्रै सामान्यविशेषौ।' स्याद्वादमञ्जरी, पृ. १२३

२८. स्याद्वादमञ्जरी, भूमिका, पृ. ३१

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

मालविकाग्निमित्रमितिदृश्यकाव्ये वैदिकदेवबोधः

पपन चन्द*

दैवाधीनं जगत्सर्वमिति मान्यतानुसारेण इहलोके परलोके च यद् किमपि वर्तते तद् सर्वमपि दैवाधीनं भवति। देवानां प्रकाशेनैव सर्वं प्रकाशितं भवति। यथा उच्यते तदेव भाषा सर्वं विभाति। अस्मिन् भारतवर्षे ये खलु प्राणिनः सन्ति ते सर्वेऽपि ईश्वरीयतत्त्वं स्वीकुर्वन्ति। प्रत्यक्षरूपेण परोक्षरूपेण च देवतत्त्वेन एते जीवाः सम्बद्धाः सन्ति, तत्र नास्ति संशयः। वेदारभ्य अद्यावधि पर्यन्तं यानि शास्त्राणि अस्माकं समक्षं विद्यमानानि वर्तन्ते तेषु शास्त्रेषु दैवीयतत्त्वानि सर्वत्र परिलक्ष्यन्ते। अस्माकं भारतीयकवयः अध्यात्मप्रवणाः आसन्। अतः स्व-स्व-काव्ये दैवीयतत्त्वानां समुल्लेखः प्रसङ्गानुसारेण यत्र तत्र कृतवन्तः। अस्मिन्नेव क्रमे महाकविकालिदासः स्वकीयदृश्यकाव्ये मालविकाग्निमित्रमिति ग्रन्थे दैवीयतत्त्वानां विचारः कृतः। अत्र अनुसन्धेयः वैदिकदैवीयतत्त्वविमर्शः। प्रसङ्गानुसारेण कालिदासेन दैवीयतत्त्वस्य य पक्षः अत्र उपस्थापितः तस्यैव समीक्षा अत्र क्रियते।

अस्मिन् दृश्यकाव्ये प्राण-अग्नि-इन्द्र-रुद्र-सूर्य-लक्ष्मी-सरस्वती प्रभृतयः देवताः समुल्लिखिताः वर्तन्ते। तत्र -

प्राणदेवता-प्राणशब्दस्य व्युत्पत्तिः एवं क्रियते। प्र +'णीञ्' प्रापणे। अर्थात् प्र पूर्वक णीञ् धातोः प्रापणार्थे प्राणः शब्दः निष्पन्नो भवति। वैदिकसाहित्ये प्राणविषये वहुत्र उल्लेखः विद्यते। यथा अथर्ववेदस्य एकादशकाण्डे प्राणदेवता विषये उच्यते -

प्राणस्य नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्।।[१]

अत्र मालविकाग्निमित्रेऽपि प्राणदेवतायाः उल्लेखः दृश्यते -

भावज्ञानान्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याख्याने दत्तयुक्तोत्तरेण।
वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः।।[२]

अस्माकमिदं यद् शरीरं वर्तते अस्य शरीरस्य सञ्चालनं प्राणेनैव भवति। शरीरे पञ्चप्राणवायवः सर्वदा सञ्चरन्ति। ते भवन्ति प्राण-अपान-व्यान-समान-उदान एतैः मानवजीवनं सुरक्षितं भवति। प्रत्येकेषु जीवधारीषु एते प्राणवायवः सहजरूपेण सञ्चरन्ति। यदि प्राणाः न भवेयुः तर्हि जीवनमेव न भवेद्। अस्मिन् जगते प्राणदेवतायां महनीयत्वं सर्वैः स्वीक्रियते।

अग्नि-अग्र + 'णीञ्'-प्रापणे, 'अगि' गतौ। अर्थात् गत्यर्थे अगिधातुना अग्निः शब्दः निष्पन्नः। सर्वेषु देवेषु प्रधानभूतः देवः अग्निः वर्तते। सर्वेषां देवानां अयं अग्निः महानतमुपकारं करोति। तथैव पृथिव्यां स्थितानां जीवानामपि कल्याणं करोति। अनेनैव अग्निना चतुर्विधं अन्नं पच्यते। सर्वेषु गृहेषु अग्निः तिष्ठति

* शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, सिधो-कानहो-वीरसा-विश्वविद्यालयः पुरुलिया, पश्चिमबङ्गः

एव पुनश्च अस्माकं शरीरेऽपि अस्य अग्नेः वासः भवति। यद् भोजनं अस्माभिः गृह्यते तस्य पाचनक्रिया एव भवति। अतः शरीरे जठराग्नि भवति। अयं जठराग्नि अस्मान् सर्वदा रक्षति। भक्षितं चतुर्विधमन्नं पाचयति। शिक्षाग्रहणविषयेऽपि अग्नेः चर्चा विद्यते। सर्वविधशुद्धिः अग्निना एव भवति। यथा कालिदासेन गणदासमुखात् उच्यते –

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न यस्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु।।[३]

इन्द्र–ऋग्वेदे इन्द्रदेवतायाः सर्वाधिका स्तुतिः क्रियते। आचार्य यास्केन निरुक्ते इन्द्रशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते यथा –

इरां दृणाति। इरां ददाति। इरां दधाति । इरां दारयते। इरां धारयते।[४]

इन्द्रदेवस्य पराक्रमेण संसारं कम्पितं भवति। अस्मिन् संसारे इन्द्रदेवः जलवृष्टिपेण बीजं प्रस्फुटयति। ऋग्वेदे इन्द्रदेवेन सह सोमस्य घनिष्ठसम्बन्धकारणात् **सोम–पा** विशेषणेन प्रख्यापितः।[५] इन्द्रदेवोऽयं सर्वान् मनुष्यान् उपासकाञ्च समृद्धयति। यथा –

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्मद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्नस्य मह्या स जनासः इन्द्रः।।[६]

अस्य दृश्यकाव्यस्य प्रथमाङ्के महाकविकालिदासेन आचार्यगणदास–वकुलाबालिकयोर्मध्ये कथपोकथनमाध्यमेन प्रसङ्गानुसारेण इन्द्रादिदेवानां माहात्म्यमुपस्थापितः।

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्।[७]

अस्य प्रकरणस्य पञ्चमाङ्के अपां शब्दस्य प्रयोगेन इन्द्रदेवस्य आभासं संसूचयन्ति। यथा –

नतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरूजन्मा।।[८]

रुद्र–'रुदिर – अश्रुविमोचने।

तैत्तिरीयसंहितायां रुद्रशब्दस्य व्युत्पत्तिः एवं क्रियते। यथा – **यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्त्वम्।**[९]

अन्यच्च – दुःखं द्रावयति इति रुद्रः।

रुद्रदेवः मानवानां मङ्गलप्रदानकारणात् मृणायकु विशेषणेन प्रसिद्धोऽभवत।[१०] अयं रुद्रदेवः मानवानां रोगं प्रशमनाय सम्पूर्णसंसारस्य कल्याणं करोति तदस्मात् कारणात् अयं देवः जलाष–भेषजरूपेण समुल्लिखितः। अथर्ववेदे परमशक्तिशालीरूपेण रुद्रदेवस्य स्तुतिं परिलक्ष्यते –

य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु अग्नये।[११]

महाकविकालिदासः मालविकाग्निमित्रमिति दृश्यकाव्ये रुद्रदेवं महादेवरूपेण प्रतिस्थापितः। नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतमुनिः कथयति इदं नाट्यं देवतानां नेत्रदर्शनीयः यज्ञोऽस्ति। महादेवशङ्कर उमया सह विवाहं कृत्वा अर्धनारीश्वरस्वरूपे लास्यताण्डवरूपेण विभक्तः। तदनन्तरं लास्यताण्डवरूपेण नाट्यस्य अङ्गद्वयं विवेचितम्। अतः भिन्नरुचीनां लोकानां मनोविनोदः अनया नाट्यकलया भवति।

रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य वहुधाप्येकं समाराधकम्।।[१२]

अस्य प्रकरणस्य नान्दीश्लोके महाकविकालिदासः महादेवस्य स्तुतिं करोति। अस्य संसारस्य प्रभुः भगवान् शङ्करः पापमार्गानुसारिणीं युस्माकं बुद्धिं नाशयतु येन सतां मार्गाणामवलोकनं पूर्णरूपेण भवेत्।

अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्विभ्रतो नाभिमानः।
सन्मार्गलोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः।।[१३]

सूर्य

सु + 'ईर' - गतौ कम्पने च।

सूर्यदेवः स्थावर-जङ्गमयोः संसारस्य आत्मा एव भवति। ऋग्वेदेऽपि उच्यते -

सप्तत्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।[१४]

अस्यां पृथिव्यां मनुष्याणां कर्मणां शक्तिरूपेण सूर्यदेवः उपकारः कृतः। अस्मिन् दृश्यकाव्ये महाकविकालिदासः सूर्य-भानु प्रभृतिभिः नाना विशेषणेन प्रसङ्गानुसारेण अस्य देवस्य वर्णनं कृतम्। आचार्यगणदास-हरदत्तयोर्मध्ये शिक्षाविषयकविचारप्रसङ्गे सूर्यस्य असीमतेजोस्वरूपं दृश्यते। अग्नेः भास्वरस्वरूपं सूर्यस्य कृपावशेन भवति। अस्य सूर्यस्य महिम्ना संसारमालोकितं भवति।

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः।
अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः।।[१५]

अस्य प्रकरणस्य चतुर्थाङ्केऽपि सूर्यशब्दस्य उल्लेखः परिदृश्यते - **मालविका वकुलावलिका च पातालवासं निगलपद्यावदृष्टसूर्यपादं नागकन्यके इवानुभवतः।**[१६]

लक्ष्मी- **'लाछि' लक्षणे।**

'लाछि' धातुना लक्षणार्थे लक्ष्मीशब्दस्य निष्पत्तिः। वैदिकसाहित्ये देवीरूपेण लक्ष्म्या उल्लेखः न दृश्यते। वाजसनेयीसंहितायां लक्ष्मी आदित्यस्य पत्नीरूपेण परिकल्पिता।

श्री३ श्चतेलक्ष्मी३ श्चपत्न्यावहोरात्रे पार्श्वेनक्षत्राणिरूपमश्विनौव्यात्तम्।[१७]

ऋग्वेदे लक्ष्मीशब्दस्य प्रयोगः केवलं एकस्मिन् स्थाने दृश्यते। यत्र अस्याः अर्थः वाकसौष्ठवः यद्वा भाग्यः। **भद्रा एषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।**[१८]

अपि च श्रीसूक्तेऽपि लक्ष्मीशब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। यथा उच्यते -

चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह।[१९]

महाकवेः कालिदासस्य दृश्यकाव्ये लक्ष्मीशब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। पौराणिकदेवीरूपेण लक्ष्मी विष्णोः पत्नीरूपेण उल्लिखिता।

पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्।[२०]
श्रियः पद्मनिषन्नायाः क्षौमान्तरितमेखले।[२१]

मालविकाग्निमित्रमिति दृश्यकाव्येऽपि लक्ष्मीशब्दस्य प्रयोगः सुन्दरार्थे प्रयुक्तः। अस्य दृश्यकाव्यस्य पञ्चमाङ्के नायिकाधारिणी राज्ञा अग्निमित्रेण सह अशोकवृक्षस्य पुष्पशोभां दर्शयितुं अभिलाषां प्रकाशयति। लक्ष्मीशब्दस्य प्रयोगेन अशोकवृक्षस्य पुष्पशोभा प्रतीयते।

इच्छाम्यार्यपुत्रेण सहाशोकवृक्षस्य प्रसूनलक्ष्मीं प्रत्यक्षीकर्तुमिति।[२२]

वैदिकयुगे वन्दितानां देवतानामुल्लेखः लौकिकसाहित्येऽपि कवेः रचनायामुपलभ्यते। महाकवेः कालिदासस्य रचनानामनुशीलनं कृत्वा दृश्यते यद् वैदिकदेवान् प्रति तस्य श्रद्धाभावः परिलक्ष्यते। विश्वामित्र-मारीच-कण्व-उरूजन्मा प्रभृतयः मुनयः यज्ञेन देवानां पूजनेन समाजस्य कल्याणं संसाधयन्ति। वेदे न केवलं देवानां स्तुतिरस्ति अपितु देवीनामपि स्तुतिः विद्यते। यथा वाक्देवी-अदिति प्रभृतिनां शक्तिरूपेण उपासना क्रियते। अस्मिन् मालविकाग्निमित्रमिति दृश्यकाव्येऽपि नारीशक्तिनां माहात्म्यं प्रतिस्थापयति महाकविकालिदासः।

अन्त्यटीका

१. अथर्ववेद ११.४.१
२. मालविकाग्निमित्रम् ३.१४
३. तत्रैव २.९
४. निरुक्त १०.१.८
५. ऋग्वेद २.१२.१३
६. तत्रैव २.१२.१
७. मालविकाग्निमित्रम् १.४
८. तत्रैव ५.१७
९. तैत्तिरीयसंहिता १.५.१.१
१०. ऋग्वेद २.३३.७
११. अथर्ववेद ७.८७.१
१२. मालविकाग्निमित्रम् १.४
१३. तत्रैव १.१
१४. ऋग्वेद १.५०.८
१५. मालविकाग्निमित्रम् १.१३
१६. तत्रैव, चतुर्थ अङ्क।
१७. वाजसनेयीसंहिता ३१.२२
१८. ऋग्वेद १०.७१.२
१९. श्रीसूक्त २.२२
२०. रघुवंश ४.५
२१. तत्रैव १०.८
२२. मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम अङ्क।

शोधसहायक-ग्रन्थसूची (Bibligraphy)

- *Mālavikāgnimitram*, Ed. With Sans. & Hindi by Dr. Ramashankar Pandey, Varanasi: Chaukhamba SurbharatiPrakashan, 2012.
- *Kālidās-Granthāvalī*, Ed. With Sans. By Dr.Bramhananda Tripathi, Varanasi: Chaukhamba Surbharati Prakashan, 2014.
- Belvalkar, S. R.(Ed.). The *Abhijnasakuntalam*. New Delhi: Kalidas Sahitya Academy, 1965. English.
- Tripathi, Gaya Charan.*Vaidika Devatā: Udbhava aura Vikāsa*. New Dehli: Rastriya Sanskrit Sangsthan, 2011 (2nd ed.).
- Deshmukh, P. S., *Origin and Development of Religion in Vedic Literature*. Oxford, 1933.

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 4.214, Vol. XV, July - Dec. - 2020

जनसंचार माध्यमों की मानवाधिकार जागरूकता में भूमिका

डॉ. अनुराधा शुक्ला*

भूमिका–आज सम्पूर्ण दुनिया के समक्ष मानव अधिकार एक जटिल समस्या के रूप में विद्यमान है मनुष्य अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए दुनिया भर में प्रयत्नशील है वह मामला चाहे पाकिस्तान की स्वाती घाटी में तालिबान के आंतक का हो अथवा भारत की संसद कालू चौक पर हुए आंतकी हमले का। मानवाधिकार की चीत्कार समाचार पत्रों के काँलम से टेलीविजन और रेडियो पर अक्सर देखी और सुनी जाती है । वर्तमान में मानव समस्याओं का निवारण मानवाधिकारों के माध्यम से किया जा रहा है जिसमें एक उपक्रम मानवाधिकार मीडिया भी है , जो कि मानवाधिकारों को दिलाने में सशक्त साधन है ।

शोध उद्देश्य (Research Aim)

१. समाज को मानवाधिकारों के प्रति जागरूक करना ।

२. मानवाधिकार जागरूकता में मीड़िका की भूमिका ।

जनसंचार माध्यमों एवं मानवाधिकार का परस्पर तारतम्य–किस प्रकार जनसंचार माध्यमों का मानवाधिकार से तारतम्यता है क्या पूर्व से सभी को विदित रहा है? प्रथम १२१५ का मैग्नाकार्टा, सन् १६७९ का बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम, सन् १९८९ का बिल ऑफ राइट्स, सन् १७७६ में अमेरिका का स्वतन्त्रता का घोषणा पत्र, सन् १७८९ में मानवाधिकार सम्बन्धी फ्रांस की घोषणा पत्र तथा सन् १९४८ में संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार की घोषणा। उपर्युक्त सभी तथ्यों के अधिकारों को पाने एवं उन्हें उस कार्य को करने की जोरदार पहल एक मात्र मीडिया एवं जनसंचार के माध्यमों द्वारा हुई है। मीडिया एक तरफ मानवीय सरोकारों के संरक्षण का माध्यम बनता है, वहीं वह मानवाधिकारों के प्रति जनचेतना रखने की ताकत भी रखता है। प्रसिद्ध विद्वान् नन्दकिशोर आचार्य ने मानवाधिकार के विषय में लिखा है – ***''यदि हम अधिकारों को हासिल करने में जनसंचार को ढ़ाल बनाते हैं, तो वह अधिकार आसानी से प्राप्त किये जा सकते हैं। जनसंचार समाज का दर्पण होता है। वह अतीत को दिखलाकर वर्तमान को सचेत करने करते हुए भविष्य की ओर संकेत करता है।''***

जनसंचार माध्यमों द्वारा मानवाधिकार जागरूकता–पत्रकारिता मीडिया का प्रभाव समाज पर लगातार बढ़ रहा है। वह किसी न किसी प्रकार से हमें यह विश्वास दिला रहा है कि हमारे अधिकारों दिलाने में हमारी सहायता करेगा। उदाहरणार्थ ११ अक्टूबर १९८० में बिहार की भागलपुर जेल में १० कैदियों पर जबरन तेजाब डालकर उनकी आँखे निकाल दी गई। इस घटना को पुलिस द्वारा छोटी घटना घोषित कर दिया गया। किन्तु जब बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री ने यह मामला जनसंचार को सौंपा तो दूध का दूध

* पूर्व-शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

और पानी का पानी हो गया एवं उसी १० पुलिसकर्मियों को कैद में ले लिया गया। कहने का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि यदि हम अपने अधिकारों को पाने में जनसंचार की सहायता लेना चाहिए एवं जनसंचार जनता के सम्मुख या फिर निर्णायकों के सम्मुख हमारे दुर्बल पक्ष को सबललता से प्रस्तुत करें तो यह आवश्यक कार्य बन जाता है, एवं लागू भी हो जाता है।

पी. के. भौसले के शब्दों में "मानवाधिकारों को जाग्रत करने के पक्ष में मीडिया का महत्त्वपूर्ण सरोकार होता है। वह एक घटना विशेष के माध्यम से सभी को यह सन्देश देता है कि हमें किस प्रकार उस लड़ाई को लड़ने के लिए तत्पर रहता है।"

मानवाधिकार जागरूकता में जनसंचार के प्रमुख कार्य

१. सूचना देना
२. शिक्षित करना
३. मनोरंजन करना
४. निगरानी रखना
५. विचार विमर्श के लिए मंच स्थापित करना

जनसंचार का मानवाधिकार जागरूकता की दिशा में किये जाने वाले कार्य वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जनसंचार तथा मानवाधिकार का गहरा सम्बन्ध है। इसी कारण जनसंचार सदैव मानव को जागरूकता का पाठ पढ़ाता आया है। यहाँ पारस्परिक जागरूकता का अर्थ मैत्री से कदापि नहीं है। समानता-असमानता हित-अहित, भला-बुरा, सहयोग-असहयोग और संघर्ष आदि सभी इस जनसंचार जागरूकता के अभिन्न अङ्ग हैं।

यदि हम मानव अधिकार (मानव अपनी मूलभूत आवश्यकतों की पूर्ति हेतु जिन साधनों आवश्यकता पूर्ण साधनों का अधिकार माँगता है वहीं मानवाधिकार है) में जागरूकता माने तो निम्नलिखित स्थानों पर जनसंचार की भूमिका देख सकते हैं।

लोकतन्त्रात्मक दिशा में जागरूकता-अपने अधिकारों को प्राप्त करने हेतु जिस प्रकार के आन्दोलनों का प्रयोग भ्रष्टाचार मुक्त भारत हो, कालाधन घूसखोरी इत्यादि सभी विषय को एक जबरदस्त पहुँच तक जनसंचार ने ही पहुँचाया। जन आन्दोलन की आग में यह घृत का कार्य करती है, जिससे कि लोगों में अधिकार को पाने की दस गुना लालसा उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि मीडिया उस कार्य की सफलता से होने वाले लाभों का जब प्रभावी ढ़ग से प्रसारण करता है तो जन सामान्य में उस कार्य को करने अधिक लालसा उत्पन्न हो जाती है। जैसे- अन्ना हजारे भी अनेक आन्दोलन किये जिसमें जनसंचार माध्यम अत्यन्त सशक्त साधन के रूप में साबित हुए।

दिव्यांगो में जागरूकता-हमारे जिन दिव्यांग भाइयों को जिस प्रकार जनसंचार ने एक नवीन दिशा दिखलायी है। वह वास्तम में प्रशंसनीय है। जब अजमेर में दृष्टिबाधित छात्रों के मौलिक अधिकारों का हनन किया गया तो मात्र एक मीडिया ने ही समाचार पत्र, वीडियो, इण्टरनेट इत्यादि के माध्यम से उनका प्रोत्साहन किया। जिससे उनके १० घंटे बल में रहने का आन्दोलन सफल हो गया।

छात्रों के मानवाधिकार में जागरूकता-यह घटना शकुन्तला विश्वविद्यालय (उत्तर प्रदेश) की है। वहाँ पर कुलपति द्वारा छात्रों के साथ भेदभाव किया गया जा रहा था। इस विषय पर किसी की आवाज नहीं निकली, किन्तु जब यह घटना अमर उजाला एवं डी. डी. न्यूज पर जनसंचार के माध्यम से प्रसारित की गई

तो एक बहुत बड़ा आन्दोलन साबित हुआ। फलस्वरूप कुलपति सहित तीन अध्यापकों को बर्खास्त कर दिया। इस कार्य के लिए दोनों संचार माध्यमों को प्रधानमन्त्री द्वारा पुरस्कृत किया गया।

दलितों के मानवाधिकार प्रति जनसंचार द्वारा जागरूकता–यह वर्तमान में एक ज्वलन्त विषय है, किस प्रकार दलितों को मानवाधिकार से वंचित रखा जाता है। उत्तराखण्ड के टिहरी जिले के कृषकों के प्रति जिस प्रकार की उदासनीनता तत्कालीन मुख्यमंत्री रमेश चन्द्र पोखरियाल जी द्वारा दिखा गयी। जिस पर मीडिया के कार्यकर्त्ता ने गाँव–गाँव में जन–जन को समझाया तथा बड़ी समस्या के रूप में प्रस्तुत किया। उपर्युक्त विषय से ज्ञात होता है कि जनसंचार मानवाधिकारों के प्रति सदैव तत्पर है।

दहेज प्रथा–यह एक जटिल समस्या बनी हुई है। दहेज प्रथा को रोकने में भी जनसंचार का विशिष्ट योगदान है। यदि किसी बालिका पर आज के समय दहेज से सम्बन्धित किसी प्रकार का अत्याचार होता है तो जैसे तेजाब फेंकना, पीटना, मिट्टी का तेल डालकर आग लगाना इत्यादि। अतः दहेज जैसी समस्याओं के निवारण के लिए जनसंचार एक सशक्त माध्यम है।

कुरीतियाँ–पशु हत्या, महिलाओं को दण्डित करना, देवताओं के नाम पर मूक बलि प्रथा इन सभी कुरीतियों पर भी जनसंचार ने प्रहार किया है। जनसंचार ने उत्तराखण्ड, मणिपुर, राजस्थान, बंगाल सभी जगह कुरीतियों को बन्द करने में जागरूकता दिखाई एवं सफल भी हुए।

भ्रष्टाचार मिटाना–जनसंचार द्वारा भ्रष्टाचार मिटाया जा सकता है और मिटाया भी जा रहा है। भ्रष्टाचार के विषय में जनसंचार के द्वारा कविता–कहानी अनेक विधाओं के प्रयोग द्वारा भ्रष्टाचार से मुक्त किया जा सकता है।

वर्तमान परिस्थिति को हम देख सकते हैं कि किस प्रकार नेता लोग भ्रष्टाचार कर रहे हैं। जिससे गरीब लोगों का शोषण हो रहा है। उदाहरण के रूप में चारा घोटला उपुर्यक्त कथन पर कह सकते हैं कि किसानों के पशुओं का चारा निपटाना और जनसंचार द्वारा नेताओं की सच्चा बताना तथा जनता को जागरूक करना।

अशिक्षा–'शिक्षा विहीन राष्ट्र अधिक वृद्धि नहीं कर सकता (महात्मा गाँधी)। शिक्षा पाने का अधिकार सभी को समान रूप से है। चाहे वह बेटी हो या बेटा। आज समाज में शिक्षा हेतु अनेक प्रकार के प्रकल्पों को जोड़ा गया है –

१. बेटी पढ़ाओ, बेटी बचाओ।

२. बाल मजदूरी को रोकना।

इत्यादि सभी पक्षों पर जनसंचार ने प्रकाश की नई किरण प्रदान कर जागरूक किया जा रहा है। बेरोजगारी, निर्धनता आदि कई पक्षों पर मानवाधिकार मीडिया मानवाधिकार जागरूकता मे विशेष योगदान प्रदान कर रहा है।

जागरूकता हेतु जनसंचार के अन्य पक्ष

- नवीव सूचना उपलब्ध कराना।
- समाज को उचित दिशा प्रदान करना।
- कृषि जगत की उपलब्धि बताना।
- सर्व धर्म सम्भाव की भावना विकसित करना।

- वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना विकसित करना।

निष्कर्ष–उपर्युक्त सभी तथ्यों से यह ज्ञात होता कि २१वीं शताब्दी ने मानव को नवीन दिशा प्रदान की है। मानव को उसके अधिकारों की प्राप्ति करवाने में जनसंचार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका सर्वत्र दिखाई दे रही है। जनसंचार माध्यम मानव अधिकार जागरूकता एवं अधिकारों के प्रति सचेत करता है। अधिकारों के प्रति जागरूकता के सन्दर्भ में रामधारी सिंह 'दिनकर' की कुछ पक्तियाँ याद आती है –

अपने अधिकारों को खोना यह बड़ा दुष्कर्म है ।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है ।।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- मिश्र, सुधीर कुमार, मिश्र, अपर्णा लैंगिक मुद्दे एवं मानवाधिकार शिक्षा, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, २५०००१
- नेमा, डॉ. जी. पी., शर्मा, डॉ. के के, मानवाधिकार सिद्धान्त और व्यवहार, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।
- मौर्या, डॉ. गीता, मानवाधिकार, अनुभव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद, २११००६
- http//: Google /eduction.com

शोध नवनीत शोध पत्रिका के सामान्य नियम

- शोध-नवनीत शोध पत्रिका के सम्पादक, समीक्षक आदि समस्त पद अवैतनिक हैं।
- शोध-नवनीत शोध पत्रिका देश-विदेश के विद्यार्थियों, शोधच्छात्रों, शिक्षाविदों तथा विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों के शोध प्रक्रिया आधारित गुणवत्तापरक, ज्ञानपूर्ण एवं स्तरीय शोधपत्रों/शोधलेखों को नि:शुल्क प्रकाशन के लिए आमंत्रित करता है।
- सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति द्वारा चयनित शोधपत्रों/शोधलेखों को ही प्रकाशित किया जायेगा; किन्तु इसकी सामग्री के प्रति जवाबदेही इसके लेखकों की होगी। शोधपत्र/शोधलेख मौलिक या पाण्डुलिपि से सम्बन्धित होना चाहिए। लेखकों के मत से सम्पादक मण्डल की सहमति अनिवार्य नहीं है, किन्तु किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के विरुद्ध लेखों के प्रकाशन के लिए न विचार किया जायेगा और न ही प्रकाशित किया जायेगा।
- सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक आदि के द्वारा अस्वीकृत शोधपत्रों/शोधलेखों को उनके लेखकों को वापस नहीं किया जायेगा। इसलिए लेखक अपने पास इसकी एक प्रति सुरक्षित रखें। शोधपत्रों/शोधलेखों की सामग्री अनुचित या विवादित होने की स्थिति में सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा। सम्पादक/सम्पादक मण्डल आदि द्वारा शोधपत्रों/शोधलेखों के पाण्डुलिपि आदि में कुछ परिवर्तन करके प्रकाशित किया जा सकता है।
- शोध-नवनीत में प्रकाशित शोधपत्रों/शोधलेखों को देश-विदेश के विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, शोध-संस्थान आदि के द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत किये जाने पर प्रकाशक, सम्पादक, सम्पादक मण्डल, मुद्रक आदि की कोई जिम्मेदारी नहीं होगी।
- अगला अंक प्रकाशित होने के बाद पहले के अंकों की सामग्री का दुरुपयोग न हो इसलिए नष्ट कर दिया जायेगा। सी.डी./ई-मेल से प्राप्त लेखों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जायेगा।
- शोध-नवनीत से सम्बन्धित विवाद के किसी भी निर्णय के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद ही मान्य होगा।
- लेखक शोध प्रक्रिया आधारित शोधपत्रों/शोधलेखों को 5 से 7 पृष्ठों (2000-3000 शब्दों) में Priyanka roman (APS), Kruti Dev-10 (size 16)/Times New roman (Size-14) में संस्कृत/अंग्रेजी/हिन्दी भाषा में टंकित कराकर सी.डी. (हार्ड कॉपी सहित)/ई-मेल के माध्यम से नाम, पता, मोबाइल नं. ई-मेल सहित भेजें।
- **शोधपत्र में लगभग 150 शब्दों के शोधसार एवं मुख्य शब्द सहित सन्दर्भ अन्त में होना चाहिए।**
- शोधपत्र में सन्दर्भ, लेखक, पुस्तक, व्याख्याकार का नाम, प्रकाशक, प्रकाशन का स्थान, प्रकाशन वर्ष और पेज संख्या आदि सहित होना चाहिए।

सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920

ई-संङ्केत : **shodhnavneet@gmail.com**

ISSN 2321-6581

अक्षर संयोजन एवं मुद्रक : **प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स**, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद